रचना समय

जनवरी-फरवरी 2016



कहानी विशेषांक
भाग-1

कहानी विशेषांक

(दो भागों में)

भाग–1

सम्पादक
हरि भटनागर
बृजनारायण शर्मा
अनिल जनविजय

•

सहयोग
रवि रतलामी
ए. असफल
रोली जैन

•

विशेष सहयोग
पंकज सुबीर

•

इस अंक का संपादन
राकेश बिहारी

आवरण
इल्या रेपिन

मूल्य : 60 रु.

•

ग्राहकीय एवं सम्पादकीय पता :
रचना समय
हरि भटनागर / बृजनारायण शर्मा
197, सेक्टर-बी सर्वधर्म कालोनी, कोलार रोड,
भोपाल - 462042 (मध्यप्रदेश)
मोबा. : 9424418567, 9826244291
E-mail : haribhatnagar@gmail.com

•

शब्द संयोजन एवं मुद्रक :
बॉक्स कॉरोगेटर्स एण्ड ऑफसेट प्रिंटर्स,
14-बी, सेक्टर-आई, इंडस्ट्रियल एरिया,
गोविंदपुरा, भोपाल : 2587551

•

रचना समय
जनवरी-फरवरी 2016

यह अंक

'रचना समय' का यह अंक कहानी विशेषांक के रूप में प्रस्तुत है।

इस विशेषांक की प्रस्तुति के पीछे समकालीन कथा-लेखन के वर्तमान स्वरूप का जायज़ा लेने का सोच था। वह किस दशा-दिशा की ओर अग्रसर है। उसमें यथार्थवादी लेखन के खुरदुरे यथार्थ को विभिन्न गद्य-विधाओं में व्यंजित करने की शक्ति-सामर्थ्य शेष है जो हमारे जातीय गद्य लेखन की ठोस परम्परा की पहचान रही है। हम समय को किस नज़रिये से देख रहे हैं- रोमानी नज़र से या अपनी जातीय लेखन की पैनी नज़र से आगे जाकर दिख रहे यथार्थ के पीछे छिपे सत्य को रूपायित कर देने वाली दृष्टि से। आज के कथा-लेखन के समक्ष एक बड़ी चुनौती इस तथ्य की है कि प्रस्तुत परम्परा में हमारा रचनात्मक योग क्या और कितना है? कहीं हम पीछे तो नहीं जा रहे या क़दमताल की मुद्रा में तो नहीं- इन्हीं सारे मुद्दों के मद्देनज़र इस विशेषांक की योजना बनी थी और हमारे मित्र युवा रचनाकार राकेश बिहारी ने इस दिशा में अतिथि सम्पादक के रूप में जो प्रस्तुत किया है- इसकी जाँच-परख तो पाठकों-लेखकों-आलोचकों की है। हमारा कार्य यहीं तक रहा, अब इन विद्वानों का काम शुरू होता है। बहरहाल, पृष्ठों की संख्या पूर्व निधार्रित थी लेकिन यह सीमा टूट गई तो पठनीयता को ध्यान में रखते हुए कहानी विशेषांक को हमने दो भागों में विभक्त किया है। उम्मीद ही नहीं, विश्वास है, हमारी यह प्रस्तुति आप सभी रचनाकारों- पाठकों को पसंद आएगी। हम तो इसे ताज़ भोपाली की नज़र से देख रहे हैं:

> जितना खिलता है उतना खुलता है
> यह सरापा गुलाब जैसा है।

'रचना समय' का यह विशेषांक उन लेखकों के नाम जिन्होंने अपने सामाजिक सरोकारों से लैस होकर हमें सामाजिक चेतना से सतत् सम्पन्न किया।

-हरि भटनागर

संपादकीय

समाज और कहानी के लोकतांत्रीकरण की गवाहियाँ

कहानियाँ अपने समय से संवाद करती हुईं सभ्यता की समीक्षा का इतिहास दर्ज करती हैं। कहानी और सभ्यता की समीक्षा की चर्चा के क्रम में कहानी की विकास यात्रा पर बात करना स्वाभाविक है। एक रचनात्मक विधा के रूप में कहानी का विकास कहानियों के जनतांत्रीकरण का इतिहास है। मैं जब भी कहानी के जनतांत्रीकरण की बात सोचता हूँ, मुझे हमेशा दो कविताओं की पंक्तियाँ याद आती हैं। एक मैथिलीशरण गुप्त की– 'माँ कह एक कहानी, राजा था या रानी ?' और दूसरी नंदलाल पाठक की जिसे जगजीत सिंह की आवाज़ में खूब प्रसिद्धि मिली– 'माँ सुनाओ मुझे वह कहानी, जिसमें राजा न हो न हो रानी।' 'राजा था या रानी' से 'राजा न हो न हो रानी' तक का यह सफर सभ्यता, समाज और कहानी तीनों के लोकतांत्रीकरण का गवाह है। यहाँ राजा–रानी को उसके स्थूल अर्थों तक ही सीमित नहीं किया जाना चाहिए। राजा–रानी के न जाने कितने प्रारूप और संस्करण देश और दुनिया के अलग–अलग हिस्सों में अलग–अलग तरह से मौजूद रहे हैं। कहानी के विकास की यात्रा राजा–रानी की उन तमाम बहुपरतीय और विविधरूपीय अवधारणाओं से मुक्ति का अनवरत इतिहास है। कहानी की इस विकास यात्रा में सामाजिक संरचना में होने वाली टूट–फूट और विकासोन्मुख नवनिर्माण के साथ एक विधा के रूप में कहानी के अंत:पुर में घटित हो रहे रूप और कथ्य के बदलाव की अनुगूंजों को भी रेखांकित किया जा सकता है। रचना समय का यह विशेष आयोजन हिन्दी कहानी की इसी विकास यात्रा के अद्यतन पड़ाव को रेखांकित करने का एक विनम्र प्रयास या उपक्रम है।

पिछले दस–पंद्रह वर्षों में कहानी को विधागत केन्द्रीयता की स्थिति–सी प्राप्त हुई है। इस दौरान मुख्य धारा की लगभग सभी महत्वपूर्ण पत्रिकाओं ने अलग–अलग विशेषांकों के माध्यम से न सिर्फ कहानी की विधागत केन्द्रीयता को रेखांकित किया है बल्कि इस बीच कहानीकारों की एक नई पीढ़ी जिसे बहुधा 'युवा पीढ़ी' कहा गया और मैं जिसे 'भूमंडलोत्तर कथा पीढ़ी' कहता हूँ की स्थापना को भी स्वीकृति दी है। इस दौरान प्रकाशित हुये विभिन्न पत्रिकाओं के कहानी केन्द्रित विशेषांक अमूमन पीढ़ी, विमर्श या विषय विशेष पर केन्द्रित रहे हैं। पीढ़ी, विमर्श या विषय की चर्चा जरूरी है, लेकिन सिर्फ इन्हीं को केंद्र में रख कर विचार करने की प्रविधि की एक बड़ी सीमा यह होती है कि रचनात्मक विधा के तौर पर किसी कला पर समग्रता में विचार नहीं हो पाता है। इसलिए आज जब एक साथ चार से पाँच पीढ़ियाँ कथा–लेखन के क्षेत्र में अपनी सक्रिय भागीदारियाँ निभा रही हैं, समय, समाज और कहानी के अंतर्संबंधों को समझने के लिए इसे पीढ़ी, विमर्श और विषय विशेष के त्रिभुज से बाहर निकाल कर हर पीढ़ी और हर तरह की कहानियों पर एक साथ और समग्रता में बात किए जाने की जरूरत है। इस विशेषांक के समायोजन–प्रकाशन की योजना के मूल में यही अवधारणा थी।

गोकि नई कहानी आंदोलन के पूर्व प्रेमचंद और जैनेन्द्र के रूप में कहानी की दो अलग–अलग प्रवृत्तियों और आस्वादमूलकताओं को पाठकीय स्वीकृति मिल चुकी थी, लेकिन एक संगठित आंदोलन के रूप में नई कहानी हिन्दी कहानी का पहला सुचिन्तित आंदोलन है, जिसके अग्रणी कथाकारों ने न सिर्फ अपनी कहानियों को पूर्व की कहानियों से अलग कर के रेखांकित करने का प्रयास किया बल्कि अपनी कहानियों के लिए आलोचना की अलग कसौटियों की मांग भी की और खुद कथालोचनाएं भी लिखीं। बाद में जनवादी कथाकारों ने भी अपनी कहानियों को समझने के लिए एक नई समीक्षा–दृष्टि और सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता

पर बल दिया। उनके अनुसार 'नई कहानी' और 'अकहानी' वाली दृष्टि उनकी कहानियों को खोलने के लिए अपर्याप्त थी। आज जब सूचना और सम्प्रेषण की क्रान्ति ने समय और समाज को नए सिरे से बदल डाला है, आज के कहानीकार भी कथालोचना के नए टूल्स विकसित किए जाने की जरूरत पर बात कर रहे हैं। कहानी के बदलते स्वरूप और आलोचना के नए उपकरण की मांग के बीच कभी तेज तो कभी मद्धम चाल में रुक-रुक कर चलती कथालोचना अपनी शक्ति और सीमाओं के साथ कहानियों को खोलने-खँगालने का काम कर रही है। कुछ कथालोचकों ने कहानियों के अंबार में से सचमुच की अच्छी कहानियों को चुन-परख और खोज-बीन कर रेखांकित करने की बजाय कहानी विधा के लड़खड़ा कर गिर जाने की स्वयंभू घोषणाएँ तक कर डाली है। इस तरह बड़ी चतुराई से रचना के संकट को आलोचना में और आलोचना के संकट को रचना में खोजने का यह आसान-सा खेल लगातार चल रहा है। इस बीच बहुत ही दिलचस्प तरीके से पीढ़ी, परंपरा और कहानी की समझ से च्युत कुछ ऐसे बाज़ार-पोषित समीक्षक भी खर-पतवार की तरह उग आए हैं जो पाठकों की मांग और अभिरुचि की आड़ में गंभीर, बोधगम्य और 'पल्प' के बीच की दूरी को न सिर्फ पाट देना चाहते हैं बल्कि 'पल्प' को ही सर्वाधिक अनिवार्य और सशक्त की तरह रेखांकित करने की कोशिश कर रहे हैं। यदि बाज़ार की शब्दावली में भी बात करें तो उन्हें यह नहीं मालूम कि 'सेल्स' और 'मार्केटिंग' के बीच एक बुनियादी और दृष्टिगत अंतर होता है। 'सेल्स' जहां उपभोक्ताओं की माँग के अनुरूप अपने उत्पादों की बिक्री को अपना लक्ष्य मानता है, वहीं 'मार्केटिंग' का काम अपने उत्पाद के लिए नए उपभोक्ता समूह का निर्माण भी होता है। 'सेल्स' को 'मार्केटिंग' में परिसीमित करना व्यावसायिक दृष्टि से भी तंगनिगाही का ही सूचक है। साहित्य या साहित्यिक विधा का काम तथाकथित पाठकीय भूख के हिसाब से खुद को ढालना नहीं, बल्कि अपनी बृहत्तर मानवीय दृष्टि और बड़े रचनात्मक मूल्यों और स्वप्नों के अनुरूप पाठकीय संस्कारों का निर्माण करना है। कहने की जरूरत नहीं कि यह तबतक संभव नहीं, जबतक लेखक अभिव्यक्ति से कहीं आगे सम्प्रेषण को अपना लक्ष्य माने। निश्चित तौर पर बोधगम्य होना उसकी पहली शर्त है। बोधगम्य रचनात्मकता की भूमिका इस अर्थ में दुहरी होती है कि जटिल अभिव्यक्ति की 'डिकोडिंग' के लिए भी पाठकों को तैयार करने का काम इसे ही करना होता है। यह वही विंदु है जहाँ, आलोचना भी रचना के रूप में उपस्थित होती है। मतलब यह कि कहानी को लेकर लेखक, पाठक, संपादक और आलोचकों की अलग-अलग कसौटियाँ हो सकती हैं, होती हैं। लेखक से किसी खास तरह की कहानियों की मांग हो या आलोचक से नए टूल्स आविष्कृत किए जाने की माँग या फिर पाठकों से उनके विकसित होने की अपेक्षाएँ ये सब उन्हीं अलग-अलग कसौटियों के द्वन्द्वों का परिणाम हैं। अच्छी कहानी किसे कहें, या कहानी को विश्लेषित करने के नए टूल्स विकसित किए जाएँ के संश्लिष्ट सूत्रों को आज खोलने की जरूरत है। इसी जरूरत को महसूस करते हुए प्रस्तुत अंक में लेखक, पाठक, आलोचक और संपादक की अलग-अलग कसौटियों पर विस्तार से बात करने की कोशिश की गई है। कथा-कसौटी पर इस बहुकोणीय विमर्श को और विस्तार देने की जरूरत है। शायद इस तरह कहानियों का एक मुकम्मल आलोचना-शास्त्र भी विकसित हो पाये।

अपनी भयावहता और खूबसूरती दोनों ही अर्थों में अभूतपूर्व होने के कारण पिछले दो दशकों के बीच फैले समय का भूगोल खासा जटिल है। तेज़ रफ्तार चलते समय के विविधवर्णी और बहुपरतीय यथार्थ और उसकी विडंबनाओं को दर्ज करती आज की कहानियों से कहानी विधा लगातार समृद्ध हो रही है। लेकिन कुछ अपवादों को छोड़ कर, कहानी में बदलते समय की इस धमक को समवेत रूप में आलोचना ठीक-ठीक पकड़ने मे सफल रही है यह उसी आश्वस्ति के साथ नहीं कहा जा सकता। उदारीकरण के पहले तक का समय जहां एक खास तरह के मूल्यों और मानदंडों की स्थापना का समय था वहीं उसके बाद का कालखंड उन मूल्यों और मान्यताओं के अतिक्रमण और विखंडन का काल है। नए दौर के इस विखंडन और अतिक्रमण में बहुत

तरह की पुनर्संरचना के बीज भी छिपे हैं जिसका सबसे बड़ा असर आज जाति, विवाह और परिवार की संस्था पर पड़ा है। अतिक्रमण और पुनर्गठन के इन्हीं द्वन्द्वों से टकराकर आलोचना के नए टूल्स विकसित होंगे। कई समर्थ कथाकार कथालोचना को कहानीकार का क्षेत्र बिलकुल ही नहीं मानते न हीं इस सूत्र को खोलना चाहते हैं कि आज की कहानियों को समझने के लिए कथालोचना के क्या प्रतिमान और उपकरण होने चाहिए। रचना और आलोचना के बीच ऐसी दूरी कविता के क्षेत्र में नहीं है। हमेशा से कवियों के द्वारा आलोचना लिखी जाती रही है और वह आज भी जारी है। क्या कथालोचना के क्षेत्र में व्याप्त सुदीर्घ सन्नाटे को तोड़ कर कहानी के नए प्रतिमान गढ़ने के लिए आज आलोचकों के साथ कहानीकारों को भी आगे नहीं आना चाहिए? आज इस प्रश्न पर भी गंभीरता से विचार किए जाने की जरूरत है।

इधर की कई कहानियों को पढ़ते हुये रूप और शिल्प के स्तर पर कहानी के ढांचे में बहुत बड़े बदलाव दृष्टिगोचर होते हैं। कहानी में कविता और कविता में कहानी की बात जैसे बहुत पीछे छूट गई है। अब तो कई बार कहानी, संस्मरण, रिपोर्ताज, खबर, सूचना, इतिहास, दर्शन आदि के बीच की लकीरें भी मिटती-टूटती दिखाई देने लगी हैं। आखिर यह क्या है- किस्सागोई की कोई नई प्रविधि या फिर कहानी की पकड़ से कथातत्व का छूटते जाना? आधुनिक समय के बहुकोणीय और जटिलतम यथार्थों के निरूपण का नया तरीका या फिर विधाओं की हदबंदी से मुक्ति की शुरुआत? प्रश्न यह भी उठता है कि क्या आज के जीवन की सूक्ष्म और बहुपरतीय संश्लिष्टताओं को किसी एक विधा के फ़ॉर्म में अभिव्यक्त करना मुश्किल या असंभव हुआ जा रहा है? 'कहानीपन' के ठाट को जिंदा रखने की जरूरतों के बीच इन सवालों से जूझना भी आज इतना ही जरूरी है। प्रस्तुत अंक के दूसरे खंड में दी गई अर्चना वर्मा की रचना 'व्योम में वास है विचारों का' को इसी बहस की भूमिका की पूर्वपीठिका के रूप में देखा जाना चाहिए।

तकनीकी आविष्कारों और सूचना-सम्प्रेषण की क्रान्ति के बीच बनी हुई कहानी के कागज पर उतरने की प्रक्रिया (रचना-प्रक्रिया नहीं) की एक अपनी दास्तान है। रचनात्मक लेखन के लिए जहां कुछ लोग सिर्फ और सिर्फ हाथ से लिखे जाने के ही आग्रही रहे हैं तो लेखकों का एक बड़ा समूह अब सीधे कंप्यूटर पर लिखने लगा है। रचनात्मक लेखन, खास कर कहानी-लेखन के संदर्भ में इन बदलावों की क्या भूमिका रही है या आगे इस क्षेत्र में और कैसी संभावनाओं के बीज छुपे हैं, इसे जानना एक दिलचस्प अनुभव हो सकता है, जिसे टटोलने की एक शुरुआती कोशिश भी हमने यहाँ की है।

हमारी कोशिश है कि इस अंक के बहाने समकालीन कथा-परिदृश्य का एक समग्र और बृहत्तर चेहरा आपके सामने रख सकें। चंद्रकिशोर जायसवाल जैसे सिद्धहस्त और वरिष्ठ कथाकार से लेकर ममता सिंह जैसे नए कथाकारों और रोहिणी अग्रवाल जैसी प्रतिष्ठित आलोचक से लेकर अमिय विंदु जैसे अल्पज्ञात आलोचक तक की समान रूप से महत्वपूर्ण उपस्थिति के बीच यदि आप यहाँ सभ्यता, समाज और कहानी के जनतांत्रीकरण की कुछ प्रामाणिक छवियों से रूबरू हो पायें, जिनकी चर्चा मैंने इस टिप्पणी की शुरुआत में की है, तो मैं अपने इस लघु प्रयास को सार्थक समझूँगा। पत्रिका के नियमित संपादक होने के नाते हरि भटनागर अपनी कहानी नहीं देना चाहते थे। लेकिन, मेरे विशेष आग्रह पर इस खास आयोजन में, बतौर कथाकार वे भी शामिल हैं। बहरहाल, जैसा भी बन पड़ा है, रचना-समय का यह विशेष अंक एक चैतन्य उत्तरदायित्व-बोध के साथ आपको सौंप रहा हूँ। आपकी बेबाक प्रतिक्रियाओं का इंतज़ार रहेगा। रचनात्मक सहयोग देने के लिए अंक में शामिल सभी लेखकों और भरोसे के साथ अंक के सम्पादन का अवसर देने के लिए अग्रज कथाकार हरि भटनागर और रचना समय के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

- राकेश बिहारी

कहानी

कथा-कसौटी (लेखक)

कथा-कसौटी (संपादक)

कथा-कसौटी (आलोचक)

कथा-कसौटी (पाठक)

आलोचना

चन्द्रकिशोर जायसवाल

विक्लव

अवध बाबू पावरोटी खरीदने बाजार गये थे। वहाँ उन्होंने दुकान में घुसते ही अपने हेली-मेली शंभुशरण के पोते अमन को देखा जो कुछ खरीदकर बाहर निकल रहा था। अमन उन्हें 'प्रणाम, दादा जी' बोलकर निकला था। जब अवध बाबू दुकान से बाहर निकले, तो फिर उनकी नजर अमन पर पड़ी। अमन उनके करीब आ गया था और बोला, "दादाजी, आपके यहाँ पुलिस भी गयी थी ?"

"पुलिस ?" अवध बाबू लड़खड़ाये, तो उनकी आवाज भी लड़खड़ा गयी, "नहीं तो। तुम्हें कैसे पता कि पुलिस... ?"

"चौक पर जो पान की दुकान है," अमन ने बताया, "वहाँ मैंने दो पुलिस वालों को देखा पान वाले से आपके घर का पता पूछते।"

"पता पूछते !" अवध बाबू बड़बड़ाये और फिर अमन से पूछा, "कब ?"

"अभी, एक घंटा पहले।"

"क्या पूछा था पुलिस वाले ने पान वाले से ?"

"पूछा था, 'अवध भगत का घर किधर है ?'"

उसके बाद अवध बाबू ने अमन से कुछ नहीं पूछा, हमेशा की तरह उसके दादा का हाल-चाल भी नहीं, और तेज चाल से अपने घर की ओर चले। कुछ सोचकर वे दस कदम चलकर ही रुके, जेब से मोबाइल फोन निकाला और नंबर मिलाकर पत्नी से पूछा, "वहाँ पुलिस भी आयी है ?"

वे फिर घर की ओर चल पड़े, पहले की तरह तेज चाल से।

घर का ग्रील वाला दरवाजा खुला था, मगर कमरे का किवाड़ अन्दर से बन्द था। किवाड़ ठकठकाया उन्होंने। अन्दर से आवाज़ आयी, "कौन ?"

"मैं हूँ; मैं हूँ, लक्ष्मी," अवध बाबू धीरे से बोले।

दरवाजा नहीं खुला; अन्दर से फिर आवाज आयी, "मैं कौन ?"

अवध बाबू को अपनी गलती का अहसास हुआ; वे बोले, "मैं चकाचक; चकाचक हूँ, लक्ष्मी।"

'चकाचक' बोलते ही दरवाजा खुल गया।

"पुलिस आने वाली है," कमरे में घुसते हुए वे बोले, "ग्रील में भी ताला लगा दो।"

कमरे के अन्दर आकर उन्होंने हाथ का झोला मेज पर पटका और आलमारी से एक किताब ढूँढ़ निकाली।

अक्सर उस घर में रोज कोई न कोई चीज ढूँढ़ती पड़ती है। बुढ़ापे का ऐसा असर हुआ है उन दोनों ही पति-पत्नी पर कि यह याद ही नहीं रहता कि कौन चीज कहाँ रख दी थी। मगर अवध बाबू अपनी कुछ किताबों के साथ कुछ और भी जरूरत की चीजें ऐसी जगह सँभालकर रखते हैं कि उन्हें ढूँढ़ने के पहले कुछ याद करने की जरूरत नहीं पड़ती।

उनके हाथ में एक कानून की किताब थी।

यह किताब उन्होंने पिछली बार ढूँढ़ने का कष्ट किये बगैर तब निकाली थी जब पुलिस के वेष में आये कुछ डाकू रात के दस बजे उनके ही मोहल्ले के रतन साह के घर आये थे, किवाड़ खुलवा लिया था और लूटकर चले गये थे। उस वक्त भी उन्होंने किताब अच्छी तरह पढ़ ली थी, मगर अभी उन्हें अच्छी तरह याद नहीं आ रहा था कि क्या-क्या पढ़ा था उसमें और पुलिस के आने के पहले वे अपनी जानकारी शीघ्रातिशीघ्र बिलकुल ताजा कर लेना चाहते थे।

अन्दर आकर पत्नी ने झोला उठाया, उसके अन्दर झाँका और फिर बोली, "सिर्फ पावरोटी देख रही हूँ; दूध नहीं मिला ?"

किताब पर निगाह टिकाये ही अवध बाबू ने जवाब दिया, "दूध खरीदने का समय नहीं मिला।"

"समय नहीं मिला!" पत्नी बुदबुदायी, तो अवध बाबू बोले, "हाँ, समय नहीं मिला; मैं पुलिस को देखता कि दूध को ?"

पावरोटी खरीदकर चार कदम आगे जाने के लिए समय नहीं मिला! पत्नी ने बतकही से बेहतर माना चुप रह जाना। एक अकेली वह ही तो चाय नहीं पीती, असली तलब तो इन्हें होती है चाय की। अब करते रहिये फरमाइश।

पत्नी जाने के लिए मुड़ी, तो पति ने रोक लिया, "यह जानकारी हर किसी को, तुम्हें भी, होनी चाहिये कि पुलिस से वास्ता पड़े, तो किस समय हमें अपने किस अधिकार का उपयोग करना चाहिये। बैठो, मैं पढ़कर सुनाता हूँ।"

"मुझे समय नहीं है बैठने और सुनने का; ढेरों काम हैं।" बोलकर पत्नी चली गयी। पति ने गुस्से से एक बार उसकी ओर देखा और फिर किताब पढ़ने में तल्लीन हो गये।

वे किताब तो पढ़ रहे थे, मगर एक बात उन्हें लगातार मथ रही थी कि पुलिस के आने का क्या कारण हो सकता है ?

पिछले तीस वर्षों से उन्हें एक थानेदार का यह कथन डराता रहा है कि हर आदमी अपराधी है और कहीं न कहीं, कभी न कभी, कानून को तोड़ता है। उन्हें मालूम भी तो नहीं कि देश में क्या-क्या कानून हैं और कहाँ-कहाँ थानेदार अपना डंडा चला सकता है।

उन्हें याद आया, एक बार बूढ़े को...

उन्हें यह भी याद आ गया कि करीब सात-आठ दिन पहले उन्होंने सड़क के किनारे खड़े-खड़े पेशाब किया था। जहाँ उन्होंने शाम में पेशाब किया था, वहाँ उन्होंने लोगों को दिन दहाड़े पेशाब करते देखा है। कुछ भी गलत नहीं किया था उन्होंने और बहुत मजबूरी हुई है तभी उन्होंने कभी-कभार सड़क के किनारे पेशाब किया है; तब नहीं किया है जब सड़क पर लोगों का आना-जाना हो रहा हो, तब तो बिलकुल नहीं जब कोई महिला आ रही हो। मगर...

मगर पुलिस कह सकती है, "आपको बंगाली मिष्टान्न वाली गली में कल शाम सात बजे बहुत अश्लील तरीके से पेशाब करते देखा गया है।"

"कल शाम ?"

"हाँ, गवाह हैं हमारे पास," पुलिस कहेगी, "है आपके पास कोई गवाह जो कहे कि उसने आपको बंगाली मिष्टान्न

वाली गली में कल शाम सात बजे पेशाब करते तो देखा है, मगर, कम या बहुत, अश्लील तरीके से पेशाब करते नहीं देखा है ?"

गवाह ! वे बेचैन हो गये। अभी साल भर भी नहीं हुआ है जब पड़ोसी संतलाल के बेटे ने नाली को लेकर उन पर लाठी चमकायी थी। भयंकर हो-हल्ला हुआ था। सारे मोहल्ले वाले तमाशा देखने आ गये थे। पुलिस बुलानी पड़ी थी। मगर उनकी ओर से कोई गवाही देने को तैयार नहीं हुआ। किसी ने नहीं कहा कि कोई हो-हल्ला भी हुआ है। सबने यही कहा कि कुछ भी नहीं हुआ है, कुछ भी नहीं देखा उन लोगों ने। लोग तो अपने पक्ष में झूठे गवाह ला खड़ा करते हैं, पर उनकी ओर से तो सच्ची गवाही देने वाला भी कोई एक नहीं है इस मोहल्ले में।

उन्होंने अपने को चक्कर खाने से बचा लिया। उन्हें अचानक होश आया कि अभी तो ऐसा कुछ नहीं हुआ है, अभी तो पुलिस आयी तक नहीं है।

किताब पढ़ना अचानक बन्द कर उन्होंने अपना मोबाइल फोन निकाला और उसमें कोई नम्बर ढूँढ़ने लगे। नम्बर नहीं मिला, तो वे कुछ बेचैन हुए। बेचैनी को रोककर वे अपनी मोबाइल-बही ढूँढ़ने लगे इस विश्वास पर कि उसमें नम्बर अवश्य दर्ज होगा। बही नहीं मिली, तो वे रसोई में खटर-पटर कर रही पत्नी के पास जा पहुँचे और उससे पूछा, "तुमने फोन-बही देखी है ?"

"नहीं।" पत्नी का छोटा-सा जवाब आया।

"जहाँ रखी हुई थी, वहाँ नहीं मिल रही है ?"

"होगी कहीं।"

"कहाँ हो सकती है, बताओ तो," कुछ खीझकर बोले अवध बाबू, "कोई और तो नहीं है घर में इधर-उधर रख देने वाला। कोई चूहा तो नहीं उठा ले गया होगा फोन-बही ?"

"घर के तीनों कमरों में फैला रहता है आपका सामान," पत्नी ने बताया, "आप मुझे कभी बताते तो नहीं कि अब आप अपना फलाँ सामान फलाँ कमरे में रखने जा रहे हैं। रख आने के बाद आप बिलकुल भूल जाते हैं कि कहाँ क्या रख दिया। आप तीनों कमरों में ढूँढ़िये; मिल जायेगी किसी ने किसी कमरे में।";

"चलो, तुम ढूँढ़कर निकाल दो।"

"मैं अभी नहीं जाऊँगी; काम कर रही हूँ। बाद में ढूँढ़ दूँगी।"

अवध बाबू को पत्नी का यह असहयोग अच्छा नहीं लगा, मगर अभी समय नहीं था उससे तकरार करने का। उन्होंने शान्त और सधे स्वर में पत्नी से कहा, "तुम मेरी बेचैनी समझा करो, लक्ष्मी। हमेशा एक तरह का जवाब मत दिया करो। किताब बोलती है कि थाना-कचहरी के मामले में वकील की सलाह लेनी चाहिये। कानून की जानकारी मुझे है नहीं; न जाने क्या कानून लेकर पुलिस वाले ढूँढ़ रहे हैं मुझे! विपिन बाबू की अचानक याद आ गयी। एक वही वकील है जो मेरा परिचित है और कभी भी बुलाने पर आ सकता है। सोचा, फोन से पता तो कर लूँ कि घर पर हैं या नहीं। इधर बहुत दिनों से मुलाकात भी तो नहीं हुई है। अगर बात हो जाये, तो हाल-चाल पूछकर कुछ इशारा भी कर दूँ कि हमारे घर पुलिस आने वाली है, तो आप भी आ जायें; पुलिस से लोहा कोई वकील ही तो ले सकता है। उनका नम्बर मेरे मोबाइल से कैसे तो गुम हो गया है, मगर मुझे अच्छी तरह याद है कि नम्बर फोन-बही में दर्ज है। फोन-बही मिल नहीं रही है और मेरी बेचैनी बढ़ती जा रही है। तुम मेरी बेचैनी नहीं समझ रही।"

"इसमें बेचैन हो जाने की क्या बात हुई!" पत्नी बोल गयी, "चार डेग पर तो विपिन बाबू का घर है। जाने में दस मिनट भी लगेंगे क्या ? आप ऐसा कीजिये कि उनसे मिल ही आइये। फोन पर कुछ बतियाने से बेहतर होगा जाकर मिल आना। इधर बहुत दिनों से गये भी तो नहीं हैं। आदमी को चाहिये कि अपने लोगों से मिलते-जुलते रहें। कोई क्या सोचेगा कि काम पड़ा तो फोन कर रहा है!"

"अच्छा, भाषण मत दो; जा रहा हूँ।"

जब अवध बाबू बाहर निकलने के लिए तैयार होने लगे, तो पत्नी ने सुनाया, "उधर से दूध भी लेते आइयेगा।"

"दूध भी ? उफ्!" इससे अधिक नहीं बुदबुदाये अवध बाबू। घर से निकलने के पहले एक और डर समा गया उनके अन्दर। अगर घर से निकलकर दो डेग चलते ही... "आप अवध भगत हैं न ? चलिये थाना।"

यहीं वकील की जरूरत पड़ती है। वह पुलिस वालों को जवाब दे सकता है, "क्यों जायेंगे ये थाना ? कोई अदालत

का कागज-पत्तर लेकर आये हैं आप? दिखाइये कागज। पहले तो यह बताइये कि आप पुलिस वाले हैं, यह कैसे मानूँ मैं?" कोई अवध भगत या उसके जैसा आदमी इस तरह ऐंठकर बोल सकता है किसी पुलिस वाले से? गुस्से में आकर कुछ और दफे लगा देगा।

बेचारे साहू जी! अच्छा पद है, अच्छी तनख्वाह है और अच्छी इज्जत है। कहीं बाहर गये थे और महीने भर बाद लौटकर घर आये थे। जिस दिन आये उसी दिन उनके दफ्तर के एक चपरासी की मौत ज़हर खाने से हुई थी। चपरासी की पत्नी ने पुलिस से कह दिया कि उसके पति का साहू जी के साथ झगड़ा चल रहा था और उसकी मौत में साहू जी का ही हाथ है। पुलिस साहू जी को उनके घर से उठाकर थाना ले गयी, जबकि मोहल्ले में आम चर्चा थी कि चपरासी को उसकी पत्नी ने ही ज़हर देकर मारा है।

साहू जी की एक न सुनी गयी और उन्हें थाना में रोक लिया गया। थानेदार ने कौन-कौन दफा लगेगा, यह सब सुना देने के बाद पचीस हजार से अपनी बोली शुरू की और लगातार कहता रहा कि आरक्षी-अधीक्षक कभी भी थाना का निरीक्षण करने आ सकते हैं और तब मामला लाख का बन जायेगा। साहू जी ने बहुत रो-गिड़गिड़ाकर सात हजार में थानेदार को पटाया था और बहुत खुशी-खुशी वापस घर आये थे।

साहू जी थानेदार की धौंस में आ गये; उनके विरुद्ध कोई मामला नहीं बनता था। यहाँ उन्हें वकील साफ बचा लेता। खुद साहू जी ने उनसे कहा था, "मैं घबरा गया था, सर। थाना-कचहरी कोई अच्छी चीज तो है नहीं। उस समय तो यही लगता था कि कोई भी रकम देकर यहाँ से निकलो।"

जिस दिन साहू जी ने अपनी यह कहानी सुनायी थी, उसी दिन उन्होंने अपनी पत्नी से कहा था, "एक बात गिरह बाँध लो कि अगर कभी पुलिस मुझे थाना ले गयी, तो मुझे छुड़ा ले आने के लिए तुम किसी को एक पैसा भी घूस नहीं देना। मैं गलत करता नहीं, तो फिर किस बात का घूस देना? मुकदमा लड़ लूँगा मैं; दो-चार दिन जेल में रहना भी पड़ गया, तो रह लूँगा।"

अवध बाबू दूध ले आने और विपिन बाबू से मिलने घर से निकले तो, मगर दूध खरीद लेने के बाद जब वे विपिन बाबू के घर की ओर चले, तो मन में कुछ ऐसा खटका हुआ कि सीधे तेज कदमों से घर की ओर चल पड़े। अगर अपराधी रंगे हाथ गिरफ्तार हो रहा हो, तब वकील भी क्या करेगा? थानेदार को पटककर तो नहीं छुड़ा लेगा अपने असामी को?

खटका हुआ और वे रास्ते भर यही सोचते आये कि घूस चटाने का इल्म उन्हें भी होना चाहिये। यह घूस ही तो है कि पैसे वालों की इज्जत बचा रही है। माना कि वे कुछ भी गलत नहीं करते, मगर क्या ठिकाना आदमी कब झूठ-सच में फँस जाये और ऐसा फँस जाये कि बगैर घूस दिये कोई रास्ता ही नहीं मिले मुसीबत से पार पाने का। क्या कहा होगा साहू जी ने थानेदार से?- वे सोचने लगे-कहा होगा, "कितना घूस दे दूँ, थानेदार साहब?" घूस लेन-देन के भी तो 'सभ्य' और 'असभ्य' तरीके होते होंगे। ऐसा नहीं हो कि वे 'असभ्य' तरीके से पूछ बैठें, "पहले हथकड़ी लगाता हूँ, उसके बाद चाटूँगा घूस।" उन्हें अफसोस हुआ इस बात का कि उन्होंने साहू जी से अच्छी तरह पूछ नहीं लिया था कि थानेदार के साथ घूस की बातचीत कैसे-कैसे शुरू हुई थी और कैसे समाप्त हुई।

पत्नी की बोली-वाणी पर उन्हें कभी भरोसा नहीं रहा। गुस्से में आकर किसी को कुछ सुनाती है वह, तो फिर उसे अपनी औकात का खयाल ही नहीं रहता। उसे यह होश ही नहीं रहता कि हम मामूली, बेसहारे लोग हैं, और हमें सोच-समझकर कुछ बोलना-बकना चाहिये। ऐसा जरूर हुआ है कि कभी-कभी इसकी बोली का अच्छा असर भी हुआ है कि दुश्मन बेदम होकर चुप हो गये हैं, हार मान ली है, मगर अक्सर तो ऐसा हुआ है कि इसकी बोली के कारण उन्हें शर्मिन्दा होना पड़ा है, छोटे लोगों से भी उन्हें क्षमा माँगनी पड़ी है। अभी ही कोई ठीक नहीं कि थानेदार उनके घर पर आ गया हो और उसे देखते ही पत्नी बोल गयी हो, "चले आये घूस चाटने? कोई और दरवाजा नहीं मिला? एक पैसा नहीं मिलेगा इस घर से। अभी भगत जी नहीं हैं घर में। जब रहेंगे तब आइयेगा। जाइये अभी।" इस बोली पर थानेदार को गुस्सा नहीं आयेगा कि अब इस भगत को कमर में रस्सा बाँधकर ही ले जाऊँ?

घर में घुसते ही उन्होंने पत्नी से पूछा, "घर में कोई कुछ रखकर भी गया है?"

"कुछ क्या?" कुछ समझ नहीं पाने के कारण पत्नी ने पूछा।

"कुछ, मतलब कोई मोटरी-गठरी।"

"नहीं।"

"रुपये-पैसे ?"

"नहीं," पत्नी बोली, "मगर यह सब आप पूछ क्यों रहे हैं ?"

"मान लो, कोई आदमी तुम्हारे पास कोई गठरी रख गया हो। उस गठरी में तो गाँजा, भाँग या पिस्तौल। पुलिस आती है और घर की तलाशी लेती है। पुलिस गठरी पकड़ती है, तो फिर हमें पकड़ेगी या नहीं ? मुझे गिरफ्तार कर ले जायेगी या नहीं ? तुम लाख कहती रह जाओ कि गठरी तुम्हारी नहीं है, तब भी मानेगी क्या ? है हमारे परिचय का कोई ऐसा आदमी जो हमें जेल जाने से बचा ले ?"

"कोई अपरिचित कैसे रख जायेगा अपनी गठरी-मोटरी हमारे घर ? मैं ही कैसे उसे रखने दूँगी ? ऐसा कहीं होता है क्या ?"

"कोई परिचित तो कर सकता है ऐसा," अवध बाबू ने सुनाया, "तुम्हारे मायके का ही कोई आदमी आया हो गठरी रखने; नहीं रखने दोगी ?"

"क्यों आयेगा मेरे घर गाँजा वाली गठरी रखने ? मायके में कोई दुश्मन नहीं है मेरा। जब कभी जाती हूँ, पूरा गाँव उमड़ आता है हाल-चाल पूछने।"

"आदमी मायके का हो या कहीं और का, अब हर कोई अपने मतलब से मतलब रखता है, यह कोई नहीं सोचता कि दूसरे का, फुआ या मौसी का, क्या नुकसान हो सकता है। तुम अपने ज़माने से बाहर निकल ही नहीं रही हो। तुम्हें याद होगा कि तुम्हारी धरमपुर वाली दीदी का बेटा रात के नौ बजे आया था और पचास हजार रुपये तुम्हारे पास रखकर चला गया था। उसका नाम मुझे अब याद नहीं आ रहा।"

"हाँ, श्यामसुन्दर था, रात भर के लिए पैसे रखकर गया था। सुबह तो आ ही गया था अपने पैसे लेने।"

"मैं पैसे नहीं रखता, मगर तुमने मुझे बताया ही तब जब वह पैसे रखकर चला गया था।"

"पैसे रख लिये, तो क्या हो गया ?"

"कुछ नहीं हुआ, मगर कुछ भी हो सकता था।"

"क्या हो सकता था ?"

"तुमने मुझे बताया था कि तुम्हारा यह श्यामसुन्दर सहरसा के किसी ऐसे गिरोह में है जो गाँजा-भाँग का धंधा करता है।"

"था, अब नहीं है।"

"तब तो था," अवध बाबू गुस्से में आ गये, "जब उसने पैसे रखे थे तुम्हारे पास ?"

"हाँ, तब था," पत्नी मिनमिनाकर बोली, "मुझे किसी के धंधे से क्या लेना-देना !"

"कोई लेना-देना नहीं," अवध बाबू ने जवाब दिया, "मगर जब आपके श्यामसुन्दर आपके पास पैसे रख गये, तब लेना-देना हो गया। 'लेना' भी नहीं, 'देना' हो गया।"

"क्या देना हो गया ?" पत्नी भड़क उठी, "रात में तो खाना तक नहीं खाया उसने और सुबह भी मेरी जिद पर चाय पीने भर के लिए रुका वह।"

"रात में खाना तक नहीं खाया वह," अवध बाबू का जवाब था, "मगर मैं तो रात भर बेचैन रहा, सो नहीं पाया रात भर।"

"आप तो इस तरह बोल रहे हैं जैसे कि वह हमसे पचास हजार माँगकर ले गया हो और आप रात भर बेचैन रहे, सो नहीं पाये, कि अब वह पैसे लौटायेगा या नहीं। एक प्याली चाय पीकर गया तो आप बेचैन हो गये कि अब वह परक जायेगा और जब-तब खाना खाने और चाय पीने चला आया करेगा। यह कैसा 'देना' हुआ कि आप बेचैन हो गये, रात भर सो नहीं पाये ?"

पत्नी की बातें ध्यानपूर्वक सुनीं अवध बाबू ने, उसे चिढ़ाने के लिए मुस्कुराये और क्षण भर चुप रहकर बोलना प्रारम्भ किया, "यह हो सकता था कि सुबह तुम्हारा श्यामसुन्दर अकेला नहीं आता; उसे हथकड़ी लगाये पुलिस आती हमारे घर; आते ही हमसे पूछती, 'इस शख्स ने आपके पास एक लाख रुपये रखे हैं ?' तुम झट बोलती, 'एक लाख नहीं, पचास हजार।' थानेदार अपने साथ आये सिपाहियों को आदेश देता, 'घर की अच्छी तरह तलाशी लो और देखो कि गाँजा-भाँग की कोई गठरी-मोटरी अभी भी तो नहीं है घर में।' और फिर थानेदार मुझसे पूछता, 'सच-सच बताइये, आप कितने साल से हैं इस धन्धे में ? आपके चेलाचाटी तो बता रहे हैं कि

आप ही गिरोह के सरदार हैं।' और फिर, 'आपने अपनी पत्नी को भी लगा रखा है इस धंधे में ?'

"ऐसा कुछ नहीं हो सकता था," पत्नी ने घुड़ककर कहा, "ऐसा होता है आपके खाली दिमाग में। कोई काम-धाम तो है नहीं; अलाय बलाय सोचते रहते हैं। सोचते रहिये; मैं चली।"

"रुको," अवध बाबू ने पत्नी को जाने से रोका, "किसी बात को हल्के से मत लो।"

"और कुछ कहना बाकी है क्या ?"

"हाँ।"

"तो जल्दी बोलिये," पत्नी उकता गयी थी, "मुझे काम है या नहीं ? आपका प्रवचन सुनने का समय नहीं है मेरे पास।"

अवध बाबू ने सुनाया, "हो यह भी सकता था कि उस रात में ही श्यामसुन्दर के जाने के घंटा भर बाद डाकू आते और कहते, 'पचास हजार रुपये निकालो। रुपये अभी तुम्हारे पास जमा हुए हैं।' पिस्तौल दिखाता और पैसे ले जाता।"

"कैसे डाकू आते ? कैसे वे जान जाते कि हमारे पास पचास हजार जमा हुए हैं ?"

"राम नारायण बाबू के यहाँ क्या हुआ था ? भूल गयी क्या ? उनकी पत्नी के पास शाम में दस हजार रुपये रखकर गया था उसका भतीजा और रात के बारह बजे डाकू आ गये उस पैसे को लेने।"

"वह तो इसलिए हुआ कि पैसे उसकी एक सहेली के सामने दिये गये थे और उस सहेली ने खबर कर दी अपने एक डाकू भाई को। मुझे किसी ने नहीं देखा था श्यामसुन्दर से पैसा लेते।"

"श्यामसुन्दर गिरोह के अपने ही किसी साथी से कहता, मैं पैसे रखकर आ रहा हूँ, तुम जाकर ले आना। दो बूढ़ा-बूढ़ी हैं, बेहद डरपोक। पिस्तौल दिखाओगे नहीं कि झट पैसे ले आकर रख देंगे तुम्हारे सामने। मैं अपने जमा किये पैसे तो वसूल ही लूँगा।' बोलो, तुम पैसे दे देती या नहीं ? जान देती, रामनारायण बाबू की पत्नी ने जान दी थी ? झट पैसे निकालकर दे दिये थे।"

"तो क्या अब आदमी किसी अपने का भी भरोसा नहीं करे ? किसी अपने के मामले में भी हर घड़ी 'सावधान-सावधान' होता रहे ? मैं ऐसी जिन्दगी नहीं जी सकती।"

बोलकर चल पड़ीं लक्ष्मी जी, तो उसके पीछे हो गये अवध बाबू और बोलना चालू रखा, "किसे कहती हो अपना ? अब बेटा भी अपना रहा क्या ? मैं रोज तुम्हें अखबार पढ़कर बेटों के किस्से सुनाता हूँ। तुम्हारे ध्यान में कोई बात आती क्यों नही ?"

"अखबार में सिर्फ कपूतों के किस्से छपते हैं, सपूतों के नहीं छपते। कपूतों के किस्से सुन-सुनकर मैं अपना दिमाग खराब नहीं कर सकती।"

"तुम्हारा बेटा सपूत है ?"
"हाँ, है; जरूर है।"
"बहुत प्यारा ?"
"हाँ, बेटा है तो प्यारा है ही।"

"सारे बेटे शुरू-शुरू में सपूत ही होते हैं और माँ-बाप के बहुत प्यारे, जैसे तुम्हारा बेटा सपूत है और तुम्हें बहुत प्यारा है, मगर नये ज़माने की ज्यों ही हवा लगती है उन्हें, वे कपूत होना शुरू कर देते हैं। ये सब अपने माँ-बाप के बड़े प्यारे होते हैं, मगर बाद का किस्सा क्या होता है ? आज बेटे माँ-बाप को बाजार में बेच लेने से भी बाज नहीं आते। मैं तो कहता हूँ कि अब अपने बेटे का भी विश्वास नहीं करो। वह भी अगर कोई गठरी लाकर रखे घर में, तो पूछो कि उसमें क्या है और फिर देख भी लो कि उसमें क्या है।"

"ठीक है, जाइये, देख लूँगी कि गठरी में क्या है।" बोलकर लक्ष्मी जी कोई मर्तबान खोलने लगीं।

अवध बाबू एक क्षण रुककर वहाँ से चले, तो उनके कानों में पत्नी की बुदबुदाहट पड़ी, "हुँह, अब बेटों से भी डरूँ!" वे पत्नी के पास लौट गये और सुनाया, "हाँ, डरो, डरना चाहिये। बेटे से भी डरो। मैं डरूँगा।"

"आप डरते रहिये," पत्नी ने जवाब दिया, "उतने से ही मेरा काम चल जायेगा।"

अवध बाबू को गुस्सा आया कि उनकी बातों का इस अर्द्धांगिनी पर कोई असर ही नहीं पड़ रहा। वहाँ से हटने के पहले उन्हें पत्नी को इतना सुना देना अच्छा लगा,

"मत डरो। मेरे मरने के बाद सड़क पर भीख माँगना।" और फिर बड़बड़ाते हुए चले, "औरत साली जात ही ऐसी होती है कि जब तक चोट ना खा जाये, तब तक कुछ सीखने-समझने को तैयार ही नहीं।"

जब अवध बाबू अपने कमरे में लौट आये, तो उन्हें यह सवाल मथने लगा, या कहिये कि इस सवाल को वे मथने लगे, कि क्या उन्हें डरना नहीं चाहिये ?

ऐसा कितनी ही बार हुआ है कि किसी आशंका से वे घबरा उठे हैं, उनका दिल जोर-जोर से धड़कने लगा है, देह में झुरझुरी पैदा हो गयी है, पैर काँपने लगे हैं, मगर बाद में वह आशंका गलत साबित हुई है और उन्होंने अपने आप को खूब धिक्कारा है कि उन्हें इस तरह एक मर्द होकर, एक बुजुर्ग होकर, बच्चों और औरतों की तरह घबराना या डरना नहीं चाहिये। कुछ होता भी तो क्या होता! कोई शूली-फाँसी पर तो नहीं चढ़ा दिया जाता उन्हें।

क्या अभी भी ऐसा कुछ नहीं हो सकता है कि एक बार फिर अपने को धिक्कारने का मौका मिल जाये ? हाँ, हो सकता है कि पुलिस किसी और 'अवध' को ढूँढ़ रही हो... अवध सिंह, अवध मंडल, अवध बेलदार, अवध बहरदार, अवध...। यह सोचकर वे कुछ फूले, मगर तभी उनहें अमन का कहा याद आ गया। पुलिस ने स्पष्ट रूप से उनका नाम लिया था; अमन से पूछा था, 'अवध भगत का घर किधर है ?' वे अच्छी तरह जानते हैं कि 'अवध भगत' नाम का कोई दूसरा आदमी इस मोहल्ले में नहीं है। अब ऐसा तो नहीं हो सकता कि किसी भगत के घर में हाल-फिलहाल कोई बच्चा पैदा हुआ हो और उनका नाम 'अवध' रखा गया हो, और उसे ही पकड़ने पुलिस आ रही हो, इस दूसरे 'अवध भगत' को पकड़ने।

वे जितना फूले थे, उससे अधिक सिकुड़ गये। पत्नी से यह कह देना तो बहुत आसान था, "तुम किसी को एक पैसा भी घूस नहीं देना। मुकदमा लड़ लूँगा मैं; दो-चार दिन जेल में रहना भी पड़ गया, तो रह लूँगा।" उतना आसान चार दिन जेल में काट लेना है क्या ? चार दिनों के बाद तो जेल से उनकी लाश ही निकलेगी।

उन्हें अपने एक मारवाड़ी मित्र के बहनोई का किस्सा याद आ गया। वह गल्ला व्यवसायी था। किसी हेर-फेर के कारण उसे जेल हो गयी थी और जल्दी जमानत पर छूटने की उम्मीद नहीं थी। उनके बेटों को यह जानकारी मिल गयी थी कि जेल में दबंग कैदी सेठ-साहूकार कैदियों की पैसे के लिए मुक्का-थप्पड़ से पिटाई करते रहते हैं। उन्होंने पूरा पता लगाकर दबंग कैदियों को हर महीने पाँच सौ रुपये देने का वादा किया और उनसे वचन लेकर आये कि वे उनके बाप को हल्की-सी चपत भी नहीं लगायेंगे।

उनका अपना बेटा कुछ पता भी लगायेगा, कुछ करना भी चाहेगा, तो लक्ष्मी रोक देगी, "खबरदार, तुम्हारा बाप बोलकर गया है कि हम किसी को एक पैसा भी घूस नहीं देंगे; हम मुकदमा लड़ेंगे।"

उन्हें एक बार फिर इस बात का अफसोस हुआ कि उन्होंने साहू जी से पूछ नहीं लिया था कि थानेदार के साथ घूस की बातचीत कैसे शुरू की थी उन्होंने। पुलिस को घूस चटाने का इल्म हर किसी को होना चाहिये; सुखी, विपदारहित जीवन जीने के लिए इसे आवश्यक मान लिया उन्होंने।

कमरे में बैठकर उन्होंने दिमाग दौड़ाना शुरू किया कि किन कारणों से पुलिस आ सकती है उनके पास। उन्होंने अच्छी तरह याद किया कि हाल-फिलहाल उनका किसी से झगड़ा तो नहीं हुआ है; किसी का दिल तो नहीं दुखाया है उन्होंने। किसी से क्या झगड़ा होगा ? वे तो घर से बाहर इतना कम निकलते ही हैं कि किसी से उनकी टक्कर होने से रही। ऐसे भी वे मोहल्ले में एक भला और शांतिप्रिय व्यक्ति के रूप में जाने जाते हैं। कभी किसी ने उन्हें ऊँची आवाज में बोलते हुए नहीं देखा होगा। झगड़ा होता है उनका, मगर घर से बाहर नहीं; घर के अन्दर ही पत्नी से। ऐसा झगड़ा कभी नहीं हुआ कि उसे पुलिस के पास जाने की नौबत आये। पुलिस के पास जा तो सकती है वह। एक बार दिपुआ अपनी पत्नी को बेरहमी से लतिया-मुकिया रहा था और उसकी औरत केवल चीख-चिल्ला रही थी, तब लक्ष्मी ने फनफनाते हुए मुझसे कहा था, "कैसी औरत है कि चुपचाप मार सह रही है! मैं रहती तो तुरंत पुलिस के पास चली जाती।"

वह मेरे विरुद्ध शिकायत लेकर पुलिस के पास नहीं जा सकती, मगर उसके विरुद्ध शिकायत लेकर तो दूसरे जा ही सकते हैं पुलिस के पास। वह किसी से भी झगड़ सकती है, किसी भी बात पर झगड़ सकती है। उन्हें तो कभी-कभी पता भी नहीं चलता कि किसी के साथ झगड़ा हुआ है उसका।

वे उठे और पत्नी के पास जा पहुँचे, "इधर हाल-फिलहाल किसी के साथ तुम्हारा झगड़ा भी हुआ है ?"

"नहीं," पत्नी ने झट जवाब दे दिया, "नहीं हुआ है झगड़ा।"

"इस तरह मत बोलो," अवध बाबू ने पूरी गम्भीरता बरती, "सोचकर बोलो, याद करो, किसी के साथ...।"

"अच्छी तरह याद है, नहीं हुआ है किसी से झगड़ा। मैं क्या झगड़ालू औरत हूँ कि झगड़ती फिरती हूँ?"

"झगड़ालू तो हो।"

"कैसे?"

"आज तक मुझे जितनी परेशानियाँ हुई हैं, अधिकांश तुम्हारे झगड़ों के कारण हुई हैं।"

"पुलिस भी मेरे कारण आ रही है?"

"हो सकता है।"

"किसी के साथ झगड़ा नहीं हुआ है, तब भी?"

अवध बाबू गुस्से में आ गये, "हाल-फिलहाल नहीं हुआ है, मगर कभी नहीं हुआ है क्या? पिछले चालीस सालों में बीता है कोई ऐसा साल जिसमें तुम्हारा किसी के साथ झगड़ा नहीं हुआ हो?"

"चालीस साल पीछे तक चले गये?"

"हाँ, हर साल दो-चार बार तुम दहाड़कर आयी हो और मुझे मिमियाकर क्षमा माँगनी पड़ी है। तुम्हें किसी के दो बोल बरदाश्त ही नहीं होते। कोई एक सुनाता है, तुम चार सुनाकर ही चुप होती हो। झगड़ते हुए तुम्हें जरा भी होश नहीं रहता कि उसका क्या परिणाम हो सकता है। जरूरी नहीं है कि हर बार मेरे मिमियाने का असर हो ही गया हो। क्या पता, कब किसने क्या कसम खायी, कब किसने मुझे नेस्तनाबूद करने का प्रण ठान लिया और उसे आज अपना प्रण पूरा करने का अवसर मिल गया हो। कोई भाँजा-भतीजा ही पुलिस की नौकरी में आ गया हो और फिर उसकी मदद में। पुलिस के पास तो सौ उपाय होते हैं किसी को भी फँसाने के। भाँजा-भतीजा ने जवाब दिया होगा, 'यह तो मेरे बायें हाथ का खेल है, मामा या चाचा।'"

"आपका मतलब है कि चालीस साल पहले मैं दहाड़ी थी और चालीस साल बाद आज आपको पुलिस पकड़ने आ रही है?"

"हो सकता है, हो सकता है ऐसा।"

"नहीं हो सकता।"

"तुम टोले-महल्ले की खबर तो रखती हो, मगर देश-दुनिया की खबर तुम्हारे पल्ले नहीं पड़ती," अवध बाबू बेलूरी पत्नी को होशियार बनाने बनाने की मुद्रा में आ गये, "मैंने एक कहानी पढ़ी थी, पचीस साल से अपने पति के साथ रह रही एक औरत ने घर में पड़ी तलवार से अपने पति को ही काट डाला था जब उसके पति ने उसे सुनाया कि पचीस साल पहले उसने ही उसके प्रेमी लौंडे की हत्या कर डाली थी। यह तो कहानी की बात हुई, अब एक इस इलाके की घटना सुना दूँ। रामनगर मेला में कुश्ती देख रहे लक्ष्मीपुर के एक बच्चे को युवा आयोजक ने थप्पड़ मार दिया था। पूरे बाईस साल बाद जवान हो चुके उस बच्चे ने बूढ़े हो चुके उस आयोजक को अपने गाँव लक्ष्मीपुर में घोड़े से जाते हुए देखा और घोड़ा रोक लिया। घोड़े से उसे उतारकर एक थप्पड़ मारा और बोला, 'अब जाओ।' अब बोलो, ऐसा क्यों हुआ, पचीस साल बाद, बाईस साल बाद? आदमी का दबा हुआ गुस्सा कब फूट पड़े, इसका कोई ठीक नहीं। तुम्हारा ध्यान किसी के गुस्से पर कभी नहीं जाता होगा, मगर मेरा ध्यान इस बात पर जाता है कि कौन कितने गुस्से में है और कब तक वह इस गुस्से की आग में जलता रह सकता है। केवल ध्यान ही नहीं जाता, बहुत सावधान भी रहता हूँ मैं। तुम्हें याद होगा कि उसके साथ मेरी कैसी लड़ाई हुई थी। मेरा प्रिय छात्र था वह और मेरे ही विरुद्ध उठ खड़ा हुआ, पिस्तौल तान दी थी मेरे ऊपर। अपनी गन्दी हरकतों के कारण उसे कितना ज़लील होना पड़ा था। मैंने उसके विरुद्ध पुलिस तक को रिपोर्ट कर दी और फिर उसके बाप को खबर भेज दी। क्या तुम समझती हो कि उसके दिल में बदला लेने का खयाल नहीं आया होगा? समझती हो कि बदले की आग भड़की होगी और महीने-दो महीने में बुझ गयी होगी? हो सकता है आग बुझ गयी हो और यह भी हो सकता है कि वह आग कभी बुझे ही नहीं। वह दो बार मुझसे क्षमा माँगकर गया था, मगर तीन साल बाद ही अपनी शादी में शरीक होने के लिए निमंत्रण देने आ गया और मैंने हाँ तो भर दी, मगर गया नहीं लगभग बीस वर्षों के बाद वह मुझे पटना में मिला था। अच्छी नौकरी और अच्छी कमाई कर रहा था वह। जिद कर बैठा कि मैं उसके आवास पर चलूँ। मैं बहाना बनाकर निकल गया। मैं उसके घर जाता भला! मुझसे बदला लेने के लिए उसे उससे

अच्छी जगह मिलती क्या ? हाथ-गोड़ तोड़कर ही छोड़ देने का खतरा उठाता क्या ? मेरा अन्त कर ही मानता। तुम किसी दुश्मन के दिल में नहीं झाँक सकती, मगर मैं झाँककर देख सकता हूँ कि उसके दिल में आग सुलग रही है या नहीं और कभी सुलगी थी तो कब तक धधकती रहेगी। इसीलिए तुमसे कहता हूँ कि सदा सावधान रहा करो। संकट घंटी बजाकर नहीं आता।"

"मैं घर के अन्दर रहती हूँ और बहुत सावधान रहती हूँ कि कोई बिल्ली आकर दूध न पी जाये, दाल में गिरगिट न गिर जाये, तरकारी जल न जाये। इससे अधिक सावधान रहने की मुझे जरूरत नहीं है। आप रहा कीजिये सावधान, चौबीसों घंटे सावधान।"

"मगर मेरी तरह तुम सावधान नहीं रहोगी ?"

"नहीं रह सकती," पत्नी ने जवाब दिया, "मेरे लिए सम्भव नहीं है कि बीते चालीस साल के एक-एक झगड़े की पड़ताल करूं कि कब किसमें कैसा और कितना गुस्सा पैदा हुआ होगा और मैं किस पुराने चेहरे को देखते ही झट घर में बन्द हो जाऊँ।"

"एक बात जान लो," जाते-जाते बूढ़े अवध भगत ने पत्नी को सुनाया, "जो विशुद्ध मेरा दुश्मन होगा वह भी पहले तुम पर ही वार करेगा यह सोचकर कि अगर बुढ़िया मर गयी तब तो बूढ़ा साल भर के अन्दर 'हर्ट अटैक' से आप ही मर जायेगा, और अगर साल भर बाद भी जिन्दा रह गया तो शेष सारी उमर चूल्हा-चौका करेगा और बुढ़िया को गालियाँ देते हुए घुट-घुटकर मरेगा।"

"ठीक है, मैं मरने के लिए तैयार हूँ, आप अभी से गालियाँ सुनाने के लिए तैयारी कर लीजिये।" बुढ़िया ने भी सुना दिया।

अपने कमरे में घुसने से पहले अवध बाबू कुछ इस तरह बुदबुदाये कि उनका कहा पत्नी के कानों में भी घुस जाये, "साली औरत जात होती ही है ऐसी कि जब तक चोट नहीं खा जाये तब तक चौकस-चौकन्नी हो ही नहीं सकती।"

पत्नी ने बुदबुदाकर भी कोई जवाब नहीं दिया, तो अवध बाबू अपनी इस हेठी से अत्यन्त आहत हो गये।

कहीं पढ़ा था या किसी से सुना था कि हर व्यक्ति के जीवन में कम-से-कम एक बार कोई एक महासंकट आता है जो, अगर बचने की राह नहीं निकाल पाये तो, उसे मटियामेट तक कर सकता है। अवध बाबू सिहर उठे।

ऐसा नहीं कि पहली बार महासंकट का खयाल आया था उनके मन में। पहले भी कितनी ही बार कोई संकट आया जिसे वे महासंकट मान बैठे, और बाद में वही संकट ऐसा फुसफुसा निकला कि उस पर हँसा ही जा सकता था, जैसे कि जिसे धोखे से 'साँप' समझ रहा था वह 'रस्सी' निकल गयी। मगर इस बार का मामला तो कुछ और है। इस बार कहीं कोई रस्सी नहीं, साँप ही है। अभी तक के हर मामले में पुलिस नहीं थी; इस बार पुलिस गैरहाजिर नहीं है, हाजिर है।

पुलिस को पटाने का... अचानक उन्हें याद आया पुलिस का दलाल। सौभाग्य से इस मोहल्ले में भी पुलिस का एक दलाल है, राजू, मगर है साला कमीना। पुलिस को पटाता तो है, मगर असामी को डरा-धमकाकर दुह भी लेता है। कभी-कभी तो पुलिस जितना नहीं खाती, उससे अधिक यह साला दलाल ही खा जाता है। साहू जी दलाल के चक्कर में नहीं पड़े थे, सीधे थानेदार से बात कर ली। तभी तो सात हजार पर मामला निपट गया। कोई दलाल आ घुसता तो थानेदार को पचीस हजार पर अटल-अडिग रखे रहता। उन्हें एक बार फिर कसक हुई कि उन्होंने साहू जी से पुलिस को पटाने का गुर नहीं सीखा। जिन्दगी में क्या-क्या सीखकर रहना चाहिये! वे अपने ऊपर ही बौखला उठे।

वे एक बार फिर पत्नी के पास पहुँचे; बोले, "पुलिस अभी तक आयी नहीं है!" पत्नी ने झनककर जवाब दिया, "तो मैं बुला लाऊँ ?"

बेहद आहत हुए अवध बाबू, बेहद गुस्सा आया। कुछ देर तक मौन खड़े रहे और फिर बोले गये, "तुम समझ नहीं रही हो कि मामला कितना संगीन है।"

"आपको," पत्नी का जवाब तैयार था, "हर मामला योंं ही संगीन लगता है।" और कुछ बोलना-बताना बेकार लगा अवध बाबू को; वे अपने कमरे में आ गये।

जब देर तक किसी खुर-खार खटर-पटर की आवाज बूढ़ी के कानों में नहीं पड़ी, तो उसे शक हुआ कि बूढ़ा बिना बताये ही तो घर से बाहर निकल नहीं गया। घर में तो इतनी देर तक बिना बकबक या झगड़ा किये यह प्राणी रह नहीं सकता है, यह सोचकर वह पति का हाल जानने रसोई से बाहर निकल आयी। किसी कमरे में बकबकिया को

नहीं पाकर वह बरामदे पर निकल आयी और 'हाय राम' के साथ कुछ बुदबुदाने को ही थी कि उसने बूढ़े को बाँस की सीढ़ी से छत से उतरते देखा। "हाय राम!" उसके मुँह से बेसाख्ता आवाज फूटी, "यह क्या किया आपने!" इतने भर के लिए ही मुँह खुल पाया था उसका। उसके बाद वह सीढ़ी के पास दम साधे खड़ी रही और बूढ़े को बिना किसी बाधा के सावधानीपूर्वक नीचे उतरने दिया।

'हाय राम!' बूढ़ी के मुँह से निकली घोर अकृत्रिम आवाज थी। छत पर जाने के लिए पक्की सीढ़ी नहीं थी, बाँस की सीढ़ी थी। बाँस तीन-चार साल पुराने थे; बल्लियों की रस्सियाँ लगभग सड़ चुकी थीं। सीढ़ी खतरनाक थी। पन्द्रह दिन पहले ही एक लड़का अपनी कटी पतंग ले आने चुपके से छत पर चढ़ा था और उतरते समय फिसलकर गिरा था एक बल्ली को साथ लिये। सर फूटा था, इलाज कराना पड़ गया था।

बूढ़े के नीचे उतरते ही बूढ़ी बरस पीड़ी, "यह क्या सूझा आपको कि छत पर चढ़ गये? मुझे तो दिन-रात भाषण पिलाते हैं कि सँभलकर चलूँ, गिरूँ नहीं, फिसलूँ नहीं, और खुद लूला-लँगड़ा बन जाने के लिए इस खतरनाक सीढ़ी से छत पर चढ़ जाते हैं! क्या जरूरत थी छत पर जाने की? पुलिस को जब आना होगा, आयेगी; कोई हाँक लगाकर बुलाने के लिए तो छत पर नहीं चढ़ जाता है।"

बूढ़े ने हाथ के इशारे से बूढ़ी को चुप रहने के लिए कहा और टहलते हुए अपने कमरे में आ गये। बूढ़ी का दिल अभी भी धक्-धक् कर रहा था, कुछ इस डर से भी कि कहीं बूढ़ा हाथ-गोड़ तुड़ाने का कुछ और प्रयास न करे। उसने मन में तय कर लिया कि कल से बाँस की यह सीढ़ी घर में नहीं रहेगी। अब बने पक्की सीढ़ी।

कुरसी पर आसन जमाकर बोला बूढ़ा, "मुझे अपनी जान की बहुत फिक्र है, लक्ष्मी। मैं बहुत सँभलकर चढ़ा था छत पर और तुमने देखा ही होगा कि मैं कितनी सावधानी से उतर रहा था।"

"मगर छत पर चढ़ने का जरूरत ही क्या थी? सँभलकर चलने के बावजूद आदमी फिसलता है या नहीं? गिर तो सकते ही थे। पुलिस को जब आना होगा आयेगी; छत पर चढ़कर क्या देखना कि पुलिस मोहल्ले में घुसी है या नहीं!"

"पुलिस अभी तक नहीं आयी है," बूढ़ा बोला, "तो अब दिन में आयेगी भी नहीं; पुलिस आयेगी रात में, रात के बारह बजे। घर को चारों ओर से घेर लेगी और फिर दरवाजा खटखटायेगी, 'खोलो दरवाजा।'"

"'खोलो दरवाजा' बोलने भर से हम दरवाजा नहीं खोल देंगे," बूढ़ी झट बोल गयी, "आपने कितनी ही बार मुझे चेताया है कि आजकल पुलिस के वेष में डाकू भी आया करते हैं।"

"मुझे बहुत खुशी हो रही है, लक्ष्मी, कि मैंने तुम्हें चेताया और तुम चेती हुई हो। मुझे इस बात की खुशी है कि तुम बहुत बातें भूलती तो हो, मगर यह बात तुम्हें याद है।"

"मुझे यह भी याद है," बूढ़ी ने कुछ हुलसकर कहा, "कि रात के बारह बजे आप भी दरवाजा खटखटायें तो मैं तब तक नहीं खोलूँ जब तक आप 'चकाचक' नहीं बोलते हैं।"

बूढ़ा मुस्कुराया, "चकाचक?"

"हाँ, चकाचक।"

बूढ़ा अचानक कुछ गम्भीर हुआ, कुछ सोच में पड़ा और फिर बोला, "लक्ष्मी, मुझे एक शक हो रहा है।"

"क्या?"

"यह 'चकाचक' कम-से-कम पाँच साल पुराना तो जरूर हो गया है। अब तक किसी के कान में यह जरूर चला गया होगा। अब हम इसे बदल दें।"

"किसी के कान में 'चकाचक' नहीं गया है, मैं जानती हूँ।"

"तुम नहीं जानती," बूढ़े ने जोर देकर कहा, "चोर सारी जानकारी लेकर आते हैं। विपिन पाल के घर में चोर घुसा और पाँच मिनट के अन्दर चोरी करके चला गया। कमरे में बारह अटैचियाँ थीं। चोर ने एक उसी अटैची को उठाया जिसमें सारे गहने-जेवर थे। घर के सारे लोग सोये रह गये। चोरी का पता सुबह चला। यह एक रहस्य ही बना रह गया कि चोरों को उस अटैची के बारे में जानकारी कैसे मिली। दीवार के भी कान होते हैं; मैं यह नहीं मान सकता कि किसी कान में 'चकाचक' अभी तक गया ही नहीं होगा। जब हमें शक हो गया है, तो अब हम कोई खतरा क्यों

उठायें? इसमें क्या हर्ज है कि आज से 'चकाचक' नहीं बोलकर हम कुछ और ही बोलेंगे?"

"कोई हर्ज नहीं है," बूढ़ी ने जवाब दिया, "क्या बोलेंगे आज से?"

बूढ़े ने सोचने में कुछ समय लगाया और फिर बोला, "डाकू... डाकू।"

बूढ़ी ने गौर से बूढ़े के चेहरे को निहारा और फिर बोली, "ठीक है, आज से 'डाकू'; अभी बतायेंगे कि पुलिस क्यों आयेगी रात के बारह बजे और घर को चारों ओर से घेर क्यों लेगी?"

"पुलिस आयेगी घर की तलाशी लेने।"

"आये तलाशी लेने; दिन में आये, रात आये," बूढ़ी ने झिड़कती आवाज में कहा, "आप छत पर क्यों चढ़े अभी? जगह देखने गये थे? पुलिस के आने पर क्या आप छत पर जा छिपेंगे? मैं भी कहीं छिपूँगी क्या!"

"ओह, जगह देखने नहीं गया था," बूढ़ा बोला, "एक शक हो गया था मुझे, वाजिब शक।"

"क्या?"

"घर मेरा देखा हुआ था," बूढ़े ने बताया, "पर छत तो मैंने नहीं देखी थी। पुलिस आयेगी, तो क्या छत पर भी नहीं चढ़ेगी? मान लो, वहाँ उन्हें कोई ऐसी-वैसी चीज मिल जाये..."

"कैसी चीज?"

"मान लो, किसी आदमी का कटा हुआ सिर।"

"कटा हुआ सिर!" बूढ़ी ने नाक-भौं सिकोड़ी, "यह क्या-क्या सोचते रहते हैं आप? कोई आदमी पहले तो किसी आदमी का सिर काटेगा और फिर हमारे घर की छत पर रख जायेगा! ऐसा हो सकता है क्या?"

"हो सकता है; ऐसा हुआ है," बूढ़ा चालू रहा, "मैंने एक कहानी पढ़ी थी जिसमें एक आदमी ने किसी डाकू का कटा हुआ सिर अपने दुश्मन के आँगन में फेंक दिया था।"

"उस आदमी को मिल गया होगा डाकू का कटा हुआ सिर। हमारा कोई ऐसा दुश्मन नहीं है जो हमें फँसाने के लिए किसी आदमी का सिर काटने जायेगा। बोलिये तो, कौन है हमारा ऐसा दुश्मन?"

"यह तो मैं नहीं बता सकता," बूढ़े ने जवाब दिया, "मगर जान लो कि संसार में ऐसा एक भी आदमी नहीं है- कितना भी भला हो वह आदमी- जिसका कोई एक भी दुश्मन नहीं है। हम जिस दुनिया में रह रहे हैं, लक्ष्मी, वहाँ तो कोई चैन से जी रहा हो तो इस कारण भी बहुतों को बेचैनी होने लगती है। यह मानकर चलो कि हमारे भी कुछ दुश्मन होंगे ही।"

बूढ़ी ने कोई जवाब नहीं दिया, केवल गहरी निगाहों से बूढ़े को घूरती रह गयी।

बूढ़े ने अपनी बात जारी रखी, "हम यह भी नहीं जानते कि कौन हमारा कितना बड़ा दुश्मन है। नहीं जायेगा सिर काटने, मगर वर्षों से इन्तजार कर रहा होगा हमारा सबसे बड़ा दुश्मन हमसे भारी प्रतिशोध का। कटा सिर मिल गया तो टिका दिया हमारे घर की छत पर और पुलिस को खबर कर दी। गाँव-देहात के खेत-बहियार में लाशों के मिलने की खबरें तो अखबार में छपती ही रहती हैं। लाश देखी होगी और सिर काटकर निकल गया होगा। ऐसा तो हो ही सकता है।"

"कैसी-कैसी शंका उपजती है आपके मन में! उम्र तो मेरी भी हुई है, मगर मैं आपकी तरह सठियायी नहीं हूँ। इतनी दूर तक सोचते हैं आप! कैसा-कैसा डर पालते हैं? आदमी को इतना डरना नहीं चाहिये।"

"आदमी को डरना तो चाहिये, लक्ष्मी, और किसी भले आदमी को तो अवश्य डरना चाहिये, नहीं तो वह सुरक्षित नहीं है। आलम साहब कितना डरे हुए थे जब बाढ़ के पानी में बहकर एक लाश उनके मकान से आ लगी थी। उसी वक्त शाम में दौड़े-दौड़े आये थे मेरे पास कि अब क्या करें वे। भला हो उस बाढ़ का ही जो सुबह होने तक लाश को कहीं और बहा ले गयी। अगर किसी पुलिस वाले की नजर उस लाश पर पड़ गयी होती तो, पता नहीं, आलम साहब कितनी बड़ी मुसीबत में फँस जाते। उनका डरना वाजिब था।"

बूढ़ी को कुछ सूझा नहीं कि अब वह क्या बोले; बूढ़े को बहुत बातें सूझ रही थीं बोलने के लिए, "और सुनो,

मैं सोचता हूँ, दूर तक सोचता हूँ, तभी तो अभी तक बचाता आ रहा हूँ अपने आपको। सोचो, अगर कोई कटा सिर होता छत पर, तो पुलिस हमारा क्या हाल कर देती! ईश्वर की दया से ऐसा कुछ भी नहीं है छत पर, मगर हमें अपनी शंका तो दूर कर ही लेनी थी।"

"विक्लव।" बूढ़ी बुदबुदायी।
"क्या बोली ?"
"कुछ नहीं।"

बूढ़ी के पास बकबक करने का समय नहीं था; वह कुछ और बोले बगैर चली गयी।

कोई और समय होता तो बूढ़ा आदतवश बूढ़ी का पीछा करता और यह जानकर ही दम लेता कि वह क्या बोली, पर अभी उसके पास समय नहीं था; पुलिस किसी भी समय आ सकती थी। दूर-दूर तक सोचने में व्यस्त हो गया।

क्या उन्हें जेल भी जाना पड़ सकता है ? इस खयाल से सिहर उठे वे। अगर पुलिस को उनके विरुद्ध कोई अपराध लग जाता है, तब तो... मगर, कुछ ठमककर सोचा उन्होंने, अपने जैसे सफेदपोशों को तो उन्होंने जेल जाते देखा नहीं है। जेल में तो मरभुक्खों और अधमरुओं की भीड़ होती है। वे खुद सफेदपोश तो कहे जा सकते हैं, मगर अपराधी तो बिलकुल नहीं हैं। उन्होंने खुद को धिक्कारा, क्यों मैं डरता हूँ इतना ? मेरे जैसे लोग तो नहीं हैं जेल में; मैं कैसे पहुँच जाऊँगा ?

धिक्कारने के बाद भी अन्दर का डर कम नहीं हुआ। अगर पुलिस आ रही है, तो कोई अपराध तो उसके दिमाग में होगा ही। कौन-सा अपराध सिद्ध कर देगी, राम जाने! सफेदपोश अपराधी कैसे बच निकलते हैं जेल जाने से ? इस सवाल का जवाब तो... जवाब तो हर किसी के पास है- पैसे के बल पर।

यह तो जानी हुई बात है कि कोर्ट-कचहरी में न्याय नहीं जीतता, अच्छा वकील जीतता है। बड़ा-से-बड़ा अपराधी अच्छा-से-अच्छा वकील रखकर बाइज्जत बरी हो जाता है। उनकी नज़र में नहीं आता कोई संगीन मामला, मगर पुलिस तो किसी भी मामले को संगीन बना सकती है। तब क्या उनका काम इस विपिन बाबू वकील से चलेगा। नहीं, उन्हें कोई अच्छा वकील चाहिये। यह विपिन कुमार तो नाम का वकील है। उसके आस-पास तो कभी किसी मुवक्किल को आज तक नहीं देखा है। कचहरी में कुछ दस्तखत करता होगा और कुछ पैसे झाड़ लाता होगा।

अच्छा वकील ?

इसी समय पत्नी कमरे में हाजिर हुई और सुनाया, "मेरे नाना भी बिलकुल आपकी तरह थे। उनके पुरोहित उन्हें 'विक्लव' कहा करते थे। विक्लव उसे कहते हैं जो हर वक्त डरा-डरा हो, बेचैन हो, घबराया हुआ हो, शंकाओं से घिरा हो, बिलकुल आपकी तरह।"

"मेरी तरह ?" बूढ़ा मुस्कुराया।

"हाँ, आपकी तरह," पत्नी बोली, "आप बचपन से ऐसे ही हैं। आपने ही मुझे बताया था बचपन में एक बन्दर आपके कन्धे पर आ बैठा था और फिर उतर ही नहीं रहा था; तब आपको लगा था कि अब वह बन्दर आपके कन्धे से कभी उतरेगा ही नहीं, आप बूढ़े हो जायेंगे तब तक भी नहीं। एक दिन आपके घर की बिजली गुल हो जाती है, तो आप सिर धुनने लगते हैं कि अवश्य कोई षड्यन्त्र चल रहा है आपके विरुद्ध और अब कभी आपके घर में बिजली आने वाली नहीं है। इस मकान पर एक सरकारी नोटिस आ गयी, तो आप लगे इस चिन्ता में मरने कि अब यह मकान हाथ से गया, कि अब कहाँ टिकान होगा आपका, कि बेटा अपने घर में रहने देगा या नहीं। यह खबर भर आयी कि पुलिस आ रही है और आप लगे घर की छत पर आदमी का कटा सिर ढूँढ़ने। आप तो ऐसे हैं कि अपने पिछले चालीस सालों को अपने साथ लिये चलते हैं। इस तरह दुनिया नहीं चलती है..."

"तुम घर की घरनी क्या जानो कि घर के बाहर क्या हो रहा है। मैं जानता हूँ कि दुनिया कैसे चलती है," बूढ़े ने पत्नी को रोका, "मैं बहुत पैनी निगाहों से इस दुनिया को देख रहा हूँ। अब हर किसी को विक्लव हो जाना होगा, हो जाना चाहिये। अब निश्चिंत जिन्दगी कहाँ! जो निश्चिंत हुआ, डरा नहीं, घबराया नहीं, मेरी तरह दूर-दूर तक नहीं सोच लिया, उसका जीना कठिन होगा। मैं शंकाओं से घिरा हूँ, वह कष्टों से घिरा रहेगा। अब तुम जा सकती हो; मैं अभी भी कुछ सोच रहा था।"

पत्नी के जाते ही उनके सामने 'अच्छा वकील' उछलकर आ गया।

उन्हें इस बात का मलाल हुआ कि इतने वर्षों से इस शहर में रह रहे हैं और उन्हें किसी अच्छे वकील से परिचय नहीं है। परिचय तो दूर, अच्छे वकीलों के नाम तक उन्हें नहीं मालूम। उन्हें हर हाल में अच्छा वकील चाहिये। अभी ही सम्पर्क कर लेना जरूरी होगा। क्या करें वे ?

उनके दिमाग में कौंध गया एक नाम, बजुर्ग समाज के अध्यक्ष भोलानाथ आलोक का। हर मुसीबत में उनकी मदद मिली है। उन्होंने भोला बाबू को फोन लगाया।

भोला बाबू 'हैलो' के साथ ही पूछ बैठे, "आपके यहाँ पुलिस गयी थी ?"

अवध बाबू विकल हो उठे, भोला बाबू को खबर थी कि उनके घर पुलिस आयेगी, मगर अभी तक उन्हें खबर नहीं की। मामला कोई संगीन ही है, और अब, लगता है, भोला बाबू भी मदद में आने से रहे। उन्होंने फोन पर भोला बाबू को बताया, "पुलिस अभी तक तो नहीं आयी है," और फिर डरी हुई आवाज में पूछा, "मगर क्यों आयेगी पुलिस ?"

भोला बाबू ने जो कुछ बताया उसे साँस रोककर सुना अवध बाबू ने और उनका कमल खिल गया। देर तक वे राहत की साँसें लेते रहे और फिर देर तक खुशी की साँसें छोड़ते रह गये।

फिर वे उठे, पत्नी के पास जा पहुँचे और उससे बहुत ही उदास स्वर में कहा, "लक्ष्मी, अब पुलिस, समझ लो, हर हफ्ते आयेगी।"

"हर हफ्ते ?" पत्नी चमक उठी, "हाय राम, यह क्या बला ले आये ? क्या-क्या करते रहते हैं आप ?"

जवाब में पति ने सुनाया, "पुलिस आया करेगी हमारा हाल-चाल पूछने; यह पूछने कि हम भले-चंगे तो हैं, किसी कष्ट में तो नहीं हैं, कोई सता तो नहीं रहा है। सरकार को अब इस बात की चिन्ता है कि किसी बुजुर्ग को कोई तकलीफ तो नहीं है।"

बोलते हुए उनके होंठों पर मुस्कुराहट उतर आयी। मुस्कुराकर वे वहाँ रुके नहीं कि अब पत्नी के मुँह से किसी विक्लव की निराधार शंकाओं के ढेर सारे किस्से सुनने को मिलेंगे। वे अपने कमरे में आ गये और तुरंत अमन के दादा शंभुशरण को फोन लगाया। 'हैलो' की आवाज सुनते ही उन्होंने हँस-हँसकर पूछा, "कहिये, शंभु बाबू, क्या हाल-चाल है ? आपके पास पुलिस भी आयी थी ?"

गुरुद्वारा रोड, महबूब खाँ टोला,
पूर्णिया-854301
मो. 9931018938

महेश कटारे

उलझन के दिन

अषाढ़ का दिन अषाढ़ की तरह ही आया था। पढ़े लिखों की भाषा में जिसे प्री मानसून कहा जाता है, उसमें पानी की पहली आमद हो चुकी थी और तपती धरती की साँसों से ऊपर उठती हवा आसमान की पोल में पहुँच ठहर गई थी। मौसम थोड़ा चिंतित और उमसभरा था, जिसमें चुहचुहाता पसीना उमगकर बूदों के रूप में ढुलकता, चिपचिपाता रहता है। बीमारी की गिरफ्त में आई मटमैली सी धूप छतों खपरैलों से होकर पश्चिम वाली पहाड़ी के सिरे पर सिकुड़ती हुई बैठने लगी तो मास्टर, वेदराम ने अपनी खटिया बैठकी से निकाल बाहर चबूतरे पर बिछा ली।

यह उनका रोज का नियम है कि आसमान साफ हो, लू लपट मंद हो जाय तो खटिया के सिरहाने तकिया जमा आसपास दो कुर्सियाँ डाल लेते हैं कि आने वाले सुविधा से बैठ सकें। वह खुद खटिया पर बैठे अथवा तकिया के सहारे अधलेटे होकर अपनी छाती के आसपास सीकों या खजूर से बना पंखा डुलाते हुए पसीना सुखाते रहते हैं। सिरहाने की ओर बीड़ी का बंडल और माचिस रखी होती है। मास्टर साहब स्वयं धूम्रपान नहीं करते पर आंगतुकों के बैठने का आसरा और स्वागत का साधन धुँआ ही तो बचा है। फागुन के बाद नई साल के साढ़े तीन महीनों में गाँव आधे से अधिक खाली हो गया है। कुछ लोग अकेले-दुकेले तो कुछ बालबच्चों की पोटली के साथ शहर या उससे भी आगे दिल्ली, पंजाब की मजूरी पर निकल गये हैं। वैसे तो बैशाख जेठ में फसल उगाहने के साथ ही शादी ब्याह के सहालग की भी भागदौड़ रहती है पर आसमान से आई ओले पानी की आफ़त ने ब्याह की भाँवरें स्थगित करा दीं। गाँव के इक्का-दुक्का संपन्न अथवा किसी मजबूर के घर में ही लगुन, मण्डप की ढोलक बजी है। पैसे वाले तो यूँ भी शहर जाकर ब्याह बरौना निपटाते हैं। गाँव लगातार मरभुक्खा बनता जा रहा है। एक का न्यौता दो तो बालबच्चों को समेट चार आकर पत्तल डाल बैठ जायेंगे और इतना ठूँस लेंगे कि दो दिन तक पेट पर हाथ फेर-फेरकर डकारें लेते रहें।

औरों की तरह फसल मास्टर जी की भी चौपट हुई है पर जैसे झलका पंडित पर इसका असर नहीं वैसे ही यहाँ भी हाय-हाय वाली कोई बात नहीं। पच्चीस हजार महीने की पेंशन है और एक लड़का फौज में। अत: इनके यहाँ गाय भेंस के लिए चारा और परिवार के राशन की समुचित व्यवस्था है। जीवन में कोई ऐब पाला नहीं सो पूरी पेंशन खाते में ही

जमा होती रहती है। हाँ, चुनाव के समय से पंचायत के पचुआ-फेर में आ पड़े तो बीस-तीस रुपये बीड़ी बंडल के धुआँ धर्रे और चार छह कप चाय का खर्चा जरूर होने लगा है। चार छह लोग घण्टे दो घण्टे के लिए पास आ बैठते हैं तो चुनाव में हार की कचोट ज्यादा नहीं सालती। अखबार भी अब गाँव तक पहुँचने लगा है तो कुछ उसकी प्रतीक्षा और बाद में पूरी खबरें पढ़ने में आधा दिन कट जाता है। किसानों की आत्महत्या वाली खबर को वह स्याही से घेर देते हैं।

किसानों का मरना भी धीरे-धीरे कम हो चला है। लगातार एक ही काम से ऊब भी होने लगती है। मरने की खबरें वैसे भी कम दी जाती हैं... अब तो इतने किसान मर चुके हैं कि कोई उत्सुकता, उत्तेजना भी नहीं बनती। वैसे भी राजनीति, क्रिकेट, करप्शन, कार्पोरेट और सिनेमा से ही जगह नहीं बचती। इधर रोज-रोज ऐसे रोचक-स्कैण्डल हैं कि दिन भर दिल गुदगुदाता रहे... दिमाग सनसनाता रहे।

भई, सीधी सी बात है अख़बार या चैनल में पैसा लगाया है तो मुनाफ़ा भी चाहिए। ख़बरों वाले कोई धर्मखाता तो चला नहीं रहे। किसान के पास न बिकने का हुनर न खरीदने की औकात। एक वोट जरूर है सो जाति या धर्म के नाम पर किसी न किसी देना ही है।

इस बार भी जातियों के गोलबंद वोट पड़े थे। बहुत हवाला दिया मास्टर जी ने भलमन साहत और ईमानदारी का। ग़रीब-गुरबा ने गुपचुप समर्थन भी दिया पर दारू, लठैती और जोड़तोड़ की तिकड़म के आगे हारना पड़ा। अब गाँव से बिजली गायब है। दोपाये चौपाये दाना पानी के लिए भटक रहे हैं... मर रहे हैं तो मास्टर साब क्या करें। उसकी नाक पकड़ो जिसे चुना है। करने धरने का बजट तो उसके हाथ में है- खुद खाये चाहे अपनों में बाँटे।

मास्टर साब इसी तरह बड़बड़ाकर भड़ास निकालते, खीझते रहते हैं। इस समय भी ऐसी ही तैयारी थी कि गली के मोड़ पर राजाराम आता दिखा। वह प्राय: ही शाम को यहाँ घण्टे दो घण्टे बैठ मास्टर साब का खाली और खिजलाया समय बाँटता है।

'गुरु जी ! जै राम जी की।'- राजाराम मास्टर जी को गुरु जी कहता है।

'जै सियाराम, आज जल्दी निकल पड़े राजाराम..।'

राजाराम ने बैठने के लिए कुर्सी ठीक की, फिर बैठते हुए बोला- 'हाँ, गुरु जी ! क्या है कि गाँव में अब चुप्पी सी फैली है। अन्याय, अनीति के विरोध की कोई बात ही नहीं करता। हद तो यह है कि कोई-कोई बात भी करता है तो वही बीमारी, मौत और नये मुखिया के समर्थकों के हुड़दंग की... सो भी ऐसी तटस्थता से जैसे ये सब मौसम जैसी स्वाभाविक स्थितियाँ हों। पड़ोस में कोई मौत भी हो जाय तो आदमी बस थोड़ी देर के लिए गंभीर हो लेता है। दुखी होने का जैसे चलन ही चला गया। अजीब बदलाव है जिसे देखो, अपनी पड़ी है।

वैसे मरना झुरना अब कम हो गया है पर हमारे मुहल्ले की तरफ आ निकलो तो रास्ते से ही लगने लगेगा जैसे लोग कहीं मुर्दा जलाने गये हों।

'अरे भई, हम भी इसी गाँव में रहते हैं। तुम्हारे मुहल्ले की तरफ भी तीन चार बार धूम आये हैं...।'

राजाराम ने बीच में ही टोका- 'कितने लोग मिले आपको मुहल्ले में ?... आधे तो आफ़त के दिन काटने बाहर चले गये। अब तो मरने वाले के लिए रोने वालों का भी टोटा है। राने से कुछ चहल-पहल तो लगती थी। लड़ने झगड़ने का हल्ला-गुल्ला भी बंद सा है। चुनाव के बाद एकदम इतना भिड़ लिए कि सोलह फौजदारी कायम हो गईं। जेब में पैसा नहीं तो आगे का रास्ता बंद...। थाना कचहरी में क्या दाँत दिखायेंगे ?... साले कुत्ते तक बस आपस में घुर्राकर रह जाते हैं। हद है।

सलाटे भरी ऐसी शांति से जी घबराने लगता है। अषाढ़ की बूँदों से राहत सी मिठा ली तो उमस बढ़ गई। जी अकुलाने लगा... फिर जाने क्यों मन में आया कि आत्महत्या कर डालूँ यह सही समय है।... थोड़ी देर बाद लगा कि कहीं से बंदूक हाथ में लूँ और जो भी सामने पड़े, उसे मारना शुरू कर दूँ।

मैं बदहवास सा था कि पत्नी सामने आ पहुँची। शायद वह सहम गई थी मुझे देखकर।... हाँ ऐसा ही लगा मुझे। पत्नी के साथ मेरे बच्चों के चेहरे थे। एक आठ दिन से बीमार है... एक के स्कूल खुल गए हैं... लड़की जो अब बड़ी दिखने लगी है। पत्नी तो है ही जो जाने कौन-कौन सी

चिंता में घुलती जा रही है। मैं सोच में पड़ गया और लगा कि मैं न मर सकता हूँ न मार सकता हूँ। ये ज़िन्दगी कायर की तरह भोगनी पड़ेगी।... तो मैं पत्नी और परिवार से पीठ फेर खड़ा हुआ और पाँव इधर ले आये राजाराम भक्कू सा होकर मास्टर जी का चेहरा ताकने लगा।

उसकी बातें सुनकर मास्टर जी तय न कर पा रहे थे कि इसे साँत्वना दें या उत्साह की बातें करें। गाँव में एक यही आदमी है जो खरा बोलता है। थोड़े से लाभ की प्रत्याशा अथवा किसी भय से बड़ों की चापलूसी करने वाले अपने भाइयों को भी सुनाने में वह संकोच नहीं करता। झलका पंडित भी राजाराम से कभी काटता है। एक जगह शेखी बघारते झलका पंडित से उसने कह ही दिया था– 'शास्त्री जी, ज्यादा ऊँचे मत उड़ो। तुम कथा भागवत में रस ले लेकर रासलीला प्रसंग सुनाते हो। मुझे कुल पोपलीला मालूम है कि घर की जलभरी गगरी का आचमन छोड़कर जूठी हड़िया में जनेऊ कौन डुबोता है और कहाँ बाप मेरे एक ही घाट पर. ?

झलका पण्डित अपनी तमतमाहट को खी खी जैसी हँसी में छिपाते हुए यह कहकर खिसक लिए थे कि – 'तें तो पागल है रे... तेरे मुँह कौन लगे। तेरे भाइयों से ही कहूँगा तुझे उल्टी सीधी ज़बान चलाने से बरज लें, नहीं तो ठीक न होगा।'

राजाराम इन दिनों मास्टर साब के हारे का हरिनाम है। गाँव में उसे थोड़ा सरका हुआ तो सभी मानते हैं तथा मास्टर भी उसे व्यावहारिक बनने की नसीहत देते रहते हैं। प्रिय सत्य बोलने के लाभ और अप्रिय सत्य से हानि उदाहरण सहित बातते हैं। राजाराम सुनता है। कभी चुप रहकर गर्दन हिला उनकी बात को मान देता है तो कभी तिनककर मास्टर जी के लुजलुजेपन पर फटकार बरसा देता है–

'माफ करें गुरु जी! मास्टरी की शांत, सुरक्षित, सरकारी नौकरी करते-करते आप लड़ने की कूबत खो बैठे हैं। चोर को चोर कहना चाहते हैं, पर इशारों में। गोया घूँघट के भीतर से आँख मारते हैं। श्रीमान, कुछ हासिल करने की कीमत भी चुकानी पड़ती है–' ऐसे में उत्तेजना से राजाराम की नाक के नथुने फूलने पिचकने लगते हैं। आँखों की बरौनियाँ भोहों को छू उठती हैं... होंठ तिर्थक दिखते हैं। तब मास्टर जी चुप होकर उसके भीतर भरे गुस्से को खाली होने देते हैं। आज भी चुप हुए और राजाराम के चुप होने पर पूछा– 'चाय बनवाऊँ?'

'चलिए, पी लेंगे। वैसे चाय का टैम नहीं हुआ।'

'बच्चा बीमार है तो शहर ले जाकर किसी अच्छे डॉक्टर को दिखाओ।... बहू इसीलिए और परेशान होगी। उसे तुमसे उम्मीद है, तुम्हें खेती से। खेती तुम्हें फल नहीं रही है तो बहू पर चिड़चिड़ा जाते होगे। बहू अपनी खीझ किस पर उतारे?... ख़ैर, पहले बच्चे का इलाज कराओ। जाते समय पैसे लेते जाना। बहू के हाथ में धर दोगे तो उसे आश्वस्ति और हिम्मत मिलेगी। इस पैसे को कर्जा नहीं उधारी मानना. .. बिना ब्याज का। पहला पानी ठीक समय पर बरसा है। आद्रा नक्षत्र में एक पानी और हो गया तो ज्वार बाजरा की बुआई हो जायगी।' मास्टर जी ने उम्मीद का लेप बगाया।

'पर गुरु जी, कर्ज तो उस जुताई-बुवाई के लिए भी चाहिए... बीज भी... फिर खाद...। माना कि मुझे आप दे देंगे पर सैकड़ों हैं गाँव में जिनकी खेती का पहिया कर्ज के सहारे ही ढरकेगा। पिछला चुकाया नहीं तो बैंक से कैसे मिले? और झलका पण्डित जैसे साहूकारों के यहाँ खेत हड़पने और ब्याज में लुगाई से सेवा पाने की नियत है।'

'अब जो होना है सो होता आया है, होता रहेगा। आकाश की चील को छीनकर और आंगन की चिड़िया को चुगकर पेट भरना होता है। वन जाने वाली गाय चरकर पेट भरती है। पूंछ सूँघते साँड़ों को वह कैसे रोके?

'साँड़ को नाथ लो या... या... या बधिया कर दो।'– राजाराम ने मास्टर जी का प्रतिवाद किया 'हाँ...। कोशिश की थी ना हमने। कैसे भी सही, लड़ाई तो हारे। उसके बाद भी जो बन रहा है करने को तैयार हैं। अपने ही गाँव में चौदह मौतें हो गईं– तीन महीने में। कोई फाँसी पर झूला तो कोई कीटनाशक पीकर मर गए। कुछ रात को सोये तो सुबह जगे ही नहीं। हम तुम उनसे तो ठीक ही हैं...। बुरा समय है तो अच्छा भी आएगा ही। तुम तो कल बच्चे को शहर ले जाओ।'

'ले तो जाना ही है पर शायद डाक्टरों ने गुपचुप मीटिंग में प्रस्ताव ही पास कर लिया है कि जिसके पास पैसा नहीं उसे बिना इलाज मरने दो। ठीकठाक या थोड़ा जमा हुआ डाक्टर चार सौ पाँच सौ फीस में लेता है।... फिर तीन चार जाँच लिखता है दो, डेढ़ हजार की। जानते हैं? जाँच में

डाक्टर का कमीशन होता है तीस-चालीस परसेंट। ऐसे डाक्टर आप जैसों के लिए तो ठीक हैं पर मेरे जैसा क्या करे जिसकी जमीन सर्दी जुकाम जैसी मामूली बीमारी में ही झलका पण्डित जैसों के यहाँ गिरवी हो जाती है। फिर भी मैं कर्ज लेकर इलाज तो करवाऊँगा ही पर कल पंचायत की मीटिंग है। पंच होने के नाते मेरा उसमें होना जरूरी है।'

'क्या कर लोगे तुम ? बहुमत तो उसी का है। मुखिया चुना है लोगों ने उसे। वो किसी भी प्रस्ताव पर पंचों से मुहर लगवा लेगा। सेक्रेटरी उसके मुँह की ओर देखता है। और तो और जो पंच उसके विरोध में रहे और जीते हैं, उनमें से भी कुछ उससे सेटिंग के चक्कर में हैं। जानते हो तुम भी।... क्या कर लोगे तुम ?' मास्टर साब की हार वाली निराशा शब्दों में भर आई। 'मैं भी तो चुना ही गया हूँ ना। आप हार गये पर वोट आपको भी मिले हैं। उनका मान रखने के लिए आप उनके हक के लिए नहीं लड़ेंगे ? मरने वालों में से केवल चार के परिवारों को राहत का पैसा मिला है। छह की मौत स्वाभाविक लिखवा दी गई है और दो बीमारी के खाते में डाल दिये... गुपचुप। क्यों ?... इसलिए कि उनपर विरोधी वोटर होने का संदेह था।

अब देखिये कि पंचायत के सदस्य अपना भत्ता बढ़ाने लगभग सहमत और एकजुट हैं। क्या मैं भी चुप रहकर ऐसों की बेशर्मी में शामिल हो जाऊँ ? इन्हें अपने किसान भाइयों के मरने की चिंता नहीं, अपनी जेब की चिंता है। मैंने तो सुना है कि किसी बड़े अधिकारी ने सरपंच को डपट दिया है कि इतने बड़े गाँव में कुछ लोग मरें भी तो क्या फर्क पड़ता है, साल भर में उससे दुगुने पैदा हो जायेंगे। विकास के लिए जनसंख्या जितनी कम रहे उतना ही लाभदायक होता है। तो उल्टी बातों का मुँह मोड़ने के लिए बैठक में रहना जरूरी है।'
'सरपंच लौट आया बाहर से ?'

'लौट ही आयेगा। अभी तो वह जगह-जगह घूमकर लोगों को अपना भाग्यविधाता होना बता रहा है कि 'मैं' हूँ।' राजाराम चेहरे पर उपेक्षा ले आया।

बीड़ी के शौकीन, बतरस के इच्छुक तथा छौंक-बघार के साथ इधर की उधर करने वाले रामजुहार करते हुए चबूतरे की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे तो बातचीत का रुख बदल गया। दूसरे दिन सकारे-सकारे मुखिया के मुहल्ले की ओर घमरौल सुनाई पड़ा। लगा कि या तो कोई मर गया या किसी से फौजदारी हो गई। कान लगाने पर गजर के बीच-बीच किसी औरत के रो-रोकर चीखने चिल्लाने के स्वर सुनाई पड़ते। लोग धीरे-धीरे टोह सी लेते आवाजों की ओर बढ़ने लगे। आफ़त की इस साल में लोग हादसे को भी तमाशे की तरह लेने लगे हैं।

सरपंच सुबह की सैरवाली पौशाक में बाहुबली की भाँति कुर्सी पर था। भाई भतीजे आसपास थे। मुहल्ले वाले अपने-अपने घरों से निकलकर द्वारों पर जमा हो रहे थे और चौक में कैलाश की घरवाली नाक तक घूँघट लिए छाती पीट थी- 'ओ, जा हत्यारे पण्डितजी देह में कीड़ा परेंगे। पोर-पोर में कोढ़ फूटेगा। हे राम हम तो लूट लये... प्रभू! अब का करें।'— कैलाश की घरवाली अंगूरी ठीक उसी तर्ज पर बैन करती रोने लगी जैसे द्वार से लाश उठने पर रोया जाता है। मौहल्ले में ब्राम्हणों के घर थे और कोने पर दो ठाकुरों के। स्वाभाविक है कि उसका इस ढंग से रोना सभी को द्वार पर असगुन सा महसूस हो रहा था।

'भौजी, तो से कह तो दिया कि समझायेंगे पंडित चच्चू को। अब खेत उनके नाम होय गया तो जोतने से कौन रोक सकता है उन्हें। तुम्हारे अपने जेठ ने रजिस्ट्री करी है। अपना सिक्का खोटा है तो परखने वाले का कौन दोष। तुम्हें पहले तो रजिस्ट्री रुकवानी थी।'- सरपंच बोला।

'रजिस्ट्री ऊ तुमही ने करवाई हती भैया...। हमें तो बहुत बाद में पतौ चलौ।'

'चलो, वो हो भी गई तो तुम्हें नामांतरण पर आपत्ति करनी थी। अब सब हो चुका तो समझाने के सिवा मेरे हाथ में क्या है ?'- सरपंच ने सफाई दी।

'तुमने ही तो कही हती महाराज कै चुनाव होय जाने दो। तुम्हारा हिस्सा लौटवाय देंगे।'- घिघियाते स्वर में कैलाश ने कहा।

इस वार्तालाप के मध्य अंगूरी का रोना थोड़ा थम गया था ताकि वह चर्चा सुन सके। पति की बात समाप्त होते ही वह फिर से माथा ठोकने लगी- 'हाय-हाय, हमें भरमाय के वोट ले लिये। अब आँखें काहे फेर रहे हो। जेठ ने रजस्टरी करी है तो जेठ का हिस्सा जोते। हमारी छाती काहे रोंद रहे तुम्हारे कक्का...।'

'तू नेंक चुप होयगी कै...।' - कैलाश ने पत्नी को डांटा फिर सरपंच की ओर उन्मुख हुआ- 'महराज, झलके महाराज ने पिछली साल तो कायदे का आधा हिस्सा ही जोता। चलो ठीक है। पर अब पूरा जोत रये जे तो अन्याय है तुम्हारी सरपंची में। राजा है चोरी करे तो न्याय कौन से होय...?' कैलाश ने अपना पक्ष रखा।

'देख दादा! वे अलग हैं और मैं अलग। मेरी सरपंची से पहले जो हुआ उसका दोष मुझपर मत धरो। मैं तो न गलत करूँगा न गलत होने दूँगा।'- आसपास जमा हुई भीड़ को सरपंच ने सुनाया। मुझे पचड़ों से अलग रहकर गाँव का विकास करना है। फिर भी मैं अपने चच्चू से कहूँगा कि तुम्हारा हिस्सा लौटा दें। क्यों भाइयो, मैं ठीक कह रहा हूँ ना!'- सरपंच ने भीड़ से स्वीकृति मांगने की मुद्रा में पूछा।

कुछ चुप रहे, कुछ ने समर्थन में हाथ उठाकर हुंकारा भरा...। इस तरह कि सरपंच की निगाह उन पर पड़ जाये। वैसे अधिकांश को इस प्रकरण की पेचीदगी ही समझ में नहीं आ रही थी। इतना सभी को पता था कि कैलाश के भाई ने झलका पंडित को अपना हिस्सा बेच दिया है पर आधे का पूरा कैसे हो गया यह कानूनी करामात सबके समझ में आने की बात नहीं। अब जो भी हुआ हो, गाँव का मुखिया कोई रास्ता निकालने की सोच तो रहा है।

कुछ जानते हुए भी यों चुप रहे कि साँची कहकर झलका पंडित से बिगार कौन करे? सरपंच की चौकड़ी का सर्वेसर्वा तो वही है। चोरों से रार गरीब पर मार की तरह पड़ती है। अगले चुनाव तक इन्हीं की सरपरस्ती में समय गुजारना है। जो काला-पीला कैलाश के साथ हुआ वैसा ही किसी के साथ भी संभव है। ऐसे में स्वयं को सुरक्षित करना जरूरी है।.. हाँ जी, हाँ जी कहना और इसी गाँव में रहना।

पर अंगूरी के कानों में धरती चीख रही थी। झलका पंडित कमर से पिस्तौल लटकाये बेटे द्वारा अंगूरी कैलाश का खेत जुतवा रहा था। यूँ खेती में कौन सुख का मेह बरसता है पर बाप दादों के ज़माने से परिवार का आसरा और प्रतिष्ठा का कारण रही है ज़मीन। सरपंच से उम्मीद टूटती दिखी तो अंगूरी बिफर गई-

'पिवना सांप मत बन सरपंच; गरीब की हाय मत ले। मेरे बालबच्चे भूखों मरेंगे तो तेरे हू चैन का कौर न चबा पायेंगे।'— कह वह पागल की तरह गाँव के बाहर की ओर चल दी।

कैलाश अपनी बदहवास पत्नी के पीछे दौड़ा। उसके साथ-साथ दौड़ने लगे अधनंग, अधपेट बच्चे। कुछ अन्य लोग भी बरजने समझाने दौड़ पड़े कि औरत जात का क्या-कहो तो कुआ बावड़ी ही कर डाले... फाँसी लगा लटक जाय। कैलाश ने तेजी से आगे बढ़ पत्नी का हाथ पकड़ा पर अंगूरी ने मिसमिसाकर हाथ उमेठ छुड़ा लिया और तेज कदमों से अपने खेत की ओर चली— 'आज मैं अपनी मेंड़ पर ही जान देऊँगी।'

खेत गाँव के गेंउड़े से ही लगा है। पंडित के लिए आंय बांय बकती, रोकने वालों को धकेलती झटकती अस्तव्यस्त अंगूरी झलका पंडित की ओर थूककर जोत के बीच जाकर लेट गई- 'असल बाप का बीज है तो चला मेरे ऊपर से टरैक्टर!'

बेशक चुनौती बहुत बड़ी थी। असल नकल की ऐसी बात पर गाँव में गोलियाँ चल जाती हैं पर सैकड़ों आँखों के सामने अब एक औरत को कुचला भी नहीं जा सकता। झलका पंडित का ऐंठ से भरा बेटा भी जानता है कि जवानी जेल में काटनी पड़ेगी। ट्रैक्टर थमकर घुर्रघुर्र करता धुआँ छोड़ने लगा।

बेटे ने पहली नज़र बाप पर और दूसरी भीड़ पर फेंकी। पाया कि पचास कदम की दूरी पर मुँह से मोबाइल सटाए सरपंच भी आ रहा है। विरोधी पार्टी का भीड़ में भी कोई न था। अधिकतर सरपंच समर्थक थे या बेपेंदी के लोटे जो किसी भी तरफ लुढ़क सकते हैं। चुनाव में ये पक्ष विपक्ष दोनों को अपनी दीनता या धूर्तता में भरमाए रहते हैं। एक प्रकार की उत्सुक चुप्पी थी भीड़ में। कैलाश और उसके बच्चे खेत में पसरी अंगूरी के पास जा बैठे थे। अंगूरी की चुनौती और रोना साथ-साथ चल रहा था।

'राघव! चुटिया तो पकड़ इस लुच्ची की और फेंक दे खेत से बाहर। हम चुप हैं और ये हरामजादी कतरनी सी जुबान चलाय रही है। मैंने सेंतमेंत नहीं लिया है खेत... खरखरे नोट गिने हैं झोली भर। देखें कौन हिमायती दिलाता है इसको खेत। मादर... पीठ पीछे चाबी भरते हैं।... गूदा है तो सामने आयें। चुनाव में कुछ उखाड़ न पाये, अब ऐसे तूपेंगे जे मेरा.

..।' – झलका पंडित ने लोगों के बीच आवाज फेंकने हुए बायें हाथ से अपने गुप्तांग की ओर संकेत किया।

लोग देख सुन और जान रहे थे कि लहक-लहक कर भागवत-कथा बाँचने वाला, लाल, पीले, श्वेत तिलक से कपाल रचाने वाला पंडित बल और गालियों के स्तर पर भी प्रबल है। सरपंच पंडित की बगल में जा पहुँचा और कंधे पर हाथ रख कुछ समझाने लगा। झलका पंडित कभी इन्कार में सिर हिलाता, नथुनेफुला आँखें निकालता, पिस्तौल पर हाथ ले जाता लहराता जाने क्या कुछ कहता सुनता रहा। फिर बेटे की ओर मुँह उठाकर बोला— 'निकाल ला रे ट्रैक्टर बाहर। कल फिर देखेंगे। भेंड़ी के सींग से होय के एक बेर तो निकलना ही है...।'

तमाशबीनों पर विजयी दृष्टि फेंकते हुए झलका पंडित सरपंच के साथ अपनी स्कार्पिओ में जा बैठा और गाड़ी स्टार्ट की। सकार्पिओ के पीछे ही ट्रैक्टर खेत से निकल आया। अंगूरी खड़ी हो एक बार फिर से चिल्लाई— 'पिवना साँप! तोकूँ तो भगवान ई समझैगा...।'

दृश्य में कुछ और नया जुड़ते न पा भीड़ भी लौट पड़ी। भीड़ प्रबल की पक्षधर थी और अन्याय को जोर के बल पर जीतता देखती रही। अंगूरी मेंड़ पर खड़ी आँसू बहा रही थी। कैलाश उसे घर चलने को खींच रहा था... बच्चे भी बार-बार आँसू बहा लेते थे। छोटा सा तमाशा हुआ जरूर पर लोगों के मन और चेहरों पर कोई खुशी न थी। शायद हर कोई स्वयं को हारा सा महसूस कर रहा था इसलिए सब अपने आप में गुम हो गये दिखते थे। चुपचुप लौटने लगे थे कि एक ने भारी पड़ती चुप्पी तोड़ी–

'भाई साँप तो ठीक... सब जानते हैं। पर ये पिवना साँप की नस्ल क्या है... कहाँ पाई जाती है? प्रश्न सुनने वालों ने एक दूसरे की आँखों में झाँका। सरपंच के द्वार पर अंगूरी उदाहरण दे चुकी है पर दोहराने कोई तैयार नहीं। उसके तो सिर पै आ पड़ी है– जैसे सत्तानाश वैसे अट्ठानाश पर दूसरा कौन अपना सिर ओखली में दे? इसलिए सभी लगभग उसी तरह लौट रहे थे जैसे श्मशान में लाश फूँककर लौटते हैं– गुमसुम... उदासी ओढ़े हुए।

घटना की आँखों देखी खबरें अनुमान और कानों सुनी के साथ मास्टर साब् तक पहुँचीं और राजाराम के पास भी। मास्टर जी ने इस समय बड़ी संतुलित प्रतिक्रिया प्रकट की– 'ये तो होना ही था। कैलाश ने वोट उसे दिया है तो भुगते। उनका मामला है ये। बेईमान तो अपना फायदा सोचता है।

राजराम का कहना था– 'अभी तो शुरुआत है। पाँच साल में देखना क्या-क्या होता है...।' इसके अधिक न बोल वह बारह बजे की बैठक के लिए तैयार होने उठ गया। भवन में आज पूरी उपस्थिति थी– उप सरपंच, पंच, पटवारी, ग्राम सहायक जो भी विकास के नियंता थे... सभी थे। एजेंडे में खर्चे के लिए स्वीकृति के विषय को छोड़कर शेष मुद्दों के लिए 'अध्यक्ष महोदय की अनुमति से' लिख दिया गया था। खर्चे वाला प्रस्ताव हाथ उठाकर एक ही झटके में बहुमत से पास हो गया। राजाराम ने इसमें आत्महत्या करने वालों के परिवार को सहायता जुड़वानी चाही तो सचिव ने बता दिया कि इस मद के लिए कोई प्रावधान ही नहीं है। राजाराम का साथ देने वाले सदस्य भी गिनती में काफ़ी कम थे।... फिर अनौपचारिक स्तर पर आज वाली तात्कलिक घटना पर चर्चा होने लगी। सच यही था कि सभी का ध्यान नहीं तो ज्यादातर का ध्यान अपने दायित्वों के प्रति न होकर इस घटना की ओर था। सरपंच से बिगाड़ का भय सदस्यों में भी था। राजाराम इस पर खुलकर कहना चाहता था कि यह सरासर धोखाधड़ी तथा 'जिसकी लाठी उसकी भेंस' वाला मामला है और जीत का लाभ लिया जा रहा है पर वह सोच-सोचकर रह जाता। कोई साथ खड़ा हो तो सच कहा जाये और लड़ा भी जाये पर जो निर्णायक मौके पर प्रतिद्वंद्वी का साथी बने उसके लिए कैसे लड़ा जाये?

मीटिंग वालों के लिए भोजन की व्यवस्था थी... पंचायत-फण्ड से– पूड़ी, कचौड़ी, खीर, रायता आदि की भरी-पूरी थाली। जाति पांत से परे सरपंच द्वारा सामूहिक भोज। सदस्यों का ध्यान चर्चा की बजाय खाने पीने की ओर मुड़ गया। राजाराम ने भोज का बहिष्कार किया तो उसके साथवालों ने भी समझाया– परसी हुई थाली छोड़ने से अन्न का अपमान होता है। हर बात पर सनकपना ठीक नहीं।

ऊपरे मन तथा औपचारिकता में सरपंच ने भी सहभोज में साथ देने का आग्रह किया। मन थोड़ा डगमगाया

भी कि पत्नी बीमार बेटे को लेकर शहर निकल गई है। बेटी ने ही कुछ रूखा-सूखा पकाया होगा तो एक दिन अच्छा-अच्छा स्वाद लेने से क्या फर्क पड़ता है पर भीतर से आती धिक्कार ने राजाराम को रोक ही दिया।

भोजन की तैयारी में थोड़ा बिलंव था। सोचा यह गया था कि मीटिंग कुछ समय लेगी पर वह तुरंत प्रस्ताव और तत्काल समर्थन के साथ ही समाप्त हो गई। खाली समय में फिर से सुबह की घटना का जिक्र होने लगा—

'ये कैलाश की औरत बड़ी मुँहजोर निकली... सरपंच को पिवना साँप कह दिया।'

'वो औरत होने से बच गई। सरपंच पी गया गुस्से को, वर्ना इतनी लातें पड़तीं कि होश ठिकाने आ जाते।'

'सरपंच मारता?'

'अरे यार! ऐसे काम अब भी उसे खुद करने पड़ेंगे? लीडर का तो इशारा होता है बस...।'

'वैसे, ये कैलाश सैडूल भी है, इसलिए भी...।'

'सैडूल नहीं, ओबीसी है... पिछड़ा। कुम्हार है ना!- एक पंच ने जाति चिन्हित की।

'तभी...। नईं तो बिसकी घरवाली बिलाउज फाड़ के थाने पहुँच जाती कि पंडित ने मेरी बेज्जती (बेइज्जती) कर डारी। लेवे के दैबे पर जाते झलका पंडित को।'- दूसरे पंच ने अपना सोच और अनुमान प्रकट किया।

'सो का? बेज्जती के मामले में चाहे जौन सी औरत थाने जाय सकती है। बस बलात्कार की राहत पच्चीस हजार रुपया सैडूल को ही मिलती है। खैर अपने को का करना पर वो पिवना साँप कहाँ से खोज ले आई, हमने तो न देखा न सुना।'- पंच महोदय ने चुपके से दिलचस्प विषय सरका दिया।

एक सदस्य (पंच) मुसकराकर बोले- 'जे तो वो ई बताय सकती है या कोई सँपेरा बताय पावेगा। पर इतना तो हई है कि कैलाश के संग घपला भया है और ये पूरी जानकारी सरपंच को भी है। झलका पंडित ने पैसा खवाया होयगा, नीचे से ऊपर लों सैटिंग सरपंच ने करी होयगी। सरपंच भले ई अब बना पर तेज वो पहले से ई है। किरपा तेली ने झूंठा बँटवारा करवाया वा में भी सहजोग इनका रहा।'

'अब जो भयौ सो भयौ पर साँप कहवौ ठीक नईं है।'

शाम होने तक पिवना साँप गली-गली घर-घर रेंग गया। औरतों तक बात पहुँची। कुछ ने अपने मर्दों से जानकारी भी ली। किसी-किसी औरत को मर्द की डाँट भी पड़ी-

'तेरे कान मैं कौन छोड़ गया जे साँप...?'

'सब दूर बात होय रई है। हों का बहरी हूँ। तुमने नईं सुनी कै झलका पंडित के मुँह पै थूक दियौ अंगूरी कुम्हारिन ने...।' स्त्री ने सूचना की पुष्टि चाही।

'ओ हो, जे तो और ऊपर की बात होय गई। बेमानी बात का तूमार बाँधनों तो कोई तुम औरतों से सीखे। पर के परेबा बनाय के उड़ाय देती हो।'

'कछू होय... एक जनी बड़े मुँह वालों के आगे डटी तो है। आदमी तो मुँह दुबकायें बैठे हैं या बिनके आगें पूँछ हिलाय रहे हैं।... हें हें करत भये।' किसी-किसी मर्द को घर में ऐसे तुनक भरे उत्तर भी सुनने को मिले।

सकारे की हचलच शाम तक फैली रही। बैठक, हो हल्ला, कारिंदों का आना-जाना जैसी सरगर्मी में लोग कुछ समय के लिए भूल गए कि घर में अनाज नहीं है- भूसा नहीं। दवा दूर की चीज है और तीन महीने में मौत ताबड़तोड़ चौदह फेरे गाँव में लगा चुकी है। कई घरों में ताले पड़े हैं, अषाढ़ सिरपर है। धरती मुँह खोलेगी तो बीज बोने की सूरत दूर-दूर तक नहीं दिखती। यही सूरज जो अच्छे दिनों में छैल भँवर बना उजला-उजला दिखता है वही इस बरस दिन में उकताया हुआ और शाम के बाद ऐसी सूनी रात छोड़ जाता है जैसे कोई ग्रहस्थ संन्यासी बन धूनी रमाने किसी गुफा में जा छिपा हो।

चिंताओं का बोझ सिरपर लाद ज़िन्दगी तिल-तिल घिसट भले रही हो इसके बावजूद मास्टर जी के द्वार पर और दिनों से दुगुना मजमा जुड़ा था। मास्टर साब अपनी सनातन खटिया पर तथा पांयते की ओर कुर्सी डाले राजाराम। मास्टर जी को अपनी हार की टीस के अलावा कोई अभाव नहीं और राजाराम को इससे राहत है कि उधार के हजार में से नौ सौ खर्च करने के बाद बेटे का बुखार कम हुआ है। सब कोई इन दोनों में से किसी एक का (भी) मुँह खुलने की प्रतीक्षा

का मुँह जोह रहे थे ताकि बात निकले, बढ़े और यहाँ वहाँ कहने-सुनने, जोड़ने-घटाने का सिलसिला शुरू हो। कैलाश व अंगूरी गाँव से बाहर कहाँ हैं? किसी को ज्ञात नहीं, बस इतना सुराग भर है कि दोपहर के समय थाने के बाहर हनुमान जी के चबूतरे पर बैठे दिखे थे। झलका पंडित भी स्कार्पिओ में सरपंच को बैठाकर ले गया। थानेदार वैसे तो सरपंची के प्रभाव में है पर उसे बार-बार साधना पड़ता है। राजनीति में लाठी डंडे का सहयोग जरूरी है। अन्याय और अपमान के विरोध में कुम्हारों के छहों एकजुट हो कैलाश के बड़े भाई को साथ ले मास्टर जी के द्वार पर आ गए।

'मास्टर साहब! जे अरेआम अन्याय है कि नहीं। जे बिरमा कह रया है कि मैंने दो बीघा की रकम बई है, पंडित ने पूरो खेत कैसें लिखवाय लियौ, नईं मालूम। ठीक है कि या का छोटे भैया कैलास से घरेलू झगरा है पर या मामले में जे भाई का साथ देने कूँ तैयार है।' - एक कुम्हार ने बात रखी। इसने चुनाव में मास्टर जी के पक्ष में वोट किया था।

मास्टर जी ने ओठों पर हाथ फेरा फिर माथामला और जरा आगे झुककर बोले 'हरजीत भाई! तुम्हारे साथ तो हम हर बनी बिगड़ी में हैं पर ये दोनों भाई हमारे विरोधियों के संग रहे। इन्होंने पहले ही सोचना चाहिए था कि डंक मारना उसकी फ़ितरत में है। तुम्हीं सोचो, इनके रट्टे में हम क्यों पड़ें ख़ामखा।' - मास्टर जी ने हरजीत के कंधे पर हाथ रखा।

'पर महाराज, साँची तो कहौगे... ?'

'इन्नें झूठे बेईमानों का साथ दिया तो भुगतना पड़ेगा ना! हाँ, तुम्हारी बात होती तो तुम हमें अपने संग खड़ा देखते। वैसे भी हमारे बीच में कूदने पर लड़ाई आरपार वाली हो जायेगी। कहो, मौके पर गोलीबारी की नौबत बन जाये। समझ रहे हो ना हरजीत...। झलका इस टैम पावर में है सो बुरी ठन जायगी इसलिए हमें झमेले से दूर ही रखो।'-मास्टर जी ने तटस्थता का प्रस्ताव रखा।

'पर जब राजनीति में उतरे हैं आप, तो झमेले झेलने पड़ेंगे गुरु जी। जनता को जब भरोसा हो जाता है कि कोई सचाई के लिए लड़नेवाला है तो वह झूठ के खिलाफ खड़ी हो जाती है। ये एकदम नहीं होता...।'- राजाराम ने हस्तक्षेप किया।

'एकदम तो नहीं होता पर मेरे भाई, खून पेट में खुराक पहुँचने से बनता है बातों से नहीं। खेत अब झलका के नाम है। कब्जा भी उसने लिखा लिया होगा पटवारी के कागजों में। अदालत में भी लड़ो तो, को स्टे होगा यानी यथास्थिति, तो भी फायदा झलका को। पुलिस और पंचायत उसके कब्जे में हैं ही। दीवानी दावा करो तो अदालत में जाने कितने साल में फैसला आये। मतलब यही कि कैलाश की बची खुची जमीन भी बिक जावेगी।... फिर कहीं किसी लालच या भय में सरपंच ने कैलाश को ही अपने पक्ष में कर लिया तो क्या करोगे? इसलिए हरजीत भाई, तुम सोच लो। हम तो कैलाश को नहीं तुम्हें आगे रखेंगे... तुम्हारे साथ रहेंगे-गाँव से अदालत तक और फौजदारी में चाहे गोली काहे न चले।"

मास्टर जी पाये की बात कर रहे थे। यहाँ कैलाश है नहीं... उसके बारे में दूसरा कौन जिम्मेदारी ले? कहीं वही दूर गया तो...। आजकल बड़े-बड़े पलटी मार रहे हैं। सुबह एक दूसरे को कोसते हैं तो शाम को गलबहियाँ डाले दिखते हैं।

देर रात तक ऐसी ही बातें होती रहीं। बीच-बीच में रात और बात कच्चे धागे की तरह टूटती तो गाँठ लगाकर जोड़ ली जाती। अगली सुबह से लोग फिर से अपने-अपने ध ातकरम में लग गए। साधन संपन्न किसानों ट्रेक्टर जुताई के लिए डीजल की टंकियाँ भरवाने लगे तो हल बैल वाले भी मरने या बिकने से बचे, चारे की किल्लत में दाँत किर्राते, सूखे भूखे बैलों के साथ खेत जोतने की जुगाड़ बिठाने लगे। दो पानी और हो जाँय तो चौपाये उगी हुठ हरियाली जीभ के सहारे कुतरकर पेट भरने लगेंगे। सदियों से चला आ रहा है कि थका हुआ बैल जुए पर सिर टिका विश्राम पाने की कोशिश करता है तो हारा किसान भी खेती का ही आसरा लेता है।

कैलाश अपनी बीवी के साथ गाँव लौट आया। वातावरण में भयानक उमस आ समाई है। कभी-कभी पत्ता तक नहीं हिलता। हवा ऐसे दुबककर बैठी है कि कहीं साँस लेने में खरच न हो जाये। दोपहरी में ऐसा भभका कि कलेजा उबलकर हलक में आ जाये। लगता है जैसे गाँव में ऑक्सीजन कम हो गई हो। गाँव का राज शहर से चलने का चलन हो

गया है। सरपंच, पटवारी, सचिव, सेवक, शिक्षक, चिकित्सक आदि फिलहाल शहर से ही गाँव की निगहबानी कर रहे हैं। जरूरत पर आना जाना हो ही जाता है। दुर्दिन जैसे पहले थे, वही अब भी हैं पर सांसों की डोर इस उम्मीद में अटकी है कि ऊपर वाला कुछ न कुछ तो सुनेगा।

इसी भारी समय के विकाल में अषाढ़ आगे की कार्यवाही श्रावण को सोंप विदा हो गया। मास्टर साब अपनी खटिया पर थे और राजाराम कुर्सी पर। दोनों शायद किसी के आने की प्रतीक्षा में थे। अभी तक नहीं आया तो कुछ देर में आ जाये शायद। आशंका यह भी होगी कि शायद वह आए ही नहीं फिर भी उम्मीद का मौन दोनों के बीच बड़ी देर से खड़ा था। मौन को परे धकेला राजाराम ने– गुरु जी... आपने सुना है पिवना साँप के बारे में?'

मास्टर जी सोचकर बोले– सुना तो है...।

'कहीं पढ़ा भी है क्या?'

'शायद पढ़ा ही हो। पहले ध्यान नहीं दिया था। कैलाश की घरवाली ने ध्यान दिलाया उसका।

'किसी ने देखा भी होगा, उस साँप को...।'

'शायद किसी ने देख भी लिया हो। मुझे याद आता है कि यह साँप काटता नहीं है। बस जिसे मारना होता है, सोते समय उसकी छाती पर चढ़ फुंकार के साथ अपना जहर छोड़ता है। वही जहर आदमी की साँस में अंदर जाता है। फिर पिवना अपनी पूंछ पटकक उसे जगाता है। आदमी की आँख खुलती है तबतक जहर साँस में घुल चुका होता है। कोई कुछ करे इसके पहले ही आदमी मर जाता है और साँप सरक जाता है अगले शिकर के लिए...।'

राजाराम ने सिर हिलाया– 'हूँ ऊँ...। अब समझ में आया कि अंगूरी भौजी गाँव के चुने हुए मुखिया को ऐसा क्यों बोल रही थी। झलका पंडित ने तो पूरा खेत दोबारा जोत दिया है। वह थाने से महिला पुलिस लेकर आया था कि अंगूरी भाभी ऊधम न करे। कैलाश राजीनामा को तैयार हो गया है पर घरवाली को राजी नहीं कर पा रहा है। वह तो झलका पंडित का नाम सुनते ही थूक देती है। औरतें तो झलका के बारे में बड़ा उल्टा सीधा बोलने लगी हैं कुछ पता है आपको?'

'ठीक है भाई! साँप निकल गया, अब पीटते रहो लकीर...।' मास्टर साब् ने साँस खींचकर कहा। 'अच्छा छोड़िए। गाँव के गोरखधंधे तो लगे ही रहेंगे। आप ये बताइये कि सुंदवन कहाँ है?

'क्यों, उसकी क्या जरूरत पड़ गई?'

'अरे इसलिए पूछ रहा हूँ कि एक तो वन ऊपर से सुंदर तीसरे वहाँ बाघ रहते हैं...।'

मास्टर साब् हँसने लगे– 'भाई तभी लोग तुम्हें थोड़ा...।'

'पागल समझते हैं, यही कहना चाहते हैं ना आप! बेशक पागल ही था जो बी.ए. पास होकर भी क्लर्की मास्टरी की नौकरी नहीं तलाशी। आज से बीस साल पहले मुझे आसानी से सरकारी नौकरी मिल जाती। आरक्षण के अंतर्गत प्रमोशन भी पाता और कहीं आफिस सुपरिन्टेन्डेंट अथवा हैड मास्टर, प्राचार्य बनकर बैठा निश्चिंत होता और संपन्न भी। पर मैंने गाँव में रहकर गाँव को बदलने का सपना देखा। आज बैठे–बैठे लगा कि इस गाँव में रहने से तो अच्छा है कहीं जंगल में रहना। इसी पर सुंदरवन का स्मरण हो आया।'

'वहाँ क्या बाघों का चरित्र बदलने का सपना है?'– मास्टर जी और जोर से हँसे।

'आइडिया ये भी बहुत शानदार है पर न सरकार करने देगी न मेरी हैसियत और स्थिति ही है। आप तो बताएँ कि है कहाँ?'

"शायद पश्चिम बंगाल में है..."

'ओ हो, बंगाल में भी पूरब पश्चिम! तो ये पश्चिम बंगाल कहाँ है?'

'मेरे भाई, पश्चिम बंगाल अपने भारत में ही है। अब ये न पूछना कि भारत कहाँ है?'

राजाराम भी हँसने लगा 'नहीं नहीं, वो तो मुझे पता है कि 'इंडिया' में ही कहीं है।'

निराला नगर, सिंहपुर रोड,
मुरार, ग्वालियर–474006 (म.प्र.)
मो. 09425364213

हरि भटनागर

आँच

उसका नाम जगदीश था। सामने की पहाड़ी पर, ढाल की तरफ़, नाले से सटी, कई सारी झुग्गियों के बीच उसकी झुग्गी थी।

मेरा स्विचबोर्ड ख़राब हो रहा था, लैम्प किसी तरह जलता न था। क्षण भर को जलता फिर बुझ जाता। ट्यूबलाइट की रौशनी मेरे लिए नाकाफ़ी थी। लैम्प की रौशनी में ही मैं लिखता-पढ़ता था। कमज़ोर नज़र भी इसका एक कारण था। ख़ैर, लैम्प अब जल ही नहीं रहा था तो लिखूँगा क्या? ख़ाक़!!! जबकि अख़बार का कॉलम मुझे देर रात या ज़्यादा से ज़्यादा नौ-दस बजे सुबह तक लिखकर, हर हाल में, मेल करना होगा। समय-सीमा का मामला है। और जीविका का आधार! कॉलम के अलावा दूसरा कोई हीला भी अपने पास नहीं है। सो, परेशान हो उठा था मैं! तभी जगदीश का ध्यान आया। क्यों न उसे बुला लाऊँ? है तो वह दुष्ट, भारी नशैला, बावजूद इसके काम जानता है। मिनटों में स्विचबोर्ड ठीक कर देगा। पहले भी कई सारे काम वह कर चुका था। अभी दस दिन पहले मीटर के ख़राब हुए बोर्ड को उसने ठीक किया था और जो भी पैसा दिया था, झुककर सलाम करता चला गया था...

इस वक़्त मैं उसकी झुग्गी को खोजता-धीरे-धीरे चल रहा था कि उसने मुझे जैसे दूर से देख लिया हो, क़रारी आवाज़ जिसमें नशे का डाँवा-डोलपन था, लगाता टटरा हटाता, हाथ लहराने लगा जैसे बतलाना चाह रहा हो कि साब! मैं यहाँ, इस झुग्गी में रहता हूँ। कोई काम हो तो बताएँ। मिनटों में चुटकी बजा के निपटा दूँगा।- टटरा हटाकर वह बाहर निकल आया था। ठिठककर रुक गया जैसे

आगे बोल रहा हो– लेकिन साब! काम मैं कर दूँगा, मगर पिछली दफ़ा की तरह पैसे झंख के मत देता। उस दिन तो मैं पता नहीं क्या सोच के, लौट आया था, पैसे जेब में डाल लिए थे, मग़र दिमाग़ भारी गरम था। शराब की दूकान पर तो और गरम हो गया था जिसे मैं किसी तरह क़ाबू नहीं कर पा रहा था। बार–बार आपकी मैया–बहन कर रहा था। दो सौ का काम और पचास रुपये! हद थी! उसमें एक पाउच भी ढंग का नहीं मिल रहा था...

मैं जगदीश को देख रहा था। सोचने लगा, कमीन लगी में है, काम क्या करेगा! मैं अटकी में था, दूसरा कोई मिस्त्री इस वक़्त मिलते से रहा, सो उसकी तरफ़ बढ़ा।

इस बीच जगदीश ने आगे बढ़कर, मेरा हाथ पकड़ लिया। कँटीला, लोहे की संड़सी जैसा हाथ! क्या खाता है साला!!!

यकायक मुझे एहसास हुआ कि हाथों पर उसकी पकड़ सख़्त हो गई है। पूरी ताक़त लगाकर भी हाथ छुड़ाना संभव नहीं। वह मुझे अपने तख़्ते पर बैठालना चाह रहा था, चाय पिलाने की ख़ातिर। उसने मुझे अपनी तरफ़ खींचा। बचाव में मैं फिर कभी फुर्सत से बैठने की कहके उसकी लौह पकड़ से छूट पाया। और सुकून–सा महसूस कर रहा था...

और उस वक़्त तो मैं और सुकून–सा महसूस करने लगा जब उसने अपने इन्हीं संड़सी जैसे पंजों से स्विचबोर्ड ठीक करके लैम्प जला दिया।

इसके पहले मेरा सुकून ग़ायब था। जगदीश स्विचबोर्ड को पूरा खोल चुका था और लैम्प किसी तरह जल नहीं रहा था। करंट ही नहीं था। कॉफ़ी देर तक वह स्विचबोर्ड से उलझता रहा। उसने सारे प्वाइंट खोल डाले थे। टेस्टर से बार–बार करंट की जाँच करता और करंट था कि पूरी तरह नदारद! इस चक्कर में वह कई बार मीटर के बोर्ड को देख आया था। मामला सुलझता न था। आख़िर में उसने एक नया स्विचबोर्ड फिट किया, जो उसके छोटे से अगड़म–बगड़म सामानों से भरे झोले में ठँसा था। उनके तारों को अदला–बदला कि करंट आ गया– लैम्प जल उठा था।

मैंने राहत की साँस ली और जैसा कि पहले कहा, सुकून–सा महसूस किया लेकिन यह सुकून पूरी तरह ग़ायब हो गया जब उसने पैसे लेने से इंकार कर दिया। पचास के नोट को वह चूतिया बनाना कह रहा था। और बड़बड़ाने लगा था कि एक तो काम कर दिया, उस पर पैसे दे रहे हैं जैसे मैं भीख माँग रहा होऊँ! कहीं दूसरी जगह काम किया होता तो सौ–डेढ़ सौ तो मिल ही जाते– यहाँ पचास रुपट्टी!!! जैसे मैं कोई चूतिया हूँ! चूतिया!!! काम की कोई वैलू नहीं। अभी लैपटॉप ख़राब हो जाता तो आपरेटर पाँच सौ खेंच लेता और आप ख़ुश हो के देते–लेकिन मुझे देते...

उसने नोट सामने फेक दिया जैसे गाली देता कह रहा हो कि नहीं चहिए!

–कितना गंदा आदमी है। बेअदबी पर उतर आया है। बाबजूद इसके मैं सहज रहा, शांत भाव से पूछा– कित्ते चहिए भैया?

–कित्ते चहिए भैया? जैसे कुछ जानते–समझते नहीं– उसने मुझे कठोर निगाहों से देखा। आँखों में नशे की लालिमा थी। बाल लटों की शक्ल में धूल–पसीने से भरे। नाक लम्बी और मस्सों से भरी थी। मूँछें गीली, टूटी छतरी जैसी जिसमें मिचमिची आँखों का पानी रिस–रिस कर ठहर गया हो। कमीज़ के बटन नदराद। छाती चौपट खुली हुई। छाती के सफ़ेद–काले बाल कंटीली झाड़ी की तरह गुत्थम–गुत्थ थे।

उसकी यह धज देख मैं दंग था।

– कित्ते चहिये भैया!!! अपने को ग़ौर से देखे जाने पर मेरी नकल–सी बनाता, दोनों हाथों को मत्थे पर मारता वह तकरीबन बिफर–सा पड़ा— पचास रुपट्टी होते हैं इस काम के?

– और कित्ते होते हैं?– मैं सख़्त आवाज़ में अकड़कर बोला।

– सौ तो दीजिए! थोड़ा ढीला होता वह बोला।

– सौ! नागवार-सी गुज़रती उसकी बात पर मैं ज़ोरों से बोल पड़ा– सौ रुपये तो किसी कीमत पर नहीं दे सकाता। यह तो बेईमानी है!

– बेईमानी! काम सुलटा देना बेईमानी होता है!– वह गर्दन हिलाता बोला– अगर मैं काम करने से पहले पैसा बता देता तो आप न चाहते हुए भी देते। जब सौदा तय नहीं हुआ तो सही मेहनताना देने से कतरा रहे हो– यही बात तो बुरी लगती है, आप लोगों की!!!

– क्या? हम सब लोग बेईमान हैं, तुम लोगों का पैसा मार लेते हैं?– मैं आग-बबूला होता गरजा।

– इसमें गरम होने की क्या बात है, साब? जो बात सच है, उसे मंजूर क्यों नहीं करते?

– हम लोग तुम लोगों का हक़ मारते हैं?– मैं उसके मन की पूरी बात जान लेना चाहता था।

– जी! आप लोग, हम लोगों का हक मारते हैं। अभी-अभी आप मेरा मेहनताना मार रहे हैं, उस पर आँखें दिखला रहे हैं!!!

– मैं आँख दिखला रहा हूँ कि तू?– मेरी शालीनता अब जवाब देती जा रही थी।

– पूरे पैसे नहीं मिलेंगे तो आँख दिखाना कहाँ का जुर्म हुआ?

– सौ रुपये तो मैं नहीं दे सकता, तुझे लेना हो तो ले, नहीं, फुट यहाँ से।

– ठीक है साब! जाता हूँ; लेकिन जान लीजिए...

– हाँ-हाँ, जान लिया! तेरी भभकी से मैं डरने वाला नहीं। किसी से भी पूछ ले, इस झटल्ली काम के कित्ते पैसे होते हैं?

– झटल्ली! झटल्ली है मेरा काम?– आग की तरह जलता वह मेरे सामने तनकर खड़ा हो गया।

न चाहते हुए भी मुँह से गाली निकल गई थी, पीछे हटने पर हेठी होती, इसलिए मैं भी तनता हुआ ज़ोरों से बोला– झटल्ली काम नहीं, तो क्या है? कौन सा ट्रांसफार्मर ठीककर दिया।

वह तड़ककर गर्दन हिलाता बोला– काम, काम होता है, साब! लैंप हो या ट्रांसफार्मर! काम को गाली देना बहुत ही गंदी बात है! फिर, काम झटल्ली था तो क्यों आए मेरे पास झुग्गी में, बैठे रहते अपने घर में! तब तो दौड़े चले आए....

–ठीक है यार!— जब मैं शर्मिन्दगी के लहजे में थोड़ा नरम हुआ तो वह अफसोस में सिर हिलाता बोला– चालीस साल हो गए काम करते– मेरे काम की, हुनर की सभी तारीफ़ करते हैं। आज तक किसी ने ऐसा कचरा नहीं डाला जैसा आपने!

अपनी ग़लती मानने पर भी यह कमीन सिर पर चढ़ा जा रहा है, मेरा पारा यकायक फिर चढ़ गया, बोला– कौन सा कचरा डाल दिया? जब मैं मान रहा हूँ कि ग़लती हो गई, फिर काहे को तूल दे रहा है?— थोड़ा रुककर हाथ हिलाता आगे बोला– हाँ, झटल्ली ही काम है तेरा! जो करना है, कर ले! मैं हज़ार बार यही कहूँगा।

उसके बदन पर जैसे आग डल गई हो छौछिया-सा गया, फिर विस्फारित आँखों से मुझे एकटक देखते हुए सिर हिलाने लगा, जैसे सोच रहा हो कि तेरा सोच बहुत ही गलीज है! समझाइश से कोई बात बनने वाली नहीं और तू उससे सुधरने वाला भी नहीं! तेरे साथ ऐसा कुछ करना होगा जिससे तेरी सारी हेकड़ी निकल जाए। थोड़ी देर के लिए वह कहीं खोया-सा गया। यकायक उसने कुछ दृढ़ निश्चय-सा किया। उसी बहाव

में सहसा उसने सिर झटका, अपने को सँभाला और सीधा खड़ा हो गया। छोटे-मोटे औज़ारों से भरा थैला उसने बाएँ हाथ से पीठ पर लादा और मेरी ओर ऐसे देखा जैसे गेट खोलने के लिए कह रहा हो। उसका लहजा अब एकदम शांत था। जब मैंने गेट नहीं खोला तो झुककर उसने खटका हटाया और बाएँ कंधे से हल्के से उसे ठेलता बाहर निकला और मिनटों में नज़र से ओझल हो गया।

मैं भयंकर ग़ुस्से में था, बुदबुदाया-ठीक है, भग जा और उसे जलती निगाहों से जाता देखता रहा। बावजूद इसके अंदर ही अंदर अफ़सोस ने करवट ली कि दुष्ट काम तो कर गया, पैसे के लिए ऐंठ दिखला रहा था। दस-पाँच और ले लेता! मगर नहीं। जैसे मैं पीछे-पीछे आऊँगा, रिरियाऊँगा।

काफ़ी देर तक मैं गेट के सहारे खड़ा रहा और उसके लौटने का इंतज़ार करता रहा। आख़िर में हारकर अपनी मेज़ पर आ गया। लैम्प जलाया। रूलदार काग़ज़ को देखता हूँ। विषय का ख़याल करता हूँ। पेन उठाता हूँ।

तीन घण्टे बीत गए, एक शब्द नहीं लिख पाया हूँ। कुछ सूझ ही नहीं रहा है।

⋆

रात है, सर्दी की रात। सब ओर ख़ामोशी। गहरी ख़ामोशी। पेड़ भी ख़ामोशी की साया में डूबे। दूर कहीं कोई माचिस जलाये तो उसकी आवाज़ सुनाई दे।

मैं पेन लिए बैठा हूँ। रूलदार काग़ज़ पर निगाह डालता हूँ। दिमाग़ जगदीश में लगा है।

- साला! दुष्ट! नीच! कमीन!- ये मन के भाव हैं- गजब है! पैसे फेक के चला गया। जाते-जाते कैसा मुँह बना रहा था- जैसे खा जाएगा! मैंने पेन रखा तो बाहर किसी के चलने की आवाज़ आई। चप्पलों को घिसटाता जैसे कोई चलता आ रहा हो। ज़ाहिर था कि जगदीश लौटने वाला नहीं। तीन घण्टे बाद भला वह नशैला क्या लौटेगा? देखा तो जगदीश था। झाँककर देखने पर ही जगदीश ने मुझे देख दिया था और बीच सड़क पर, मेरे घर के सामने झुककर टेढ़ा खड़ा हो गया।

मैं कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। घबराया। यह इतनी रात में क्यों आया? पैसा चाहता है क्या? लेकिन पैसे के लिए उसे आवाज़ देनी चाहिए? गेट पर खट-खट करना चाहिए? यह तो ऐसा कुछ भी नहीं कर रहा है? ज़रूर इसकी कोई नई चाल है? इतनी रात गए यह कोई ऐसा नाटक करेगा जिससे मुहल्ले के लोग इकट्ठा हो जाएँ और फिर यह उनके सामने अपनी बात रखे। चिल्लाकर कहे कि साब, कॉलोनी के एक रसूखदार आदमी की हरकत तो देखो, पहले किसी भी तरह से झुग्गी से मुझे बुलाकर ले आते हैं, काम करवाते हैं- पैसे के वक़्त गाली देते हैं- यह कहाँ का न्याय है?

उसने ऐसा कुछ भी नहीं किया। शांत भाव से खड़ा रहा। रह-रह वह गर्दन उठाकर आसमान की ओर देख लेता जैसे कँपकँपाते तारों से अपने साथ हुए अपमान की शिकायत कर रहा हो!

थोड़ी देर बाद वह सीवरलाइन के बड़े से पत्थर पर बैठ गया, पाल्थी मारकर। शांत भाव से बैठकर, अपनी आमद भर से जैसे वह मुझे बेचैन करना चाह रहा हो।

मैंने सोचा कि गेट खोलूँ और जो भी रुपये माँगे, उसकी तरफ़ फेक दूँ- मैंने आलमारी से रुपये भी निकाल लिए लेकिन फिर यह सोचकर रुक गया कि इससे तो इसका हौसला बढ़ जाएगा। सोचेगा कि मैं डर की वजह से पैसे दे रहा हूँ। मैंने आलमारी बंद कर दी और गेट पर आ खड़ा हुआ। संध से देखा- वह शांत बैठा है- मेरे घर की ओर देखता हुआ।

यकायक उसने चप्पलें उतार दीं और एक चप्पल को ज़मीन पर हन-हन कर कई बार पटका।

कमीन चप्पलें बजा रहा है- मैं बुदबुदाया।

चप्पल पटकर वह फिर शांत बैठ गया। अनशन की मुद्रा में। घुटनों पर उसने दोनों हाथ टिका लिए और मेरे घर की तरफ़ एकटक देखने लगा।

मैंने सोच रखा था कि नंगई के चलते मैं इसे एक पैसा न दूँगा, चाहे जो हो जाए; लेकिन उसकी इस नंगई ने मुझे बेचैन कर दिया है। सर्दी में शांत क्यों बैठा है? पैसा माँग ले तो मैं दे-दा के किसी तरह मामला ख़त्म करूँ, मगर यह कमीन ऐसा कुछ भी नहीं कर रहा है।

मैं हत्प्रभ हूँ और उस पर निगाह रखे हूँ।

मेरा पूरा ध्यान लिखने पर नहीं, जगदीश पर है।

थोड़ी देर बाद मुझसे रहा नहीं गया। मैंने दरवाज़ा खोला, लोहे के गेट का खटका सरकाकर उसके सामने आ खड़ा हुआ। पूछा- क्या बात है जगदीश? इत्ती रात में यहाँ क्यों बैठे हो?

वह चुप। पत्थर की मानिंद।

-मैं रुपये देने को तैयार हूँ— यह लो- जेब से मैंने सौ रुपये का नोट निकला और उसकी तरफ़ बढ़ाता बोला- ले! सौ रुपये! और चुपचाप यहाँ से रफा हो जा।

वह पूर्ववत रहा।

-ले ना भाई!- मैं झल्ला उठा- क्या चाहता है तू? पुलिस बुलवाऊँ?

वह उसी तरह निश्चल।

हारकर मैं घर के अन्दर आ गया, बुदबुदाता- भाड़ में जा तू। जो करना है कर!!!

⋆

जगदीश ने कोई गड़बड़ न की। पूर्व की तरह शांत बैठा रहा, घुटनों पर दोनों हाथ रखे उस पर सिर टिकाये- मेरे घर की तरफ़ एकटक देखता हुआ।

काफ़ी रात गुज़र चुकी है। ठण्ड बढ़ रही है। मैंने हीटर जला लिया है। बाहर जगदीश जैसे ठण्ड से बेपरवाह है।

- क्या करूँ? कॉलम तो गया अब!!!- गहरी साँस छोड़ता मैं माथे पर हाथ रखे सोचता हूँ, ऐसा कब तक चलेगा? जगदीश कोई नया नाटक करेगा क्या? जिसकी खातिर वह अभी तक शांत- बेपरवाह बैठा है।

जगदीश ने कोई नया नाटक नहीं किया। ठण्ड बढ़ने पर उसने आसमान की ओर देखा जैसा तारों से कह रहा हो कि तुम तो शायद नहीं, लेकिन मैं ज़रूर ठण्ड को टक्कर दे सकता हूँ- इस ख़याल के चलते कूड़े के ढेर से काग़ज़-पन्नियों को इकट्ठा किया। उसमें माचिस की काड़ी दिखलाई। थोड़ी देर में लपट उठने लगी जो तारों तक जाती लग रही थी जिसे वह बहुत ही प्यारी नज़रों से देख रहा था।

अब वह उसकी आँच में और भी बेपरवाह हो गया था। और मेरे घर की तरफ़ लगातार, बिना पलक झपकाए देखे जा रहा था।

मैं हीटर की गरमाहट में भी काँप रहा था।

⋆⋆⋆

197, सेक्टर बी, सर्वधर्म कॉलोनी
कोलार रोड, भोपाल 462042
मो. 9424418567
E-mail : haribhatnagar@gmail.com

पंकज मित्र

कफन रिमिक्स

(बाबा -ए- अफसाना प्रेमचंद से क्षमायाचना सहित)

शायद घीसू ही रहा हो या गनेशी या गोविन्द-नाम से फर्क भी क्या पड़ना था। एक चीज एकदम नहीं भूलते थे दोनों बाप-बेटे नाम के साथ 'राम' लगाना, बल्कि माधो या मोहन जो भी नाम रहा हो, एकदम छोटा करके बतलाता था-एम. राम। बाप का नाम ? - जी. राम। पीठ पीछे गरियाते थे लोग-ऊँह ! काम न धाम, नाम एम. राम। सामने हिम्मत नहीं होती थी क्योंकि ज़माना 'इनलोगों' का था या कम से कम ऐसा समझा जाता था। तो जनाब एम. राम अभी तुरंत गाँव के एकमात्र पी. एच. सी. मतलब प्राथमिक सेवा केन्द्र जिसे बोलचा में छोटका अस्पताल कहा जाता था उसके बेरंग बंद दरवाजों पर कई लातें जमाकर लौटा था जिससे उसकी टाँगों में दर्द हो रहा था। भला हो जी. राम का जो शाम को दो प्लास्टिक ले आया था और भला हो ज़माने का भी जो हर गाँव में यह बहुतायत में उपलब्ध था।

जी. राम उवाचे थे- हम तो पहले ही बोले थे बंद होगा। रात में तो वहां सियार बोलता है। नर्सिया एगो होली-दशहरा आती है बस।

एम. राम - एही से हम बोलते हैं टौन में चलके रहिए। आदमी कम से कम घर में एड़ी घिस के तो नहीं मरेगा।

जी. राम-देख न फोन-उन करके, किसी का गाड़ी-उड़ी भेंटा जाय।

एम. राम - साला नेटवर्कवा रहे तब न। इ झमाझम पानी में गाड़ीवाला हजार रुपया मांगेगा।

जी. राम - अरे तो अबरी जोजनवा (योजना) में कुआँ मिल जायेगा तो कमाई तो हो जायेगा न।

एम. राम – हाँ! साँढ़वाला गिरेगा तो ललका फल मिलेगा।

जी. राम – गुस्सा काहे रहा है बेटा! ले एक घूँट ले ले। मन ठंढा जायेगा।

एम. राम – यहाँ बुधवंती के जिनगी ठंढा रहा है, आपको भी न – अच्छा लाइये पप्पा। कलेजा जल गया। कोन घटिया चीज ले आये।

जी. राम – हमरा एकरे से संतोष होता है। कोलवरी (कोलियरी) के टैम से आदत पड़ गया है। खाना भेंटाबे चाहे नहीं इ तो जरूर चाहिये। बहू को कुछ हो गया तो खाना पर भी आफत है। न रे?

एम. राम – दुर! इ अंधड़-पानी में नेटवर्क कहाँ मिलेगा? नर्सिया का नंबर तो है लेकिन आयेगी कैसे?

जी. राम – रोजगार बाबू (रोजगार सेवक) को फोन करके देख न, कुछ उपाय करे।

एम. राम – पीके सुतल होगा। होश में होगा तब न। एक बार देख के आओ न बुधवंती के हाल पप्पा।

जी. राम – हमरा कुछ बुझायेगा। तुमरा जनानी है, तुम पूछ आओ हाल।

एम. राम – हमरा देखल नहीं जाता है। कटल बकरा ऐसन छटपटा रही है।

जी. राम – तो हमसे कैसे देखा जायेगा। अच्छा बाबू! परसौती (प्रसूति) के लिए भी तो कुछ जोजना आता है न ब्लॉक मे। सुनते हैं अच्छे पैसा मिल जाता है।

एम. राम – एकदम आखरी कमीना हो तुम भी पप्पा। हरदम पैसे सूझता है। यहाँ आदमी मर रहा है।

जी. राम – अरे बाबू! पैसा देखले हैं न। कोलवरी में नोट पर नोट। एक बार घुसो – काला घुप्प अंधरिया में, नोट लेके निकलो। डेली मीट-भात और अंगरेजी दारू। लेकिन तब भी हमरा लास्ट में प्लास्टिक जरूर चाहिए।

एम. राम – तो आ गए काहे इ गाँव में सड़ने।

जी. राम – अपना मर्जी से थोड़े आये। कोन तो साला फुसक दिया कि कुछ आदमी दूसरा के नाम पर कोलवरी में मजूरी कर रहा है। हो गया इंस्पेक्शन, जिसके नाम पर हम थे, उसका नौकरी चल जाता न। तो घंटी बजने पर भी हम निकले नहीं। बस गाड़ी आया, ऊपर से एक बोझा कोयला ढार दिया। हम तो मरिये गये थे समझो। लेकिन खाली हाथे भर काटना पड़ा। जान बच गया।

एम. राम – तो कोलवरी से मुआवजा मिला नहीं कुछ?

जी. राम – कोनो हम नौकरी पर थोड़े न थे। कोय कागज-पत्तर था हमरा? कोलवरी हस्पताल में इलाज हो गया यही बहुत है। देख तो बाबू! अब जादे गोंगिया रहीं है बुधवंती। हे भगवान!

एम. राम दौड़कर कमरे में घुसते हैं। थोड़ी लड़खड़ाहट भी है चाल में। मोबाइल निरंतर सटा है कानों से। बुधवंती अस्त व्यस्त हालत में है। चेहरें की ऐंठन बता रही है कि असह्य यंत्रणा है। एम. राम भावुक हो उठते हैं। साल भर ही तो हुए हैं। कितनी अपनी लगने लगी थी। धीरे-धीरे आवारा घर पालतू बन रहा था। दिन भर ढबढियाने (इधर-उधर घूमने) के बाद घर आने पर पेट भर खाना और आँख भर नींद। बुधवंती से शादी से पहले तो बाप कहीं से पेट भर के आ रहा है तो बेटा कहीं से। सिर्फ एक ही बात तय होती थी। दोनों ढक होके लौटते थे। जिन आँखों की झाल ने एम. राम को जीवन का स्वाद बताया था उन्हीं आँखों को बंद देखकर एम. राम का जी बैठा जाता था। कमरे से घबराकर बाहर निकल गया।

एम. राम – पप्पा! देखो न बुधवंती का आँख बंद है। अब छटपटा भी नहीं रही है। कहीं कुछ हो तो नहीं गया?

जी. राम गिलास हाथ में पकड़े मुस्करा रहा था। अपने में लीन संत हो जैसे। कह रहा हो – बच्चू! सब माया-मोह का बंधन है। इन्हीं आँखों के सामने सात-आठ (गिनती भी ठीक से याद नहीं) बच्चों को जाते देखा। तुम्हारी अम्मा को भी बिना दवा-दारू के ..... यहाँ तक कि बिना जाने किस बीमारी से गई। जानकर होता भी क्या। अभी तो कम से कम छोटका हस्पताल के उजाड़, बेरंग बंद दरवाजा में लात मारने का भी उपाय है। तब तो वह भी नहीं था। एम. राम इस अंतर्केशदाहक मुस्कान पर सुलग उठे। इसी वजह से कई बार उन्होंने जी. राम को जी भरकर कूटा भी था। कूटते तो बुधवंती को भी थे गाहे-बगाहे। लेकिन यह कूटना क्रोध की अवस्था में प्रेम प्रदर्शन का अनोखा तरीका था उनका। पर अभी इन सबका वक्त नहीं था।

एम. राम – देखते हैं किसी का बाइक–उइक भेंटा गया तो ब्लॉक तक चल जायेंगे।

जी. राम मुस्कराते रहे। जैसे कह रहे हो– क्या होगा वहां जाकर। डाक्टर, ए.एन.एम, आशा दीदी सब तो तीन बजते ही ...... एम. राम निकल पड़े थे इस हिदायत के साथ – देखते रहिएगा। जी. राम मुस्कराते रहे। पीट–पीटकर पानी बरसता रहा।

आधे घंटे में एम. राम पानी से लथपथ लौटे – कोय साला मदद करने वाला नहीं। महतो जी का छौड़वा बोल रहा था – चलें हम ? हम मना कर दिये। उसका नजर ठीक नहीं है। बहाना खेजता रहता है। इन सारी बातों का जवाब जी. राम के खर्राटों ने दिया। एम. राम कमरे में दौड़ते गए और उसी गति से बाहर आये। बुधवंती ठंडी पड़ी थी। मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। चोरी से जलाए गये बल्ब की रोशनी में देखा। बाहर आकर जी. राम की कमर पर एक लात जमाई। बिलबिला कर उठे जी. राम।

एम. राम – यहाँ बहू मरी पड़ी है और इ पी के सुत रहा है। पापी! इसके बाद गालियों की एक लड़ी जो उसे बचपन से अबतक पहनाई गयी थी, जी. राम को वापस पहना दी। हकबकाकर उठते ही पूछा – बच्चा हो गया क्या ?

एम. राम – पप्पा ! बुधवंती चल गई – बोलते–बोलते आवाज भर्रा गई। जी. राम निश्ंचित हुए फिर रोने लगे।

जी. राम – बड़ी गुणवंती थी रे बुधवंती। हम तो बर्बाद हो गये। रोटी का ठौर तो था। कल ही तो बियाह करके लाया था रे तू।

एम. राम इस अनवरत विलाप के बीच शांत होकर बुधवंती का चेहरा देखे जा रहे थे। उसी तरह जब पहली बार देखा था और आँखें की ओर देखते हुए पूरी मिर्च चबा ली थी मुख्यमंत्री दाल–भात योजना के दुकान पर। सी–सी कर उठने पर बुधवंती ने पानी दिया था। तय नहीं कर पाये थे एम. राम कि बुधवंती की आँखों में झाल ज्यादा थी या हरी मिर्ची में। उन दिनों शहर में रिक्शा चला रहे थे एम. राम। दोनों टाइम उसी दुकान पर खाना खाने लगे चाहे उनके रैनबसेरे से लाख दूरी हो। बुधवंती उस दुकान में खाना बनाने का काम करती थी। अब रैनबसेरा तो रिक्शेवालों का था और बुधवंती वहां जा नहीं सकती थी। कम–से–कम रात में तो वहाँ रुकना एकदम असंभव था। एम. राम के मन में एक आदिम इच्छा ने जन्म लिया और रिक्शा मालिक के पास रिक्शा जमा करके बचाये हुए पैसे और बुधवंती को लेकर गाँव आ गए। रास्ते में कालीमंदिर में दैवी सम्मति भी ले ली। जब वे पहुँचे तो जी. राम मरणासन्न अवस्था में पड़े थे। सिर्फ आसपास कई प्लास्टिक पाउच पड़े थे। लगता था कई दिनों से भोजन के बदले इसी अमृत का सेवन कर रहे थे। आते ही बुधवंती ने घर का मोर्चा संभाल लिया – साफ–सफाई, चौका–बरतन, खाना–पीना। दोनों जी. राम को टाँग कर चापाकल पर ले गये। नहलाया–धुलाया, कपड़े बदले, खाना खिलाया। भर पेट भात का नशा अलग होता है। जी. राम घंटों सोते रहे।

रात में नीमरोशनी में जब एम. राम ने बुधवंती के नग्न पीठ पर उत्तप्त हाथ फेरा तो उभरे निशानों का अनुभव कर काँप गए। जोर डालकर पूछा तो बुधवंती ने पूरी कहानी बयान की कि कैसे उसके गाँव की एक दलालिन ने नौकरी दिलाने के नाम पर दिल्ली ले जाकर बेच डाला था जहाँ मालिक मालकिन उसे बेतों से मारते थे। कोठी के अंदर बंद करके रखते। बाहर जाने नहीं देते।

आगे एम. राम सुन नहीं पाये और उस अदृश्य मालिक के प्रति गालियों की बौछार करके बुधवंती से प्रेम करने लगे (बाबा–ए अफसाना प्रेमचंद से फिर क्षमायाचना क्योंकि कहानी में इस तरह के दृश्य को अप्रूव नहीं करते वे)

सुबह जी. राम मुस्कराते हुए उठे। बहुत दिनों के बाद भोर इतनी उजली हुई थी। सुबह–सुबह काली चाय मिली थी। एम. राम को चाय की आदत पड़ गयी थी शहर में कुछ दिन रहने से।

एम. राम–तब पप्पा ! काम–धाम कुछ ?

जी. राम – का काम होगा बाबू! कोय काम देता नहीं कहता है कामचोर। इधर नहर पर कुछ दिन हुआ था मिट्‌टी काटने का। बदन तोड़ने वाला काम है। पैसा भी आधा।

एम. राम. – और झूरी महतो के यहाँ खेत में ?

जी. राम – अरे! झूरी महतो का मालूम नहीं है ? उ तो झूल गया न बुढ़वा पाकड़ पर। एक दिन भोरे गए तो देखे भीड़ लगल है, झूरी झूल रहा है। दोनों बैलवा उसका पैर चाटले हैं नीचे खड़ा–खड़ा। सब बोला कि कर्जा ले लिया था

बहुत और इस बार फसल मार खा गया न। बस हमरा भी काम खतम।

एम. राम – ठीक है, देखते हैं। रोजगार सेवक कौन है?

जी. राम– एक बार नाम–धाम लिख के तो ले गया था। काम मिला भी था एक बार बस दू–तीन दिन। बहू का भी लिखवा देना नाम।

एम. राम – एतना आसानी से थोड़े लिख लेगा। आजकल ग्राम सभा वाला चक्कर हो गया है। मीटिंग होगा तभिये लिखायेगा।

जी. राम – अरे हमारा तो लिखले है न। सब है, आधार कार्ड, वोटर कार्ड सब। बड़ा झमेला है – कहता है मजूरी खाता में जायेगा। हम गये थे तो सब हँस दिया। एक हाथ वाला लूल्हा का काम करेगा। सुना दिये हम भी – दुगो हाथे से कौन पहाड़ ढा दिये तुम लोग। एगो अंगूठा तो है न ठप्पा देने। तुमलोग भी तो वही करता है न। बाकी काम तो मशीने से न होता है।

जिस दिन का यह वाकया है सभी पशोपेश में पड़ गये थे। रोजगार सेवक ने सबको शांत करवाया – भाइयो! शांति रहिए, शांति रहिए। बैठक को भरस्ट मत कीजिए। पाँच घर ही तो मात्र दलित हैं गाँव में। सबको लेके चलना है साथ। सब ठप्पा लगाइये।

– जी. राम!

पुकार पर जी. राम ने उठाया अपना एक मात्र हाथ– हाजिर मालिक।

– आइये ठप्पा लगाइये। यहाँ पर। सबका नाम प्रखण्ड में भेजा जायेगा। बी.डी.ओ. साहेब जाँच करेंगे फिर जिला जायेगा।

– पैसवा कब तक मिल जायेगा मालिक – जी. राम व्यग्र थे।

– अरे, अभी देर लगेगा। सवधानी रखना पड़ता है। रोजगार सेवक ने धीरज की गोली खिलाई। आजकल बहुत झोल–झाल है। आर. टी. आई, सोशल ऑडिट।

महतो जी हँसते हुए बोले–अरे! सब तीर–तलवार लौट जायेगा रोजगार बाबू। खाली इन लोग पाँच परिवार का नाम शुरू में ही लिख दीजियेगा। एकदम सौलिड कवच–कुंडल।

रोजगार बाबू सार्वजनिक रूप से हँसना तो दूर कभी मुस्कराते भी नहीं थे तो फाइलें समेटने लगे। पद का नाम रोजगार सेवक था और यह उसी तरह के सेवक थे जैसे मंत्री जनता के सेवक होते हैं, प्रधानमंत्री प्रधान सेवक होते हैं। दरअसल मजा यह था कि जनता कोई दिखनेवाली चीज तो थी नहीं। ईश्वर की तरह एक अमूर्त कल्पना थी तो सीधे–सीधे ऐसा नहीं होता था कि जनता नाम का प्राणी आया और उसकी टाँगें दबाने बिठा दिया गया या मालिश या चम्पी करनी पड़ गयी। जनता उस न दिखनेवाली गर्द की तरह थी जो जब जरूरत हुई विरोधी पक्ष की आँखों में झोंकने के काम आती थी। तो रोजगार सेवक भी मन ही मन में गा रे मन रे गा करते हुए जनता के लिए सौ दिन या एक सौ बीस दिन का रोजगार सुनिश्चित करके चले गये। दूसरे–तीसरे दिन से जी. राम और इसी तरह के प्राणी प्रखण्ड के चक्कर लगाने लगे। बैंक में जाकर दरबान से पूछते – बाबू। पैसवा आया? गाँव के बरगद के नीचे ताश खेलते लड़के आपस में बात करते – पैसवा आया तुम्हारा? काम शुरू नहीं हुआ तो पैसा कोन बात का? पोखरा खोदायेगा यहाँ पर। जनता पोखर में पानी और खाते में रूपया देखने का भान करने लगी।

– बाबू! खाना खा लो – कितना मीठा बोलती है बहू। इ सरवा मेरा बेटवा कहाँ से सीख के आया। पप्पा। पहले बप्पा बोलता था। जब से टौन रहके आया है तभी से।

– हाँ, दे दो! – खुश थे जी. राम।

खुश थे एम. राम भी। रोजगार बाबू ने एम. राम को ठीक पहचान लिया था। लिख लिया था नाम भी

– नाम एम. राम, जाति –

– नाम बुधवंती देवी, जाति –

एम. राम खुश थे कि उन लोगों का नाम खाते मे इतनी जल्दी चढ़ गया। रोजगार बाबू खुश थे कि उनका उसूल कायम रह गया साथ ही कोटा भी पूरा हो गया। एम0 राम की समझदारी ने उनके उसूल को बचा लिया। टाउन में रहकर आदमी समझदार हो ही जाता है। देहाती होने से पचास सवाल करता–क्यों? किस वास्ते? प्रसन्न मन से सूची लेकर प्रखंड पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही अपशगुन दिखा–तब रोजगार सेवक जी? सुनने में आया है कि सूची में एट्टी पसर्ेंट फर्जी नाम है। दिखाइये।

– देखिए! सरकारी दस्तावेज हैं। दिखा नहीं सकते।

– दस रूपया लगा के पूछेंगे तक तो दिखाइयेगा।

सवाली जी दरअसल उस नई उग आयी बिरादरी के सदस्य थे जो अंधेरे कोने अतरे में अचानक सवालिया टार्च की रोशनी फेककर अस्त व्यस्त हालत में देख लेते थे। फिर कुछ दे दिलाकर सवालों के टार्च बुझाने की मिन्नत की जाती थी। प्रखण्ड, जिला, राजधानी में इन सवाली लोगों की संख्या बढ़ती जा रही थी। दस रूपया लगाया, लाखों का सवाल पूछ डाला। कभी–कभी दाँव लग गया तो एकाध महीने का खर्चा निकल गया। कभी–कभी दाँव उल्टा भी पड़ जाता था – 'इसके पाँच सौ पन्ने हैं। फोटोकापी के पाँच सौ जमा करा दें तो फाइलों की प्रति उपलब्ध कराई जा सकते हैं।' दुर साला! अब पाँच सौ कौन लगाये? इसमें हर तरह के सवाल होते थे– मसलन सूची में अनुसूचित जाति के कितने लोग हैं से लेकर अमरीकी आर्थिक नीति से कटमसांडी प्रखण्ड के कितने लोगों का जीवन सीधे–सीधे प्रभावित हुआ तक।

बुधवंती की देह को छूकर देखा एम. राम ने। ठंढी पड़ रही थी देह धीरे–धीरे। जी. राम दरवाजे के पास धीमे सुर में विलाप करते हुए कनखियों से एम. राम की गतिविधियों पर नजर रख रहे थे। एम. राम बार-बार भावुक हो रहे थे। भिनक रही थी, मक्खियाँ, उड़ा रहे थे। आजकल बरसात के दिन थे तो मक्खियाँ कभी भी कहीं भी भिनकती रहती थीं। दिन–रात का खयाल किये बिना। जी. राम ने मन को स्थिर किया। सवालिया निगाह बेटे पर डाली।

जी. राम – तब बाबू! अब तो किरिया–करम भी तो करना होगा न।

एम. राम – भोर होगा तब न, अब तो।

जी. राम – हाँ, लेकिन बुधवंती के मट्टी को तो नीचे लाना होगा न खाट पर से।

एम. राम उठकर हाथ लगाने लगे तो जी. राम भी साथ आ गए। दोनों ने मिलकर बुधवंती को खाट पर से नीचे उतारा। एक फटी चटाई पर रखा।

जी. राम – उत्तर–दक्खिन सुलाओ। का करोगे बाबू! सोचो, एतने दिन का साथ था। विधि का विधान। पास में पैसा है न? कफन–लकड़ी सब........

एम. राम – सब इंतजाम किया जायेगा। एतना दिन सुख–दुख में साथ दी तो करना पड़ेगा न।

जी. राम– उ तो करना ही पड़ेगा। मतलब हम कह रहे थे कि उधर रोजगार बाबू के सेवा में भी तो निकल गया न।

बड़े लाड़ से जी. राम एक प्लास्टिक पाउच फाड़कर दो गिलासों में ढाल रहे थे। एक अपनेपन से बेटे की ओर बढ़ाया – ले ले बाबू! तकलीफ घटेगा। एम. राम ने सिर नीचा किए ही गिलास हाथ में ले लिया।

जी. राम – जोजनवा वाला कुआँ पास हो जाता न। सब दुख–दलिद्दर दूर हो जाता।

एम. राम ने गटगटाकर एक ही सांस में गिलास खाली कर दिया।

जी. राम ने अनुभव बाँटा – धीरे बाबू धीरे। कलेजा जल जायेगा।

एम. राम – कलेजा तो पानी हो गया पप्पा, हमरी वैफ (वाइफ) चल गई। उ तो सरग जायगी न पप्पा?

जी. राम – एकरा में कोय शक है बाबू। एकदम पतिवरता थी। तुमको छोड़के किसी के तरफ देखी भी नहीं।

एम. राम – लैफ (लाइफ) बरबाद हो गया पप्पा।

बोलते–बोलते आधा नशा, आधी थकान से सिर एक ओर लुढ़क गया। दरवाजे से सटकर जी. राम भी ऊँघने लगे थे। पानी लगातार बरसे जा रहा था। एम. राम का फोन लगातार बजे जा रहा था। जी. राम ने झकझोर कर एम. राम को जगाया।

– ऐं!

– फोन!

– अरे! इ रात को रोजगार बाबू काहे फोन कर रहा है। रात–बेरात फोन करने का आदत है इसको।

– बधाई हो राम जी!

– कोन ची का सर?

– बुधवंती देवी तोरे वाइफ का नाम है न? जोजना वाला कुआँ पास हो गया उसके नाम से। हम बोले थे न

वाइफ के नाम से दरखास दो। एक तो महिला, उपर से दलित। एकदम ब्रह्मास्त्र। साला पास कैसे नहीं होता।

– अभी रात में पास हुआ सर ?

– अरे नहीं रे बुड़बक! अभी हमरा मतलब शाम में तुम जानबे करते हो। तनी सा–हमरा तो फिक्स है न। तो अभी नींद खुला तो सोचे तुमको खुशखबरी दे दें।

एम. राम – सर! उ बुधवंती तो–

जी. राम ने फोन छीन लिया – मैके चल गई है। बच्चा होने वाला था न तो।

– अरे कोय बात नहीं, खाता में न पैसा जायेगा। खाली हमरा सही टाइम पर जल्दी ही....

जी. राम – एकदम मालिक!

एम. राम अपने बाप को फटी आँखों से देखे जा रहा था। जी. राम का नशा हिरन हो चुका था।

जी. राम – अब बाबू! जल्दी सोच का करना होगा।

एम. राम – मतलब।

जी. राम – देख कितना पतिबरता थी बुधवंती। जाते–जाते भी हमलोग का लंबा जोगाड़ कर गयी। भगवान! उसको एकदम सरग के गद्दी पर बैठाना। केतना मिलता है बाबू कुआँ का।

एम. राम – एक लाख उनासी हजार। उसमें बड़ा हिस्सा उ रोजगार बाबू खा लेगा।

जी. राम – अरे तो कोनो हमलोग का पूंजी लगा है, जो मिलेगा सब फायदे न है। कुआँ खनवाने में कहीं एतना पैसा लगता है। धन्य है बहू!

एम. राम – लेकिन इ बुधवंती!

जी. राम – वही तो! सुन! ध्यान से सुन! किसी को कानोंकान खबर नहीं हो। कुछ इंतजाम करना होगा। भगवान भी हमलोग का भला चाहते हैं तभी इ छप्पर फाड़ बारिश....

सहन के किनारे रखी कुदाल उठा लाये अपने एक मात्र हाथ में। सिर पर बोरे का घोघे (छाते की तरह) डाल दिया, जैसे रणभूमि में जाने के लिए तैयार सिपाही हो।

एम. राम बाप का बाना देखकर थोड़े परेशान है मगर धीरे–धीरे समझ में आ रही है बात।

एम. राम – लेकिन पप्पा, बुधवंती की मट्टी खराब हो जायेगी। इ सरग कैसे जायेगी।

जी. राम – कोय लौट के बताया है कि सरग गया कि कहाँ गया।

एम. राम – लेकिन हमरा से पूछेगी कि हमरा किरिया–करम भी नहीं किए तो हम का जवाब देंगे ?

जी. राम – किरिया–करम तो होगा बस थोड़ा दूसरा तरीका से। देख। माटी का शरीर माटी में मिलना है। चाहे जैसे मिले। गफूरवा का बाप मरा था तो सरग गया होगा कि नहीं। एतना एकबाली आदमी था।

जी. राम पूरे दार्शनिक हो चुके थे। दर्शन को कर्त्तव्य में भी ढालने को सन्नद्ध भी। एम. राम भी भावकुता के खोल से धीरे–धीरे बाहर आ रहे थे। एक चमक सी आँखों में लौट रही थी। कुदाल बाप के हाथ से ले ली। घर के पिछवाड़े टाँड़ जमीन थी। आज उन्हें अपने रहने के ठिकाने पर गर्व हुआ कि गाँव के एक किनारे रहने के भी अपने फायदे हैं। एम. राम गड्ढा खोदते जाते। जी. राम एक मात्र हाथ से मिट्टी निकाल–निकाल कर फेंकते जा रहे थे। बोरे का घोघो फिंका चुका था। दोनों कीचड़ में लथपथ किसी दूसरे ग्रह के प्राणी लग रहे थे जो किसी गुप्त खजाने की तलाश कर रहे हों। साढ़े तीन हाथ लंबा और चार हाथ गहरा गड्ढा खुद जाने तक दोनों रुके नहीं। कौन कहता था वे कामचोर थे।

कीचड़ से लथपथ, थकान से चूर वे घर लौटे तो पौ फट रही थी। चापाकल पर दोनों ने रगड़–रगड़कर नहाया। पानी बरसना भी बंद हो चुका था।

नींद से भारी आँखों को थोड़ा खोलते हुए पूछा एम. राम ने – पप्पा! बुधवंती को हमलोग कफन तो दिए नहीं। बिना कफन के ही सरग जायेगी ?

जी. राम ने जम्हाई लेकर जवाब दिया – धरती ही कफन है उसका। सो जा। दस बजे प्रखंड आफिस भी जाना है न रोजगार बाबू से मिलने।

6, रातू रोड, आकाशवाणी,
राँची 834001 (झारखंड)
मो. – 9470956032

जयश्री रॉय

संधि

आजकल उतरते दिन की अशक्त होती धूप उसके घर के छोटे-से कंपाउण्ड के सामने वाले लकड़ी के पीले गेट पर थोड़ी देर के लिए ठिठकती है और फिर तेज़ी से रास्ते की दूसरी तरफ खड़े मौलसिरी के बौने, छतनार पेड़ की ओर सरकती जाती है। इसके बाद दिन के ढलने में ज्यादा समय नहीं लगता। जैसे रात और दिन की संधि पर खड़ा है यह गेट। इसके एक तरफ निरंतर सिमटती हुई सुबह, संक्षिप्त होती दुपहरें हैं और दूसरी तरफ तेजी से घटती शामें और धीरे-धीरे लंबी खिंचती जाती रातें... वैसे भी सर्दी के दिन शुरू हो गए हैं। हवा में खुनक आ गई है। दोपहरें अलस और तापहीन। कितनी जल्दी समय गुजर रहा है... धूप के साथ मानसी भी गेट पर थोड़ी देर खड़ी रह जाती है। उसकी आँखें गेट पर रखे अपने बाएँ हाथ की उभरी नसों पर हैं- धूप में पारदर्शी और धड़कती हुईं! पहले इन में नर्म परों वाली ढेर सारी खुशरंग तितलियाँ हुआ करती थीं... ये बात बहुत पहले की है। अब याद करने के लिए दिमाग पर खासा ज़ोर देना पड़ता है उसे। बाहर नहीं, मौसम भीतर भी बदलता है निरंतर, वह इन दिनों महसूसती रहती है इस बात को शिद्दत से।

कैसी विडम्बना है कि जिस घर में हर दिन समय से लौटती है, उसी में दाखिल होने का मन नहीं करता। हर कदम पर लगता है, रास्ता कुछ कदम और बढ़ जाय... मगर यह रास्ता अंततः उसे उसके घर तक पहुंचा ही देता है। कई बार वह दूसरी सड़क से घूम कर आती है, कई बार बहुत धीरे, छोटे-छोटे कदमों से भी। साथ ही अपनी घड़ी भी देखती जाती है- कहीं बहुत देर तो नहीं हो गई! कुछ दिन हुये, बस स्टैंड के पास वाले छोटे नाले पर वर्षों से टूटी पड़ी पुलिया भी दुरुस्त कर दी गई है। अब वह घर और जल्दी पहुँचने लगी है। बस से उसके साथ उतरने वाले दूसरे यात्री तेज़ी से अपने गंतव्य की ओर चल पड़ते हैं। साथ में वह भी। मगर कुछ दूर चल कर उसके कदम अपने आप धीमे पड़ जाते हैं। इन तेज चलते लोगों के लिए कहीं कुछ अच्छा इंतज़ार कर रहा होगा। उसके लिए घर के नाम पर तो बस ढेर सारी शिकायतें और कुछ जर्द दीवारें खड़ी हैं...

गेट खोल कर वह कम्पाउन्ड के अंदर दाखिल होती है। लॉन की सूखी घास पर बांस के ढेर सारे पत्ते बिखरे पड़े हैं। सूने गमलों की कतार के पीछे बगल की दीवार से सटे बोगनबेलिया में एक गुच्छा फूल- चटक लाल!... पीली पड़ती धूप में हल्के-हल्के काँपते हुये! उनकी तरफ देखते हुये मानसी फिर ठहर जाना चाहती है मगर अपनी माँ के खाँसने की आवाज सुन कर दरवाजे की ओर बढ़ जाती है। डुप्लीकेट चाभी से घर के अंदर दाखिल हो भीतर से दरवाजा बंद करते हुये वह माँ का बड़बड़ाना ना सुनते हुये भी सुनती रहती है। माँ बोल रही है- वही जो हमेशा बोलती है- जोड़ों का दर्द, मुंह में बना हुआ कड़वा स्वाद, सारा दिन दिल का घबराना... अपना बैग बिस्तर पर फेंक कर वह कपड़े, तौलिया ले कर बाथरूम में घुसती है। पूरा शहर उसके साथ अपनी धूल, शोर और गंदगी के साथ घर में घुस आया है। इन्हें अपनी त्वचा से जितनी जल्दी हो सके उतार फेंकना होगा। शुक्र है नल का पानी दोपहर की धूप में अभी भी गरम है। गीज़र तो जाने कब से बिगड़ा पड़ा है। कनेक्शन में कुछ प्रोबलेम होगा। इलेक्ट्रीशियन को बुलाना हर दिन रह जाता है। पिछला बरामदा भी महीना भर हुये, अंधेरे में डूबा रहता है। माँ कह रही थी कंपाउंड से लगे गुलमोहर के नीचे रोज शाम चार-पाँच लफंगे बैठ कर जुआ खेलते हैं। कभी उन में आपस में मारपीट, गाली-गलौज भी होती है। एक दिन बीयर की खाली बोतलें इधर फेंकी थीं। "कभी अंधेरे में इधर उतर आएं तो हुआ! अंधों की तरह सारा दिन अकेली पड़ी रहती हूँ, कोई गला काट कर भी चला गया तो किसी को पता नहीं चलेगा!" माँ को रोते देख उसके भीतर जाने क्या घिर आता है। अवसाद के साथ खीज, झुंझलाहट... ना जाने किस पर! आँसू, उसांसें, कराह... यह सब उसे वितृष्ण करते हैं। कभी-कभी उसे लगता है, लोग अपने दुख, तकलीफ में कम, दूसरों को अपराधबोध कराने के लिए ज्यादा रोना-धोना करते हैं। इन दिनों अक्सर ऐसी मन:स्थिति बनी रहती है। उठते-बैठते ढह पड़ने को जी चाहता है। जब भीतर इतनी टूटन हो, कितना मुश्किल होता है सहज बने रहना, सबसे निभाना! चेहरे पर मुस्कान चिपकाए सुबह से शाम तक अभिनय- खुद से भी और दूसरों के सामने भी।

आज कल सुबह आँख खुलते ही ख्याल आता है- एक और दिन! पूरे बारह घंटे- चलना, हँसना, बोलना... किसी कठपुतली की तरह! काठ की हँसी, काठ की बोली। बस काठ का मन नहीं, काठ की आँखें नहीं। असल मुसीबत इनसे है। जाने कैसे इस सूखी जमीन से इतना नमी बटोर लाती है! एक समय हुआ, कहीं खुद को निरापद पाती है तो बस नींद में, बिना कोई सपने वाली गहरी काली नींद- शुक्र है कि अभी कुछ समय की दूरी पर है यह दुनिया, इसके तमाम शोर-गुल, कारोबार। बीच में अंधकार की ऊंची, तरल दीवार है, नींद और चुप्पी भी... वह कस कर आँखें मूँदे रहती है। रात को थोड़ा और लंबा खींचने के लिए, दुनिया को परे धकेलने के लिए।

मगर उसकी हर कोशिश के बावजूद हर दिन सुबह अपने समय पर होती है। वह उठती है, माँ का कमरा साफ करती है- बेड पैन, बिस्तर... नीम अंधेरे कमरे में पेशाब की तेज बू के साथ माँ की गीली, उदास आँखें, अपने में सिमटी-सिकुड़ी अशक्त काया... सब कुछ बारिश के डबडबाये मेघ-सा उसके अंदर घिर आता है। बिस्तर, कपड़े तहाते हुये खुद को सायास जब्त करती है- रुलाई को उठा कर रखना पड़ेगा रात तक के लिए। अभी काम हैं- ढेर सारे! माँ, घर, नौकरी, दुनिया... माँ की निरंतर बड़बड़ाहट के बीच वह तेजी से हाथ चलाती जाती है। रुकने-ठहरने के लिए उसके पास जरा समय नहीं। माँ को इस बात से भी शिकायत है- उसके पास अपनी माँ के लिए कभी समय नहीं रहता। हमेशा बाहर की ओर मन। इतना ही बोझ बन गई है उसके लिए तो विनती के यहाँ छोड़ आए। बिचारी तो बुला-बुला कर हार गई... वह सुनती है चुपचाप, कहीं से खुद को कुंद, निर्लिप्त बनाते हुये। भीतर का एक प्रांजल, स्पंदित हिस्सा अरसा हुआ, ऊसर हो गया है जैसे। अब ये बातें बस आवाजें हैं उसक लिए- अर्थ हीन शोर! गहरी विरक्ति के बीच माँ के लिए रह-रह कर दुख भी होता है। एक द्वंद्व-सा हर समय भीतर बना रहता है। दो परस्पर विरोधी मन:स्थिति में एक साथ जीना- विरक्ति और करुणा में! किसी की विवशता किसी और की जिंदगी की सबसे बड़ी विवशता बन जाय... हाथ-पैर की बेड़ी बनी रहे आजीवन! प्रेम, आत्मीय से आत्मीय संबंध- जब कुछ भी मजबूरी बन जाता है, अपने आप बोझ भी बन जाता है। अनायास उतार फेंकने का मन करता है। और मन का यही चाहना ग्लानि का गहरा दंश बन कर समय-समय परेशान करता है। जैसी भी है, माँ तकलीफ में है। मगर उसकी मदद नहीं की जा सकती। वो करने नहीं देगी! यह स्थिति और भी त्रासद है उसके लिए। आँखों के सामने डूबने वाला इंसान मदद के लिए किसी का बढ़ा हुआ हाथ नहीं थामेगा। वहम की एक पूरी दुनिया है उसकी।

मकड़ी के जाले की तरह कई-कई परतों में बुनी हुई, भ्रांतियों का सघन गुंजल। अनगिन गांठ, गिरह से भरी हुई। वह आजीवन उलझी है उसके रेशों में। छुटेगी नहीं कभी। उसी में तिल-तिल जीना और तिल-तिल मरना है उसे। और मानसी को... बस देखना! अंतत: हर चीज के लिए दोष भी उसे ही दिया जाएगा। वह जानती है और इसके लिए कहीं से तैयार भी है। दूसरा कोई विकल्प भी तो नहीं उसके पास! जवाबदेही ज़िम्मेदारी उठाने वालों की ही बनती है। इल्जाम भी अक्सर उन्हीं के हिस्से आते हैं।

वास्तविकता से माँ का कुछ लेना-देना नहीं। जानना नहीं चाहती। अपनी खुशफहमियों और गलतफहमियों में निरंतर जी रही है। यह उनका अपना रचा स्वर्ग है, नरक है। नियति से ज्यादा उनका चुनाव! मगर विडम्बना यह है कि मरने वाला हमेशा अकेला कहाँ मरता है! डूबने वालों की तरह अपने साथ जाने क्या-क्या डुबो ले जाता है... मानसी जानती है, उनके आसपास निरंतर मरती कई चीजों में से एक वह भी है। अब वह जिंदा लोगों में खुद को नहीं गिनती। उसके डी एन ए में घुला आनुवंशिक अवसाद उसकी सारी देह, आत्मा पर कालिख की तरह पुत गया है, अणु-अणु में रिस रहा है हर समय विष की तरह। उसे अपना सलीब उठा कर चलना पड़ेगा, जब तक चल सके।

माँ के इस कमरे में दिन के समय भी अंधेरा छाया रहता है। वह हर समय खिड़कियाँ बंद रखना चाहती है। कभी उसे हवा से परेशानी है तो कभी शोर से। मानसी जिद कर के रोज खिड़की खोलती है, थोड़ी धूप, हवा, आसमान के लिए। बंद कमरों में उसका दम घुटता है। इस समय पूरब की तरफ खुलने वाली खिड़की के परदे हटाते ही कमरे में जगमगाती धूप भर आती है। आकाश का रंग बदलने लगा है। बर्फीला नील... हवा में नए मौसम की खुनक, तीखी गंध है- घास के दूध की छींट-से नन्हें फूलों की, सूखती काई की। पड़ोस के घर के आँगन में तेल से चुपड़ा एक गोल-मटोल बच्चा रंग-बिरंगी कथरी पर सुबह की धूप सेंकने लिटाया गया है...। ताजे खिले सूरजमुखी-सा! उसके होंठ निरंतर हिल रहे हैं, जैसे दूध पी रहा हो... उसकी तरफ देखते हुये कुछ पलों के लिए वह खिड़की की ठंडी सलाखों से अपना चेहरा सटाये खड़ी रहती है। भीतर थिरते पानी-सा कुछ शांत हो आया है। बीच में बस छत की मुंडेर पर बैठी अकेली गौरैया की ठुनकती आवाज और हवा की सरसराहट... उसे अच्छा लग रहा है- इस तरह एकदम से अकेली हो आना, जैसे उसके और प्रकृति की असीम नीरवता के बीच और कहीं कुछ ना हो, उस नवजात की हल्की कुनमुनाहट के सिवा!

माँ थोड़ी देर के लिए चुप हो कर चाय पीने लगी थी। मगर उसे इस तरह खिड़की पर खड़ी देख कर फिर शुरू हो गई थी- विनीता का कल फोन आया था। कह रही थी आज तुमसे बात करेगी। माँ मैं उसकी भी हूँ, एकदम से लावारिश भी नहीं कि कोई कुछ भी करे और वह चुप रह कर देखती रहे। नाश्ता के बर्तन, जूठे कप, गंदे बिस्तर आदि समेट कर कमरे से निकलते हुये उसने बस अपना सर हिलाया था। ऐसे में बहुत मुश्किल से वह अपना धैर्य बनाए रहती है। और करे भी तो क्या! एक बार हफ्ते भर के लिए विनीता माँ को अपने घर ले गई थी मगर चौथे ही दिन हजार बहाने बना कर लौटा गई। माँ का बड़ा मन था अपनी दुलारी बेटी के घर थोड़े दिन और ठहरने का। उसने किसी तरह उन्हें बहला-फुसला कर शांत किया था। कैसे बताती कि उसके दामाद को हर वक्त उसका उनके नीजि मामलों में टांग अड़ाना पसंद नहीं आता। बच्चों को उसकी देह से उठती दुर्गंध से घिन आती है, विनीता के पास चौबीस घंटे उसके पास बैठ कर उसकी शिकायतें सुनने का समय नहीं... फिर उनका घंटों चलने वाला पूजा-पाठ! घर में अक्सर मेहमान आते हैं, पार्टियां होती हैं, उन्हें बड़े लोगों में उठना-बैठना पड़ता है। कुछ ही दिनों में माँ, उसकी आदतें, व्यवहार उन लोगों लिए 'ह्यूज़ एमबरासमेंट' बन गया था।

वह जानती है, विनीता फोन पर उससे क्या बात करने वाली है। माँ के लिए खूब चिंता जताएगी, अपनी विवशता बताएगी और उसे ढेर सारी नसीहतें दे कर फोन रख देगी। हाँ, एक बार यह भी पूछेगी कि उसे किसी बात की जरूरत तो नहीं? जरूरतें... क्या-क्या बताए और कितना! इस घर की हालत क्या है, क्या विनीता को खुद पता नहीं! उसका यूं अंजान बन कर पूछना भी मानसी को अपमानजनक लगता है। माँ अर्से से बीमार है, बाबूजी का छोटा-सा पेंशन और उसकी हाल में लगी अस्थाई नौकरी। डॉक्टर, दवा के बिल में ही सब निकल जाता है। फिर हर दो-तीन महीने में अस्पताल का दौरा। तरह-तरह के टेस्ट...

बीच में बाबूजी की बीमारी और मृत्यु के बाद एक लंबे समय तक नौकरी छोड़ कर उसे घर में बैठना पड़ा था। माँ अकेली थी। हमेशा की तरह बीमार भी। जब कुछ महीनों के लिए एक डे नर्स का बंदोबस्त हुआ तो उसने घर से बाहर

कदम निकालने की हिम्मत की। एक साल हुये लेक्चर बेसिस पर एक स्थानीय कॉलेज में पढ़ा रही है। नेट-सेट ना कर पाने के कारण पक्की नौकरी पाने की भविष्य में कोई उम्मीद नहीं। पी एच डी भी रह ही गया है। इधर कुछ ही दिनों में होम नर्सों के संवेदनहीन, शुष्क व्यवहार से सबका जीना मुहाल हो गया था। थोड़े-से अंतराल में कई नर्स बदलने पड़े थे। इनके लिए अक्सर बीमार व्यक्ति कोई मनुष्य ना हो कर सिर्फ एक पैसे कमाने का जरिया होता है। उनकी तकलीफ से इन्हें कोई लेना-देना नहीं होता। बैठ कर वे या तो मोबाईल पर बात करती रहती है या घड़ी देखती रहती है कि कब उनके गिनती के घंटे पूरे हों और वे अपना पैसा ले कर घर जाय। कुछ समय तक बरदाश्त करने के बाद वह एक को हटा कर दूसरी को ले आती। मगर नतीजा वही ढाक के तीन पात! अंतिम वाली को हटाने के बाद से उसे लगने लगा है, यह नौकरी भी वह ज्यादा समय तक कर नहीं पाएगी। एक तरफ घर की बिगड़ती हालत है, दूसरी तरफ डिपार्टमेन्ट की गंदी राजनीति। वह झेल रही है, सतर खड़ी है मगर सतह पर बने रहने की लाख कोशिशों के बावजूद भीतर से कहीं बिखरने लगी है। आगे कब तक और कहाँ तक यह सब ले पाएगी नहीं जानती, धैर्य का तटबंध टूटने की कगार पर है। इस तरह टुकड़ों में बंट कर कब तक जिया जा सकता है।

उसकी कोलिग अमिषा अक्सर उससे अपना टिफिन शेयर करते हुये लंच टाइम में पूछती है, ऐसे कब तक मानसी! अड़तीस की हो गई हो... उसके पास अमिषा के प्रश्नों का कोई जवाब नहीं होता। खाना बीच में छोड़ कर उठ खड़ी होती है। अमिषा भी शायद यह बात समझती है। उसका हाथ पकड़ कर वापस बैठा लेती है- ठीक, कुछ नहीं पूछती। खाना खा ले। इस पूरे कॉलेज में अमिषा का ही सहारा है। वरना यहाँ वह बिल्कुल अलग-थलग पड़ गई है। कुछ महीनों से विभाग प्रमुख डॉक्टर रमा का अपने प्रति अजीब-सा व्यवहार वह समझ नहीं पा रही। उसने खुद ही बढ़ कर उसे फिर से नौकरी करने के लिए प्रेरित किया था। तब शायद वह उसके लिए एक बेचारी-सी औरत थी जिसकी मदद करते हुये उसे अपने बड़प्पन का एहसास होता था। मगर जैसे ही प्रिंसिपल ने सबके सामने उसकी कई बार तारीफ कर दी, विद्यार्थियों ने फेवरिट टीचर के रूप में उसका नाम ले लिया, वह तिक्त हो उठी। ऊपर से युनिवर्सिटी सेमिनार में उसे बुलाया जाना आग में घी का काम किया। उन पत्रिकाओं में उसके लेख, समीक्षाएं छप रही हैं जहां से उसकी जाने कितनी रचनाएँ लौटा दी गई थीं! विभाग के कार्यक्रमों में बाहर से आने वाले साहित्यकार अतिथि सबसे पहले उससे मिलने की ख़्वाहिश जाहिर करते हैं, उससे घुल-मिल कर बोलते-बतियाते हैं... इन बातों ने जाने कहाँ से उसे असुरक्षित कर दिया था। जिस पर उसने एक दिन दया की थी वह आज उसे चुनौती देने लगी! उसे- डॉक्टर रमा को! डॉक्टर रमा- एम फिल, पी एच डी, एच ओ डी, संत मेरी कॉलेज... उसे भी ऐसों से खूब निपटना आता है। अब तो वह मौका ढूंढती रहती है उसे किसी ना किसी तरह अपमानित करने का। कभी क्लास में स्टूडेंट्स के सामने झिड़क देती है तो कभी स्टाफ रूम में अपमानित करती है।

लेक्चर बेसिस पर होने की वजह से उसे कॉलेज में किसी तरह की सहूलियत हासिल नहीं। स्टाफ रूम में बैठने के लिए उसे एक कुर्सी तक नहीं दी गई है। कोने में रखे एक स्टूल पर बैठना पड़ता है या जब कोई टीचर क्लास लेने जाता है, तब उसकी कुर्सी पर जिसे उनके आते ही खाली कर देनी पड़ती है। लायब्रेरी, दफ्तर, हर जगह लेक्चर बेसिस पर काम करने वाले टीचरों के साथ अभद्र व्यवहार किया जाता है। उन्हें दिहाड़ी मजदूरों से ज्यादा नहीं समझा जाता। कई बार अपनी तनख्वाह मांगने पर उसे कैशियर से अपमानित होना पड़ा है। कभी वह उसका लंच टाइम होता था तो कभी कोई और ज़रूरी काम। प्रिंसिपल के ऑफिस के बाहर मिलने के लिए देर तक खड़े रह कर भी इजाजत नहीं मिली है। जान-बूझ कर अनदेखा कर दी गई है। डॉक्टर रमा की देखा-देखी स्टाफ रूम में दूसरे टीचर भी उससे बोलना छोड़ चुके हैं। बी ए फाइनल के कुछ लगातार क्लास बंक करने और फेल करने वाले बड़ी उम्र के स्टूडेंट्स डॉक्टर रमा के कहने पर उठते-बैठते हैं। इन दिनों वे बात-बात पर उसकी शिकायत ले कर डॉक्टर रमा या प्रिंसिपल के पास पहुँचते हैं। क्लास के दौरान भी उनका उपद्रव जारी रहता है। कई बार उनके उद्दंड, अभद्र व्यवहार से आहत हो कर वह लायब्रेरी के किसी निर्जन कोने में बैठ कर रो चुकी है। बहुत उम्मीद और हौसला ले कर यहाँ आई थी मगर अब लगने लगा था जैसे पूरी दुनिया ही उसके खिलाफ हो गई है। जाने क्यों...

साल में छोटी-छोटी कई परीक्षाएँ होती हैं। डॉक्टर रमा एक प्रश्न-पत्र उससे दस-दस बार सेट करवाती है, हर बात में गलतियाँ निकालती है। फाइल में उसकी उपस्थिति जाँचते हुये उसके लेक्चरों की संख्या को ले कर उससे

अपमानजनक प्रश्न भी पूछ चुकी है। वो एम ए में उसकी सहपाठी थी और मानसी उसे दरकिनार कर युनिवर्सिटी में प्रथम आई थी, इस बात के लिए शायद डॉक्टर रमा उसे आज भी माफ नहीं कर पाई थी। हर कदम पर रुतबे में उससे बड़ी होने का अहसास दिलाती रहती है। अब कई दिनों से मानसी यह नौकरी छोड़ देने पर गंभीरता से विचार करने लगी है। यह सब और सहता नहीं।

रोज घर से निकलते हुये उसका एक मन पीछे पड़ा रह जाता है तो एक मन इन अंधेरी गलियों और कराहते कमरों से सांकल छुड़ा कर भाग जाना चाहता है- बहुत दूर। घर में उदासी है, सन्नाटा है और है माँ की अंतहीन शिकायतें। बाहर कुछ नहीं मगर भीड़ है, शोर है, जिंदगी की गहमा-गहमी है। वहाँ वह थोड़ी देर के लिए खुद को भूल सकती है, खो सकती है सड़कों पर बहते हुये इंसानी सैलाब में। बस में जिस दिन उसे बैठने के लिए जगह मिल जाती है और अगर वह किस्मत से खिड़की वाली सीट हो तो वह पूरे रास्ते बच्चों की-सी उत्सुकता से खिड़की से बाहर एक-एक चीज देखती रहती है। फुटपाथ पर बिकते सामान, फेरी वाले, दूकान के विंडोज़ पर सजे पुतले, हाँफते, दौड़ते-भागते लोग... हवा में धूल है, धुआँ है, सड़क किनारे खुले चूल्हों में पकते-छनते पकवानों की खुशबू, बेला की ताजी वेणियों और छोटे-छोटे मंदिरों में जलती अगरबत्तियों की सुगंध... लोग चल रहे हैं, बोल-बतिया रहे हैं, झगड़ रहे हैं- जी रहे हैं! यहाँ सब कुछ सुंदर ना हो, जिंदगी तो है!

जिंदगी... वह शब्द को मन ही मन बार-बार दुहराती है। ठीक कब से यह अपना माने खोने लगी! इन दिनों उसके भीतर एक निरंतर संवाद चलता रहता है- खुद से ही। ना चाहते हुये भी वह बार-बार लौटती है पीछे की ओर। यह रास्ता एक कदम भी समतल नहीं। नागफनी के जंगल-सा है। जाने वह कैसे अब तक इस पर चलती रही... शून्य पड़ गए अपने पाँव के तलवों को महसूस करने की कोशिश करते हुये वह सोचती है। याद कुहासे की तरह हर पल छटती, गहराती है। सब कुछ क्षणांश के लिए दिखता है फिर विस्मृति के कोहरे में खो जाता है... विनीता- उसकी छोटी बहन बहुत सुंदर है, गोरी-चिट्टी और स्मार्ट। स्कूल में डांस, वाद-विवाद, संगीत- हर प्रतियोगिता में पुरस्कार जीत कर लाती है। दूसरी तरफ वह बस सर झुका कर स्कूल जाती-आती है। एक कोने में बैठ कर चुपचाप पढ़ाई करती है। ना 'हाँ' बोलना आता है उसे ना 'ना'। स्कूल में बच्चे उसे बहनजी कह कर चिढ़ाते हैं। यह जान कर कि दोनों सगी बहने हैं, लोग हैरत में पड़ जाते हैं। कहाँ सुंदर, स्मार्ट विनीता, कहाँ साँवली, साधारण वह! विनीता हमेशा माँ की फेवरिट। उसके जन्म के समय घर की माली हालत खराब थी। माँ की ढंग से कोई देख-भाल नहीं हो पाई थी। मगर विनीता के समय बाबूजी की अच्छी नौकरी लगी थी। माँ ने खूब केसर-दूध पिया था। तभी तो विनीता का यह रंग-रूप! उठते-बैठते माँ यह सब कहते नहीं अघाती थी। विनीता ये, विनीता वो... विनीता मलाई वाला दूध नहीं पीती, विनीता बैगन नहीं खाती, विनीता को ठंड लग जाएगी... मगर मानसी की कोई पसंद-नापसंद नहीं। वह सब खाती है, कुछ भी पहन लेती है। उसे सर्दी भी नहीं लगती। ठंडे पानी से नहा लेती है, कपड़े धो लेती है। अच्छी लड़की है, पड़ोसी कहते हैं। माँ कहती है, विनीता जैसी चंट नहीं। वह अपने पड़ोसियों की अपेक्षाओं पर खड़ी उतरना चाहती है, अपनी माँ को गलत सिद्ध करना चाहती है। हर समय अच्छी लड़की बने रहने की कोशिश में वह खुद क्या है, क्या चाहती है, भूल ही गई है। बचपन में गली में लट्टू नचाते, गुल्ली-डन्डा खेलते लड़कों को देख कर उसका मन ललचाता, आइस-पाइस या कित-कित खेलती लड़कियों को हसरत से देखती हुई वह चुपचाप माँ के पीछे-पीछे शिव जी के मंदिर में जल चढ़ाने जाती। विनीता की नजर बचा कर उसने कई बार उसका कलर बॉक्स खोल कर देखा है, रंग चुरा कर कागज रंगे हैं और इसके लिए डांट भी खाई है। मांगे की खुशियाँ कब तक काम आतीं...

बाबूजी चुप रहते थे। माँ के सामने उन्हें कभी बोलते नहीं सुना। मगर उनकी आँखों में उसके लिए हमेशा कुछ अच्छा-सा होता था। जाने क्या! उनके आसपास बने रहने मात्र से मानसी कहीं से परों-सी हल्की हो आती थी। वे पल उसके जीवन के कुछ अच्छे पलों में से थे। उन्हीं बाबूजी की आँखों से वह धीरे-धीरे एक समय खो गई थी। उन्हें अल्जाइमर- भूलने की बीमारी हो गई थी! उस दुख को वह आज भी जीती-महसूसती है। अंतिम दिनों में बाबूजी की वे खाली, भावहीन आँखें, गूंगी जुबान, हड्डी का ढांचा बन गया शरीर- सब कुछ दु:स्वप्न की तरह उसे समय-असमय आ घेरता है, दीमक की तरह भीतर ही भीतर खाता जाता है।

उनकी मौत ने माँ को बहुत अकेला और असुरक्षित कर दिया था। अचानक से ना प्रिय बेटी, ना पति का साथ। बस मानसी का सहारा जिस की काबिलियत पर उसे कभी

भरोसा नहीं रहा। उसे अचानक रोग और मृत्यु-भय ने आ घेरा था। हर पल वह इस आशंका से त्रस्त रहती कि उसे कोई बड़ी बीमारी हो गई है। थोड़ी खांसी होने पर भी उसे लगता हो ना हो उसे टीवी हो गई है। रात-दिन बैठ-बैठ कर अपने शरीर का मुआयना करती रहती, इस-उस तकलीफ की शिकायत करती रहती। मानसी उसे डॉक्टर के पास ले जा-जा कर थक गई है। डॉक्टर भी अब उनकी बातों को गंभीरता से नहीं लेते। कहते हैं, माँ हाइपोकोनड्रियाक है। उसे अपने बीमार होने का वहम है। वहम का कोई ईलाज नहीं। मन के वहम साइकोसोमाटिक- शारीरिक बीमारी का भी शक्ल ले कर उजागर होते हैं। अक्सर विटामिन की गोलियां दे कर वे माँ को टरका देते। शायद सचमुच माँ के साथ यही सब हो रहा था। कभी रातों को बुखार चढ़ आता है, दिल की धड़कने और नब्ज तेज रहती हैं, तो कभी त्वचा ठंडी और पसीने से भीगी हुई। जो बात सबसे ज्यादा मानसी को परेशान करती है वह है माँ का हर काम या बात को बार-बार दोहराना। वह दिन में पचास बार हाथ धोती है, जब चल-फिर पाती थी तब रातों को उठ-उठ कर दरवाजे-खिड़कियाँ बंद है कि नहीं, देखती रहती थी। हर समय एक अंजाने डर और आतंक में जीने लगी थी वह। उसे लगता था, कुछ बहुत बुरा होने वाला है उसके साथ। आने वाली आपदा को टालने के लिए वो अजीबो-गरीब हरकतें करती। उसे वहम हो गया था कि हर कोई उसका दुश्मन है और उसके खिलाफ कोई षडयंत्र रच रहा है, उसके पीठ पीछे उसकी बुराई कर रहा है। मानसी अक्सर उसे दीवार से कान लगाए खड़ी पाती या पर्दे के पीछे छिप कर खिड़की से बाहर झाँकते। डर, खीज और गहरे अवसाद में वह हर समय रहने लगी थी। सब सुन कर एक काउन्सलर ने फ्रेक्स्ट फिफ्टी की दो गोलियां सुबह-शाम लिखते हुये निर्लिप्त भाव से कहा था, डिप्रेशन! ओबसेसिव-कॉमपल्सीव डिसऑर्डर... वह सुन कर सन्न रह गई थी। अब यह सब क्या है!

इन दिनों माँ का सबसे बड़ा डर है कि कहीं वह शादी कर के अपना घर ना बसा ले। फिर उनका क्या होगा। कितना भी नकार में जीये, कहीं से जानती है, मानसी के सिवा उसकी देख-भाल करने वाला और कोई नहीं। रात-दिन अच्छी लड़कियों के उदाहरण उसके सामने रखती है- फलां-फलां की बेटी ने आजीवन शादी नहीं की, एक बेटे की तरह अपने बूढ़े माँ-बाप की देख-भाल की... आजकल की लड़कियां घर-गृहस्थी में अपना जीवन नहीं खपाती, पढ़ती-लिखती हैं, अपना कॅरियर बनाती हैं... चालीस-चालीस साल तक अविवाहित रहती हैं...

ऐसी बातें करते हुये माँ कितनी दयनीय लगती है। मानसी सुनते हुये खीज, करुणा के मिले-जुले भाव से भर आती है। कभी जी में आता है, माँ के दोनों हाथ पकड़ कर उसे आश्वासन दे कि वह निश्चिंत रहे, वह उसे छोड़ कर कहीं नहीं जाएगी तो कभी जी में आता है, सब कुछ छोड़-छाड़ कर भाग जाय- कहीं भी, किसी के भी साथ! अच्छी लड़की, जिम्मेदार लड़की का किरदार निभाते-निभाते वह थक गई है। अब वह सिर्फ वही बन कर जीना चाहती है जो वह वास्तव में है- एक साधारण इंसान! उसे दुख होता है, गुस्सा आता है, नफरत होती है... एक कामनाओं से भरे मन के साथ एक जीवित शरीर भी है उसका! उस में भूख है, लालच है, आम मानवीय इच्छाएं हैं... वह पार्क में खेलते बच्चों को देखती है, हाथ में हाथ डाले साथ-साथ चलते जोड़ों को। शादी के मौसम में घर के सामने से गुजरती बरातों की रोशनियाँ, नाचती-गाती भीड़, सेहरे में छिपे दूल्हे के चेहरे की एक झलक... सब कुछ उसे उदास कर जाती है। औरत होने के हर सुख से वह वंचित है! छत के किसी अंधेरे कोने में खड़ी वह दूर किसी शादी में लाउड स्पीकर पर बजते फिल्मी गीत सुनते हुये आकाश को तकती रहती है। सालों पहले कुछ लड़के उसे देखने आए थे और अंततः उन्हीं में से एक उसकी छोटी बहन को ब्याह ले गया था। यह सब कुछ बहुत अपमानजनक था उसके लिए। वह दिनों कमरे में पड़ी-पड़ी रोती रही थी। सोचते हुये वह देर तक छत पर खड़ी रह जाती है और फिर माँ ही उसे डांट कर नीचे बुला लाती है- कब तक खुले सर आसमान के नीचे खड़ी रहेगी! ओस गिर रही है... उसे अब शादी-ब्याह से चिढ़ हो गई है। 'शोर मचाते रहते हैं जंगलियों की तरह, रात-रात भर सोने नहीं देते। पूरा शहर ही फेरे डाल रहा है! दुनिया में जैसे और कोई काम ही नहीं...'

मानसी के पास बहुत काम है- घर के काम, माँ की देखभाल, नौकरी... फिर भी बचा रह जाता है ढेर सारा समय... समय- आकाश को तकते रहने का, करवट बदलने का, खिड़की पर खड़े रहने का! भीतर एक सन्नाटा है- निरंतर बोलता हुआ, उसांसें लेता हुआ, जीवित... वह हर क्षण एक चीखती हुई चुप्पी ढोती है, जीती है सांस-सांस।

बहुत हिम्मत कर के उसने इस बार पी एच डी करने का निर्णय लिया है। डॉक्टर पार्थसारथी के कहने पर।

डॉक्टर पार्थसारथी से वह एक स्थानीय पुस्तक मेले में मिली थी। उससे पहले उन्हें वह केवल नाम से ही जानती थी। कोई परिचय नहीं था। जाने उनके कहने में क्या था, वह अनायास मान गई थी और अब अपने इस निर्णय पर खुश भी थी। लग रहा था, जीने की एक वजह मिल गई है।

अपने शोध के सिलसिले में इन दिनों अक्सर डॉक्टर पार्थसारथी से मिलना होता है। शहर के बाहरी हिस्से में उनका छोटा-सा कॉटेज़ है, खुले बरामदे और फूलों की छोटी-छोटी क्यारियों से भरा हुआ। अक्सर घर के पिछवाड़े किचन गार्डेन में काम करते मिल जाते हैं। दिल की बीमारी की वजह से समय से पहले नौकरी से अवकाश ले चुके हैं। कई साल पहले। घर में कोई नहीं। नि:संतान विधुर हैं। पत्नी की मृत्यु बहुत पहले हो चुकी है। पहली बार उनसे मिल कर मानसी को लगा था, एकांत भी सुंदर हो सकता है। डॉक्टर पार्थसारथी की आँखों की तरह... वहाँ टूटा हुआ इंद्रधनुष है, बुझते सितारों की मद्धिम टिमक है, एक उदास नदी का तरल फैलाव है... किसी बहुत पुरानी ईमारत की तरह है उनका व्यक्तित्व। समय जिसके इर्द-गिर्द अपने सारे विगत वैभव के साथ अडोल खड़ा है।

एक दिन उन्होंने ही कहा था, रचना सीखो! अपनी उदासी, दुख और एकांत को सिरजना सीखो! मौन का गीत, वैराग्य का महारास... न होने में सब कुछ है, आँख खोल कर देखो तो... उस दिन जाने उसने क्या देखा-महसूसा था, देर तक अनमनी बनी रही थी। लगा था, अकेलेपन में एक प्रच्छन्न-सा साथ है- नीरव संगीत, अमूर्त स्पर्श, देहातीत स्वप्न... खूब डूब कर जिया था उस दिन उसने अपने आप को, अपने गूँजती निस्संगता को! इसके बाद कारण-अकारण वह बार-बार जाती रही है डॉक्टर पार्थसारथी के पास, इस बात की परवाह किए वगैर कि वे उसके बारे में क्या सोच रहे होंगे। एक अजीब-सा यकीन था, एक तरह की गट फीलिंग कि अगर वह बिन बुलाये उन तक चली आती है तो वे भी बिन कहे उसका इंतज़ार करते होंगे। कभी-कभी रंगीन काँच की खिड़कियों से जड़े कॉटेज के पिछले बरामदे में चुपचाप बेगम अख्तर की गजलें सुनते हुये दोनों पूरी दोपहर बिता देते हैं तो कभी फूलों की क्यारियाँ सींचते हुये डॉक्टर पार्थसारथी उसके शोध संबंधी सवालों के जवाब देते रहते हैं। चाय वे हमेशा खुद ही बनाते, अदरक-तुलसी वाली! कहते, मुझसे अच्छी चाय तुम क्या, कोई नहीं बना सकता, शर्त लगा लो। कितनी किताबें थीं उनकी लायब्रेरी में! आठ-दस अलमारियाँ भर कर! मानसी कई बार मजाक में उनसे कह चुकी थी, आप अपनी ये सारी किताबें मुझे दे जाइएगा... सुन कर वे मुस्करा कर रह जाते थे- देने को तो मैं बहुत कुछ दे जाऊँ, तुम ले सकोगी? जाने मेरे बाद इनका क्या होगा... ऐसा कहते हुये उनके चेहरे पर क्षण भर के लिए विषाद घिर आता। मानसी को पता था, अपनी किताबों, फूल की क्यारियों और तस्वीर के पुराने अल्बमों से उन्हें कितना लगाव था। तस्वीरें अधिकतर उनकी मृत पत्नी श्रावणी की थीं जिन्हें उन्होंने जान से अधिक सम्हाल कर रखा था। अक्सर कहते थे, वो जीवित रहती तो शायद मुझे कभी पता नहीं चलता उससे इतना प्यार करता हूँ। कभी-कभी किसी के होने का एहसास उसके ना होने पर होता है! मेरे जीवन में ना होना ही उसका होना है...

मानसी डॉक्टर पार्थसारथी के जीवन में बहुत यत्न से सुरक्षित रखी गई उस खाली कोने की परिधि से बाहर खड़ी होती है, उस थोड़ी-सी जगह में जो इस रिक्तता के बाद बची रह गई है। अतिक्रमण की चेष्टा उसने कभी नहीं की। सीमाओं का सम्मान उसने हमेशा से किया है। बस उम्मीद की एक छोटी-सी लौ के सहारे कि किसी पर हृदय का पूरा प्रेम न्योछावर कर देने के बाद भी कहीं थोड़ा-सा प्रेम बचा रह जा सकता है, किसी प्याली के तलछट पर पड़े कुछ बूंद पानी की तरह... बस इतना कि उससे प्यास से पपड़ाये दो होंठ भीग जाये, भीतर का कोई बंजर कोना तर हो आए...

डॉक्टर पार्थसारथी ने ही एक बार कहा था, एक सफरिंग हीरो सिंड्रोम होता है- लोगों को दुख झेलने में मजा आता है। वे इसी में अपनी महानता देखते हैं। तुम्हें लगता है, तुम हर एक के लिए जिम्मेदार हो, सिवाय अपने। थोड़ा-सा प्यार खुद से भी करना सीखो। जो खुद से प्यार नहीं कर सकता, वह किसी से प्यार नहीं कर सकता। यकीन मानो, तुम्हारा होना बहुत माने रखता है। तुम लाखों गत-आगत जीवन का अटूट हिस्सा हो, जीवित शृंखला की कड़ी हो! यहाँ कोई अकेला नहीं और हर कोई अकेला है। इस जिंदगी में तुम्हारा हिस्सा है, बहुत छोटा-सा ही सही। लाखों तारों में एक तारा, दीये की पांत का आखिरी दीया, पारे-सी चमकती हँसी का कोई टुकड़ा... सुन कर उसे अच्छा लगा था और खूब रोना भी आया था। मगर उसके बाद उसने डॉक्टर पार्थसारथी से खूब बहस की थी। खुद को झुठलाने की, नकार में जीने की शायद उसे आदत पड़ गयी थी- खुद से आगे अपने अपनों को रखना कभी गलत नहीं हो सकता!

अंत में जाने क्यों गुस्से से भर कर चाय का कप पटक कर उठ आई थी। अगर और थोड़ी देर ठहरती, निश्चित ही पकड़ी जाती।

मगर फिर उस दिन पूरी रात सो नहीं पाई थी। क्या डॉक्टर पार्थसारथी ने वही नहीं कहा था जिसे ना कह पाना उसके अब तक के जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी रही थी! सुबह होते-होते उसने सोचा था, नौकरी छोड़ देगी, कुछ ट्यूशन कर लेगी। डॉक्टर पार्थसारथी ने कहा था, मेरी लायब्रेरी तुम्हें दिया। इस घर में भी बहुत सारी जगह है, मैं एक कमरे में पड़ा रहता हूँ, जिस तरह चाहो इस्तेमाल करो।

उसने विनीता को फोन करके माँ को कुछ समय के लिए अपने पास ले जाने के लिए कहा था। उसे अपने शोध के सिलसिले में बाहर जाना पड़ेगा। विनीता ने सुन कर पहले खूब सारे बहाने बनाए थे, अपनी मजबूरियाँ गिनाई थीं। मगर वह अपनी बात से टस से मस नहीं हुई थी। आखिर रो-झींक कर वह माँ को अपने यहाँ ले जाने को तैयार हो गई थी। सुन कर माँ खूब खुश हुई थी। मानसी ने कुछ दिन पहले अपनी नौकरी से इस्तीफा दे कर उसकी यात्रा की सारी तैयारी कर दी थी। जिस दिन विनीता अपने पति के साथ माँ को लेने आने वाली थी, एक डे केयर नर्स को घर में रख कर वह अपना थोड़ा-सा सामान ले कर निकल पड़ी थी। वह नहीं चाहती थी विनीता और उसके पति से उसका सामना हो। उसे देख कर फिर ना जाने कौन-सा नया बहाना उन्हें सुझने लगे। फिजूल के सवालों से भी वह बचना चाहती थी। अमिषा को वह सब कुछ बताना चाहती थी मगर वह शहर से बाहर थी और उसका फोन भी बंद आ रहा था।

दोपहर के करीब डॉक्टर पार्थसारथी के कॉटेज़ में पहुँच कर उसने देखा था, कॉटेज़ खाली पड़ा है और एक ट्रक में कॉटेज़ का सारा सामान लदा हुआ है। पूछने पर पता चला था, डॉक्टर पार्थसारथी का निधन तीन दिन पहले दिल का दौरा पड़ने से हो गया था। उनके रिश्तेदारों ने उनके पैतृक गांव में ले जा कर उनका क्रिया-क्रम कर दिया था। आज उनका भतीजा उनका सारा सामान ले कर जा रहा था। सुन कर मानसी निर्वाक खड़ी रह गई थी। ट्रक धूल उड़ाती हुई चली गई थी। कुछ देर खड़ी रहने के बाद उसने बढ़ कर कॉटेज़ का गेट बंद किया था। जाते हुये उन लोगों ने गेट ठीक से बंद नहीं किया था। कुछ बकरियाँ क्यारियों में घुस कर फूल के पौधे चबा रही थीं। गेट के पास ही उसे तस्वीरों का एक पुराना अल्बम पड़ा हुआ मिला था। डॉक्टर पार्थसारथी और उनकी पत्नी श्रावणी की तस्वीरों का अल्बम। धूल झाड़ कर बड़े यत्न से मानसी ने उसे अपने बैग में रख लिया था।

घर पहुँचते-पहुँचते उसे डे केयर नर्स का फोन मिला था- माँ को लेने कोई नहीं आया था। माँ घर पर ही थी। सुन कर वह कुछ देर के लिए उतरती धूप के साथ गेट पर ठिठकी खड़ी रह गई थी। दिन खत्म होने की कगार पर था, रात की स्याही फिज़ाओं में घुलने लगी थी। धुंध की एक महीन चादर क्षितिज पर तेजी से उतर रही थी। एक गहरी सांस ले कर वह कुछ पल बाद अंदर दाखिल हो गई थी। घर के अंदर से माँ के निरंतर खाँसते हुये बड़बड़ाने की आवाज़ आ रही थी। वह हमेशा की तरह अपने दुर्भाग्य और उसे कोसे जा रही थी। उसके आते ही डे केयर नर्स चली गई थी। उसके पीछे घर का दरवाजा अंदर से बंद करते हुये मानसी ने देखा था, शाम की अशक्त होती धूप इतनी ही देर में गेट से उतर कर रास्ते के दूसरी तरफ खड़े मौलसिरी के बौने, छतनार पेड़ के पीछे चली गई थी। सर्दी की शाम और तेजी से गिर रही थी। चारों तरफ कुहरीला अंधेरा घना हो कर घिर आया था। अपनी जलती हुई पलकों को भींचते हुये उसने सोचा था, फिलहाल रोने के लिए उसे रात का इंतजार करना होगा। अभी तो निबटाने के लिए कई काम पड़े हैं। अंदर अपने कमरे से माँ उसका नाम ले कर अब भी पुकारे जा रही थी। एक प्रछन्न आश्वस्ति और गहरा रिक्तता बोध लेकर वह मुड़ गई थी। उसने एक सपना देखा था। सुंदर सपना! वह सपना टूट गया मगर... आँखें तो हैं! वह अपनी पलकें जल्दी-जल्दी झपकाती है- बस इतना-सा पाना! खोना! उसका हिसाब कैसे हो...! फिलहाल वह अपनी दुनिया में लौट आई है, अपने चिर परिचित पिंजरे की सुरक्षा में। उसने नि:शब्द चलते हुये रात के निविड़ अंधकार को अपने भीतर निर्बाध उतरने दिया था। अब इससे कोई झगड़ा नहीं। संधि हो गई है।

तीन माड, मायना,
शिवोली, गोवा - 403517
मो. - 09822581137

कैलाश वानखेड़े

गैप

आँख खुली तो घर की दरो दीवार घने अंधकार से कसकर लिपटी हुई थी.जीरो वाट का बल्ब फ्यूज होकर कई दिनों से बेरोशन होल्डर में लटका हुआ था, उसी जगह नजर गई राहुल की लेकिन कुछ भी दिख नहीं रहा था। हर बार घर लौटते वक्त राहुल के दिमाग में जीरो बल्ब खरीदने की बात तेज गति से चक्राकार घूमती रहती थी, जिसने अपनी आँखों को ऐसी दूकान की तलाश में लगा दिया था,जहाँ जीरो वाट का बल्ब बेचा जाता हो। आँखें खोजी कुत्ते में बदल गईं लेकिन तेज रोशनी में कुछ नहीं दिखता। बीच बाजार में ठिठक जाता था। वहां न होने के बावजूद वैसे ही दिखते है बीवी बच्चे के चेहरे जैसे अभी बल्ब जो जुड़ा हुआ होगा होल्डर से। बाजार में उम्मीद,डिमांड और घरेलू जरूरतों से भरी हुई राहुल की आँखों में अँधेरा सा छा जाता था। बीवी ने कई बार जीरो बल्ब का कहा था। जगमगाती दूकानों के बीच उस दूकान की तलाश यात्रा की याद के साथ फर्श पर पैर रखे। ठंडा है फर्श। ठंडा लगा कमरा जबकि महीने भर से चली आ रही कड़ाके की ठंड के तेवर ढीले पड़ गये थे। कल तो धूप चमड़ी जला देने के लिए बावली हो गई थी और आज रात अचानक इतनी ठंड ? ठंड,हवा का हवाला देकर दनदनाती हुई घुस आती है, घरों में। कोई कितना भी कर ले जतन, न खड़ी रहती है न ही रुकती वह घर से बाहर, बंद दरवाजे पर्र। यह जो बेडरूम है,उसे हवा ने ठंडा कर दिया है। सर्दी, खांसी, बुखार के नाम से डरा दिया। हवा की इस खासियत से राहुल को सोहन की याद आई और न जाने क्या-क्या याद आने लगा। तभी राहुल ने अपनी नाक में से पानी टपकना महसूस किया। राहुल की नाक हकीकत में बहने लगी। गले में कुछ अटक सा गया है। नाक साफ करते हुए अचानक डाक्टर की याद आ गई। डाक्टर के नाम से डाक्टर सोढ़ी की शक्ल अँधेरे में सामने आ गई। और वे बातें जो पुरानी थीं, वो याद आने लगीं।

जब परिहार की छत पर वे बैठे हुए थे, तब डाक्टर सोढ़ी कह रहे थे आठ दस दिन में ठीक होने वाली खांसी अब लगभग महीना भर ले रही हैं। वायरस ने अपना रूप बदल दिया है। वायरस समय के साथ अपने आपको ढाल लेता है, वो मजबूत हो जाता है। मौका मिलते ही अचानक अटैक करता है। हमला...वायरस को खत्म करना मुश्किल है। जब तक वह खुद को मार न ले या एंटी वायरस बन न जाए तब तक जिन्दा रहता है। सच तो यह है कि इलाज करने वाले को पता ही नहीं होता है कि वह किस वायरस का इलाज कर रहा है। सर्दी, खांसी सहित सैकड़ों बीमारियाँ ऐसी हैं जिनका उपचार हम जानते ही नहीं लेकिन दावा करते हैं कि हम इलाज कर देंगे। दवा खानेवाले को लगता है उसका रोग डाक्टर ने पकड़ लिया है और उसी रोग का इलाज किया जा रहा है लेकिन जाननेवाला नहीं जानता है कि डाक्टर तो बेसकली सिमटोमेटीक इलाज करता है। मरीज हमारे इलाज से ठीक नहीं होता है... वो तो अगर हमारा अनुमान निशाने पर बैठ जाए तो चंगा होता है। बताते बताते हँसना चाह रहे थे डाक्टर सोढ़ी तभी उन्हें कांटे जैसा महसूस हुआ था जबान पर। उस वक्त वे प्लेट में रखी हुई तली मछली में से कांटे निकाल रहे थे। तब तक दो पैग हो चुके थे। इसका मतलब यह था कि भोजन कार्यक्रम में अभी वक्त लगेगा बल्कि बहुत वक्त लगेगा।

राहुल, जिसका नाम और हैसियत परिहार और सोहन के अलावा जो बैठे थे, उन्हें मालूम नहीं थी। राहुल ने उन बातों के बीच में कहा था, 'कई तो सोचते हैं वे ही हैं वायरस मुक्त हैं। दूसरों में ढूंढते रहते हैं वायरस...ढेर सारे वायरस हैं हमारे भीतर..हवा, पानी, खाने के साथ ..किताब, टीवी, नेट...कुछ जन्मजात तो भोत सारे घर परिवार से ही मिलते है। चारों तरफ से आते हैं वायरस और हमारे भीतर अपना आलीशान महल बना लेते हैं। इसका पता ही नहीं चलता...उसका इलाज कोई डाक्टर नहीं कर सकता..क्यों डाक साब?' डॉक्टर सोढ़ी खाते हुए सिर्फ यह समझ पाए थे कि वायरस शब्द आया है इसलिए बोले थे, 'बहुत डेंजर होते हैं वायरस..दो घूंट हर बार जरूरी है...ले लो यार दो घूंट ...वायरस के द एंड के लिए।' वे हँसे और बाकी सब तटस्थ हो गए थे,जैसे राहुल ने कुछ बोला ही नहीं हो। उस वक्त परिहार और सोहन को लगा था, राहुल अपनी टांग अड़ा रहा है। उनको राहुल का बोलना खटका। बोलने के लिए परिहार हैं। किसी और को कूदना नहीं चाहिए और वैसे भी सीधे आमंत्रित नहीं था, राहुल। इस बात को राहुल भी जानता था, इसलिए न पी रहा था न खा रहा था। लेकिन चुप रहा नहीं गया था राहुल से।

हलकी रौशनी और तेज शोर के बीच स्कूल के तीसरे माले की छत पर सर्दी का मौसम शुरू ही हुआ था। प्लेटें सजी हुई थीं। फिश, कलेजी, नमकीन, सलाद, ड्राय फ्रूट और न जाने क्या क्या रखा गया था। प्लेट में जो सजाया और परोसा जा सकता है, वो सारा रख दिया। सबकी पसंद और विकल्प रख दिए गए थे। विकल्पों को दरकिनार कर पेट में कलेजी लगातार जा रही थी। धनिया का हल्का सा स्वाद और हरी मिर्ची के पेस्ट से बनी हुई कलेजी अच्छी लग रही थी। सब खाते हुए दूसरे को सुनना नहीं चाहते थे। तभी सिंग ने कहा था, 'इतने पीस खाने के बाद भी खाने को जी ललचा रहा है वरना कलेजी के दो पीस नहीं खा सकते। इसकी प्रिपरेशन कैसी की?' सिंग अफसर थे। उनका लहजा भी सिर चढ़कर बोल रहा था।

'हम क्या जाने साब। वह तो बस हमारी घर मालकिन ही जाने। अपने को तो बस खाने, मजे लेने का मतलब रहता है।' बोलते हुए आयोजक स्कूल मालिक परिहार हँसे लेकिन उनकी बिना जवाबवाली हँसी सिंग को अच्छी नहीं लगी। वह अपने सवाल का सीधा जवाब चाहता है। घुमाफिराकर इधर उधर की बात उस वक्त तो बिलकुल पसंद नहीं होती है, जब वे इस अवस्था में या गुस्से में हों। डॉ सोढ़ी का ध्यान सिंग की तरफ नहीं था। डाक्टर सोढ़ी कलेजी के ऊपर उबले हुए अंडे के टुकड़ों में से पीली जर्दी हटाने में लगे हुए थे। अंडे की पीली जर्दी कोलेस्ट्रोल बढ़ाती है, वे बुदबुदाए। कोलेस्ट्रोल के बारे में सोचते सोचते चुप हो गए थे। अब उनकी निगाह कांटे पर ही थी। फ्राय फिश में अब कांटे का ही डर था। वे डर के साथ खा रहे थे। खाना बंद नहीं किया। रौशनी खाने वाले का साथ नहीं दे रही थी। पीने की मात्रा भी बढ़ गई थी। सिग्नेचर का दबाव था कि कांटे ढूंढे वरना काँटा चुभ जायेगा। सोहन सुन रहा था। खा रहा था। पी रहा था। उसने बड़ों के बीच मौन को सर्वोत्तम माना था। सोहन लक्ष्य को हासिल करने के लिए अपने मन और इन्द्रियों को इधर उधर सहभागी बनने की इजाजत नहीं देता है। टारगेट, अभी सिर्फ खाना है,पीना है। बोलना मना कर रखा है, खुद को।

कलेजी ख़त्म कर फ्राय फिश में से कांटे निकालते हुए अपने गुस्से को तलते हुए सिंग बोले, ''मेरा कहने का मतलब था, धर्म भ्रष्ट करनेवाला तो नहीं पका रहा है.''चुप

हुए. फिश की गरदन वाला हिस्सा था,जिसमे खाने के लिए उतना नहीं था, उसमें से मांस निकालते हुए फिर बोले सिंग, 'सड़ी सी बात तुम नहीं समझे.. दिमाग सही जगह रखो ठाकुर..'

'नरक जाना है क्या सिंग साब...राजपूत के गरीबखाने में अपनी ही घरवाली बना रही है...आप भी पता नहीं क्या सोच लेते हो,सिंग साब ..आप तो पहले एक पैग रम लो।'

'गरीबखाने में हरम हो, तो रम लूँ।' सिंग की हँसी नहीं अट्टहास था। दूसरी भूख की तृप्ति के लिए भेड़िया मानसिक रूप से तैयार हो चुका था। स्कूल की छत पर हेलोजन को सिंग साहब के कहने से हटाया गया था। दूधयाई रोशनी बहुत भारी लगने लगी तो पीली रौशनी वाले बल्ब लगवाये गए। इसी कारण रोशनी कम थी। स्कूल का अपना कोई कैम्पस नहीं है। कालोनी की गली ही स्कूल कैम्पस था। कागजों में स्कूल की प्रिंसिपल मिसेस परिहार है। परिहार के स्कूल की मान्यता अभी लंबित है और सिंग साहब उस महकमे के बड़े अफसर हैं। बड़े अफसरों को बुलाने खिलाने का काम परिहार हर चार छ महीने में करते हैं। गाड़ियां अपने घर के सामने खड़ी करवाना और सरकारी गाड़ियों से गली को भरवाने का काम वे करते रहते हैं ताकि गली मोहल्ले वालों के दिमाग में भरा रहे कि परिहार की पहुँच कहाँ तक है।

स्कूल के वार्षिक स्नेह सम्मेलन में सिंग को मुख्य अतिथि बनाने का गणित परिहार के साथ सबको पता था लेकिन परिहार इसे अबूझ पहेली मानने लगे थे। वह पहेली भी नहीं थी। एक आसान सीधा सीधा जोड़ गुणा की बात थी। गली में स्नेह सम्मेलन के टेंट में दीप जलाने, हार पहनने और भाषण देने के बाद ये सब अतिथि छत पर आ गए थे। नीचे तेज आवाज में, 'चिकनी चमेली...' गाने को कोली डांस कहकर बजाया नचाया जा रहा था। इस गाने पर कैटरिना कैफ का मादक डांस शराब के किसी अड्डे पर फिल्माया गया था और यहाँ की छत पर मुख्य अतिथि,विशिष्ट अतिथि का अपना माहौल बन चुका था।

परिहार ने मिडिल स्कूल चलाते हुए सीधे हायर सेकेण्ड्री के लिए बिल्डिंग बनाने का काम शुरू कर दिया था। उन्हें तेजी से बढ़ते लोग ही पसंद है। सोहन भी तेजी से आगे बढ़नेवाला आदमी है। जो सेल्स मेन से सीधे बॉस बन गया था। परिहार ने अपनी तेजी दिखाने और तेज बढ़ने वालों से सम्बन्ध बनाए रखने की रणनीति के तहत सोहन को भी बुलाया था। वही सोहन को लगा था अपने साथ कोई बात करनेवाला होना चाहिए सो राहुल को ले आया था।

सोहन और राहुल को आयुर्वेद की दवाओं की मार्केटिंग में अपना भविष्य दिखा था। चार साल पहले सोहन और राहुल ने एक साथ काम शुरू किया था एक ही जगह, पंडित जी के आयुर्वेद भंडार पर। पंडित ने कम्पनी की बजाय भंडार शब्द चुना था। उनका काम बतौर कम्पनी ही चला करता था लेकिन वे कम्पनी शब्द से घृणा करते हैं। कंपनी को गुलामी की निशानी मानने से कम्पनी शब्द को अपनी कंपनी से दूर रखा था।

छत पर खामोशी पसर गई क्योंकि अब प्लेट खाली हो गई थी। प्लेट भरने में वक्त लग रहा था। परिहार के घर में चुनिंदा सामान पक रहा था, जो गली के आखरी में था। फिर स्कूल की निर्माणाधीन बिल्डिंग में मटेरियल बिखरा पड़ा था। जिसे समेटने की तमाम कोशिश पूरी तरह से सफल नही हुई थी..रेत, सीमेंट के गले से लगी हुई थी तो ईंट के बारीक बारीक अवशेष पानी के साथ इस तरह हिल मिल गए थे जैसे कोई प्रेमी जोड़े का मन। और इन सबके ऊपर से स्कूल के टीचर अपने हाथ में डोंगे, परात लेकर आ-जा रहे थे। परोस रहे थे। कोई कुछ नहीं बोला तो सिंग ने कहा, 'डीजे का वाल्यूम लो करो ..मैं तो ऊब गया हूँ स्कूलों के फंक्शन से.लाउड है बहुत।'

पांचेक महीने पहले का यह प्रसंग आज थकी हुई रात में दिमाग में चल रहा है. इसमें अट्टहास, उपहास, अपमान ताने, श्रेष्ठता, धर्म की भ्रष्टता का सामूहिक शोर है. राहुल को बिस्तर से नीचे पैर रखने के बाद चप्पल नहीं मिली। सुबह कब होगी ? सवाल में उलझने की बजाय मोबाईल ढूंढने लगा। राहुल को तकिये के नीचे नहीं मिला मोबाइल। मोबाइल बिस्तर से गिर तो नहीं गया ? घुप्प अँधेरे में हाथ चलाते हुए नीचे पैर से तलाशने लगा। कितनी बार कहा बीवी ने सिर के पास मोबाईल नहीं रखना चाहिए। रेडियेशन का बुरा असर होता है. बीवी से सहमत है पर नहीं मानता। आदत हो गई क्योंकि आजकल बॉस रात में भी बात करता है टारगेट की और उम्मीद करता है कि उसकी कॉल तत्काल रिसीव की जाये।

राहुल को रात को ग्यारह बजे सोने और गहरी नींद आती है, यह बात बॉस को मालूम होने के बावजूद पिछली

बार जब बीवी ने जगाकर बताया था तीन काल आ चुके हैं तुम्हारे बॉस के। तब लगा था अब एक बजे क्या बात करूँ? सुबह बात करूँगा। सुबह नौ बजे बात करने पर नाराज हो गये थे बॉस। ये है तुम्हारा रिस्पांस टाइम ? जब तुम बॉस के साथ ऐसा कर सकते हो तो फिर ...कम्पनी का भट्टा तुम जैसे ही लोग बैठाते हो। काहे की मंदी ? तुम जैसे लोगों को कोई फरक नहीं पड़ने वाला। तुम्हारे लिए सरकारी सेक्टर है ही खाली। अब कब तक कान पे मोबाईल लगाकर बैठे रहोगे ? हमें सोने दो। वैसे भी चैन तो तुम जैसे लोगों ने छीन लिया।'' ''मैं गहरी नींद में था।'' राहुल ने स्पष्टीकरण देना चाहा तो बोला था बॉस, 'हाँ तुम्हें क्या फिकर। गहरी नींद लो..'

'लेट हो गया था तो सोचा रात में क्या परेशान करूँ।' बॉस की नींद डिस्टर्ब होने का अपराध में डूबा था राहुल. लेकिन बॉस की तीखी आवाज आई 'सुबह बिगाड़ दो ताकि पूरा दिन खराब हो जाये।' 'सॉरी...मैंने.. 'इन शब्दों को सुनने के पहले ही फोन काट चूका था बॉस। शब्द घर के भीतर रह गये थे। वे सारे जस के तस बाहर आ रहे थे इस रात में। ये पिछली बातें एक के बाद एक और कभी एक साथ क्यों याद आ रही हैं ?

टारगेट कैसे पूरा होगा? के लिए तमाम तरकीब नींद टूटते ही राहुल के दिमाग में दौड़ने लगी थी. अब धीरे-धीरे बदबू आने लगी। फिल्ड की बदबू टायलेट में घुस गई. बेटे को कई बार समझाइश, चेतावनी देने के बाद भी बेटा टायलेट में पानी नहीं डालता है। आज बदबू ज्यादा आ रही है। नींद नहीं आई तो पानी पीकर पेशाब करने चल दिया। रात को एसीलोक खाने के बाद भी राहत नहीं मिली थी। पेट की गड़बड़ी भी नींद न आने का कारण है, पेशाब के बाद लौटा तो मिल गया मोबाईल। रोशनी ने मौका दिया, तस्वीर पर लिखे अक्षरों को पढ़ने का। रात के दो बजकर छतीस मिनिट हुए हैं। सो जाना चाहिए। बीवी सोई है। सोये हैं बच्चे। दूसरा कम्बल निकाला। बेटा खांसने लगा। बेटा अपने बदन पर कम्बल क्या चादर भी रहने नहीं देता है, फेंक देता है। कितना समझाएँ। समझता ही नहीं। बेटे के बदन पर कम्बल डाला। फिर सोने की कोशिश की तो बीवी का खयाल आया। उठा। बीवी के ओढ़े हुए कम्बल पर एक चादर डाल दी। बेटी कम्बल के भीतर थी। फिर बिस्तर पर लेट गया। मोबाइल पर नेट चलाने लगा। मोबाइल पर सोशल मिडिया ने बताया कि शिर्डी में मोबाइल की रिंगटोन इतनी नागवार लगी कि रिंगटोन वाले लड़के की हत्या कर दी सरेआम सड़क पर। रिंगटोन बज रही थी, चाहे जितना भी कर लो हल्ला, बना रहेगा आंबेडकर का किला। उधर पिछली बार उड़ीसा में शर्ट खरीदने की बात पर हुए मामूली विवाद ने घर जला दिए थे दलितों के। कड़कड़ाती ठंड में आग लगा दी। बहुत ठंड लग रही होगी जलानेवालों को लेकिन ये जलन थी। बेघर हुए लोग कहाँ हैं ? यह कोई नहीं बता रहा है। बहुत ढूंढा लेकिन उनका ठिकाना नहीं मिला। हमलावर भी नहीं पकड़े गए थे। याद करने लगा, इसके पहले हुए हत्याकांड, बलात्कार, घर-बस्ती जलानेवाले हमलावर पकड़े गए। जिन्हें पकड़ा गया था उन्हें क्या सजा मिली ? अभी तक तो सुना ही नहीं कि हत्यारों को सजा मिल गई हो।

पत्तीदार पेड़ के नीचे समेटी हुई पत्तियों के ढेर में लगी हुई आग दिखती नहीं। धुआँ ऊपर जाता है और पत्तियाँ हिलती हुई दिखती हैं। वे हिलती नहीं हैं, जलती हैं। पेड़ के हरे पत्ते तेजी से अपना हरापन खोते हैं। कई पत्ते तो लटके रहते लेकिन वे जल चुके होते हैं। कभी नहीं सोचते कि पेड़ पर क्या बीत रही होगी। वह अपनी हरी पत्तियों को जलते हुए देखकर कितना सुलगता होगा भीतर ही भीतर, बिना आग के। आग हर बार नहीं दिखती। जला देती है, अंदर से, धीमे-धीमे बिना सुलगे हुए। यह आग राख नहीं करती। हर बार काला नहीं करती लेकिन जलाने का अपना काम कर चुकी होती है। उन जली हुई पत्तियों की तरह झुलसी हुई यादें अभी भी चिपकी हुई हैं, राहुल के भीतर, जो एक साथ हिल रही हैं, धुँए के साथ जल रही हैं, पत्तियों की तरह।

आज रात को ये सब क्यों चला आ रहा है। एक के बाद एक। क्यों ? राहुल लगातार छींकता रहा। सोचता रहा। छींके और सोचना थमने का नाम नहीं ले रहे हैं। वो जो मारा गया। रिंगटोन उसका गुनाह था कि हत्या कर दी जाए...वे बेघर लोग कहाँ होंगे ? सर्दी से बचने के लिए ? सोने के क्या उपाय होंगे ? उदासी के साथ गुस्सा आ रहा है लेकिन क्या करूँ ? सवाल हावी होता जा रहा है। लग रहा है उसे भी बेघर किया जा है। उसे लगा हर कोई अपने समर्थन की भेड़ चाहता है ? न मिले तो हत्या या बेघर कर देने की परम्परा को निभाना चाहता है। राहुल आयुर्वेदिक दवाइयों की मार्केटिंग करता है। उसके जिम्मे बच्चों की दवाइयां थीं। सर्दी के लिए, मुनि-मुनि। खांसी को रोकने के लिए, योगी-योगी। सर्दी, खांसी की गोलियाँ का मार्केट खूब बढ़ा। गोली खाने के बाद बच्चों को गहरी नींद देर तक आती है। बच्चों का बाहर

निकलना, खेलना कूदना, चिल्लाना, रोना गाना, जिद..सब से निजात मिल जाती है। ये गोलियाँ कुछ ही दिन में माँ बापों में बेहद लोकप्रिय हो गई थीं। माँ बाप की पसंदीदा गोलियों की बिक्री तेजी से आसमान छूने लगी थी। माउथ पब्लिसिटी ने सब काम कर दिया तो कम्पनी ने विज्ञापन बंद कर अपना मुनाफा और बढ़ा लिया। इसके बाद राहुल को इस प्रोडक्ट से हटा दिया था।

सोहन ने कहा था अब गैप रखने वाली गोली ला रहे हैं। एक गोली लो और अनचाहे गर्भ का टेंशन साल भर के लिए ख़त्म। जब चाहो जहाँ चाहो, इससे उससे.. किसी के भी साथ करो। आदमी या औरत दोनों को कंडोम, टेबलेट, रिंग, नसबंदी..पसंद नहीं है। और सबसे बड़ी बात ये सब तरीके विदेशी हैं। इसलिए यार कुछ हो न जाए के डर को खत्म करो। राहुल ने पूछा था डर? डर किसे लगता है? सोहन बोला था प्रेगनेंसी से हर औरत डरती है लेकिन जोश चाहती है। जोश। विज्ञापन में यही हाई लाईट करेंगे, महिला के जोश और आनंद की पूर्ति... राहुल ने कहा औरत का जोश। तब तो नहीं बिकने वाली गोली। इतना सुनते ही गुस्से में सोहन बोला था शुभ शुभ बोल। राहुल ने जोर देकर कहा था जोश वाले दावे से बिक्री नहीं होगी। मर्द नहीं चाहता कि उसकी बीवी जोश और ताकत से भरी हो। वह तो हर जगह औरत को कमजोर देखना चाहता है। मर्द की सबसे प्यारी और क्रूर जगह है बिस्तर। वहां तो हर हाल में कमजोर देखना चाहता है। बिस्तर पर औरत को हावी नहीं होने देना चाहता है। फिर गोली खरीदने कौन जाता है ..मर्द ही न ..मर्द लाकर नहीं देने वाला।

''तू तो बड़ा ज्ञानी है राहुल। मान गए उस्ताद। मान गए। बदलवाना पड़ेगी विज्ञापन सामग्री। चल पंडित जी से बात करते हैं।''

'हाँ, चल। इस बहाने कम्पनी का कारखाना भी देख लेते हैं ..क्या क्या मिलाते हैं? आयुर्वेद के नाम पर दवा में क्या डालते हैं। कोई टेस्ट नहीं कोई सवाल नहीं करता है। कोई पूछता भी नहीं है कि जिस जड़ी बूटी को डालने के दावे किये जाते हैं, वे कहाँ पर कितनी मात्रा में होता है?... अजीब घालमेल है।' राहुल की बात सुनते ही सोहन का चेहरा उतर गया था। गोली का असर खत्म हो गया हो जैसे, तभी तो बोल, 'तू क्यों अपने दिमाग में घालमेल कर रहा है ..पंडित जी का चूर्ण ले बालक।'

''तू ही खा भई। हर मर्ज की एक दवा, चूर्ण..ऐसे कैसे हो सकता है सारे दर्द की एक दवा। जो सब मर्ज की एक दवा बताता है, वह सबसे बड़ा पाखंड करता है।'' राहुल की इस बात को सोहन ने अनसुना किया। सोहन को हर हाल में राहुल को कन्विंस करना है। निरोधक गोलियाँ बेचनी हैं। इसलिये सोहन बोला था, ''आल इन वन। तू भी तो है न आल इन वन। अकाउंट हो या मार्केट, पब्लिसिटी हो या पैसा वसूली ..ऑफिस हो या पम्पलेट बनाना ..सब जगह तू ही होता है कि नी..हर उलझे काम की एक ही दवा है राहुल। है कि नी।''सोहन की इस हँसी के भीतर तनाव ही तनाव था, जिसे वह बाहर नहीं आने देना चाह रहा था। जबकि राहुल इस तारीफ़ से खुश होने की बजाय खिन्न होकर बोला था, कुछ खटकता है।''

''मेरे को भी बहुत कुछ खटकता है। चल भाई आज करीम की चिकन चिल्ली खाते हैं। दिमाग खराब करने की बजाय पेट खराब करते हैं।'' सोहन ने माहौल बदलने के लिये फिर हँसते हुये कहा। और लगभग जबर्दस्ती करते हुये राहुल को कार में बैठाया।

सोहन की शादी से पहले दोनों साथ साथ ही खाते थे। सोहन की शादी पंडित जी मतलब कम्पनी मालिक की बेटी के साथ हो जाने के महीने भर में ही सोहन सेल्समेन से मार्केटिंग हेड बन गया था, इसके बाद ही राहुल के साथ बाहर खाने का सिलसिला ख़त्म हो गया था। सोहन जानता है खाने और पीने के समय में कई उलझी हुई बात सुलझ जाती है। पिलाओ और काम करवाओ के सिद्धांत के रास्ते से ही राहुल को समझाने निकला था।

बस स्टैंड की पार्किंग के पास सड़क किनारे सोहन ने कार खड़ी की। होटल में खाते-पीते हुए ढेर सारी बात हुई लेकिन राहुल के दिमाग में दवा बनाने की सामग्री वाला मामला चल रहा था। भीड़ है। खाने में मगन है लोग। वेटर हर टेबल को देख रहा था। पूछ रहा था। सब व्यस्त थे। टेबल साफ़ करने वाले के हाथ में कपड़ा तैयार। जैसे ही ग्राहक उठता था, वो झूठे बर्तन उठाकर टेबल को साफ़ कर देता। बिना सोचे समझे बस उसकी निगाह देखती है किस टेबल से आदमी उठ रहा उसके पैर तेज गति से उधर चले जाते थे। यह उसके दिमाग में सेट थे। जैसे सोहन के दिमाग में यह सेट हो गया कि गैप गोली को राहुल के अलावा कोई भी मार्केट में लोकप्रिय नहीं बना सकता है। राहुल के अलावा

कोई भी नहीं है, इस नये प्रोडक्ट को सफल बनाने में। इसलिए सोहन ने फ्राय चिकन की टांग चबाते-चबाते मुस्कुराते हुए कहा था, ''इसकी उसकी बात छोड़ प्यारे और बच्चों से उनकी माँ तक पहुँचो।'डी-गैप' गोली को मार्केट में फेमस करो। और ये बता यार प्रमोशन भी कुछ चीज होती है कि नी। बच्चों की माँ तक पहुंचकर मजे लो..'' सोहन का अंदाज अश्लीलता से भरा हुआ था। कोई गुस्सा, कुंठा या पारिवारिक तनाव था जिससे मुक्त होना चाह रहा था मोहन, जो अब राहुल का बॉस और दोस्त दोनों की भूमिका निभा रहा है।

''जो दिख रहा है, वही बाजार नहीं है। हमारे यहाँ तो सदियों से चल रहा है, बाजार। भूत-प्रेत डाकन, चुड़ैल, नरक स्वर्ग, पुनर्जन्म, जन्म के आधार पर भेदभाव...जाति की योग्यता पर शादी..क्या है ? ये सब वायरस है। इसका इलाज है, अलग-अलग तरह का। झाड़-फूंक, हवन, दान, पुण्य, कथा...इसको बेकूफ बनाओ, उसे फंसाओ...हर तरह की वैरायटी है। जिसकी जितनी शक्ति उतनी भक्ति..यह है बड़ा बाजार।'' छोटा-सा घूंट लेते हुए कहा राहुल ने।

''ये वाला वो वाला बाजार छोड़..ये सब माया है। नकली है। असली बाजार तो मार्केट है। अपना मार्केट। तू इन फ़ालतू बातों को रहने दे और लग जा नए काम में।'' एक कुशल सेल्समेन का अन्दाज था जिसमें दोस्ती का तड़का और मार्केट का फंडा था। सोहन को लगता है उसके पास अपनी बात हर हाल में मनवाने का हुनर है। जब लगा कि राहुल के दिमाग में कुछ और चल रहा है, तो सोहन बोला, वैसे भी यार ये बहुराष्ट्रीय कंपनियां इस देश में कर क्या रही हैं ? अनाप शनाप मुनाफा कमा रही हैं। दवा के नाम पर क्या खिला रही हैं ? याद है डाक्टर सोढ़ी क्या कह रहे थे ? कैसे करते हैं डाक्टर इलाज ? वे इलाज के नाम पर ढेर सारी महंगी दवाइयाँ खिलाते हैं। ये नहीं तो वो... इलाज चलता रहता है और पैसा देश से बाहर जाता है। है कि नी ?''

''तो हम क्यों डरते हैं अपनी गोलियों का टेस्ट कराने में ?'' राहुल ने बोलते बोलते आखरी घूंट लिया। सोहन को बुरा लगा। और जिस मकसद से आया था, उस पर बात न होकर बात कहीं से कही जा रही है। और राहुल मानने की बजाय कुछ तो भी बोल रहा है, तो गुस्सा होते हुए सोहन बोला था, ''छोड़ बे। क्या बक रहा है।''

''मेरा मतलब...'' राहुल समझ ही नहीं पाया कि आखिर हुआ क्या। इसमें इतने उत्तेजित होने की जरुरत नहीं थी। सीधे बोल सकता था। बेसिर पैर के तर्क समझ ही नहीं पा रहा था कि सोहन हावी होता हुआ बोलने लगा था, ''वो तुम ही हो जो हर बार बोलता है, इस आयुर्वेदिक दवाई की ट्रायल करवाओ। बच्चों को ज्यादा नींद आती है। इसका साइड इफेक्ट न हो..बड़ा आया था ज्ञान बांटने वाला...टेस्ट करवाने वाला। मार्केट में कोई सुन लेगा कि हमारा ही आदमी ऐसी बात कर रहा है तो कम्पनी का भट्टा बैठ जायेगा।''

सोहन की बात का जवाब नहीं दिया राहुल ने। वरना बहस खत्म ही नहीं होती। राहुल ने अपनी बात रखी, ''मेरा मार्केट अच्छा चल रहा था वहां से मुझे डिस्टर्ब करके...'' राहुल की बात पूरी होने से पहले अपने आपको संयत कर सोहन ने कहा, ''आगे तुम्हारा फ्यूचर है। फ्यूचर....पकड़ो..'' राहुल लगातार इंकार कर रहा है। ऐसे कैसे हो सकता है ? सोहन कहे, मनाये और कोई इंकार कर दे, यह स्वीकार नहीं कर पा रहा था सोहन कि तनाव के मकड़जाल में अटक गया था। उसी समय राहुल बोला था, ''मेरी बजाय उस अमरनाथ को इस नए प्रोडक्ट में लगा दो, वैसे भी मेरा काम अच्छा ही चल रहा है...'' दोनों अपनी अपनी बात कह रहे थे। दोनों एक दूसरे की बात मानने के लिए तैयार नहीं थे। सोहन गुस्सा, नाराजी, दोस्ती, हँसी ...सबका उपयोग कर रहा था। कोई तो निशाने पर लगे। इसलिए शांत होकर बोला था, ''मुझे देख...पंडित जी के यहाँ हम दोनों ने एक साथ काम शुरू किया था न। मैंने पंडित की लड़की फंसा ली और बॉस बन गया...सफलता का रस्ता इसमें से होकर भी जाता है...'' चढ़ने लगी थी सोहन को। कई महीने बाद वो इस होटल में आया था। पीते हुए खाते और बोलते जा रहा था। बहुत देर हो गई थी। होटल में स्वाद ही स्वाद बिखरा था। हावी था लेकिन राहुल का दिमाग फट रहा था। हाँ में हाँ मिलाने की बजाय राहुल ने कहा, ''तू क्या फँसाएगा...वो तो पंडित जी ने दूर जहान की रिश्तेदारी निकाली और तुझे फंसा लिया। वैसे भी सबसे जरूरी काबिलियत तो तेरे को पैदा होते ही मिल गई थी इसलिए पंडित जी ने उसी जन्मजात काबिलियत को देखा और अपनी जाति के सुयोग्य वर को अपनी कन्या दान कर दी। दान...ये समझ ही नहीं पाया कि एक तरफ तो दूल्हा खरीदा जाता है फिर कन्या को दान कर देते हैं। अजीब है न।'' राहुल के इस तरीके से मोहन बहुत बुरी तरह से आहत हो गया। हिल सा गया। अभी तक इस शादी के मायने वह यह सोचकर निकाला करता था कि उसने जो जैसा चाहा,

वैसा पाया लेकिन ये...थोड़ी देर तक समझ नहीं पाया क्या कहे फिर सोहन बोला था, ''अबे छोड़। मुझे तो लगता है मैंने ही इधर उधर से नाते रिश्तेदारी निकाली थी और पंडित जी पे प्रेशर डलवाया। उधर बेटी पे डोरे डाले...स्साले तूने तो कंफ्यूज कर डाला। अब दूसरा फितूर घुसा दिया तूने। अभी तक तो मार्केट का प्रेशर था। अपने आपको टिकाये रखने के लिए। बाजार में अपने आपको बचाना और बढ़ाना था। गोली... गोली... बहुत बड़ा मार्केट है इसका। ये गोली दिमाग का दही बना रही थी। और तूने सब गोबर कर दिया।'' सोहन के दिमाग में शादी के नए तर्क ने गुस्सा भर दिया था। उसे लगा उसका यूज हो गया और उसे पता ही नहीं चला। वो सबको यूज करने में अपने आपको माहिर समझता था और यहाँ उसका यूज हो गया। जैसे कोई नया भंडाफोड़ हो गया। शादी.. फंसाने की बात दिमाग में अटक गई। क्या मेरा यूज किया पंडित जी ने ? सोहन को सहन नहीं हो पा रहा था। मेरा यूज कोई और भी कर सकता है ? इसका यकीन नहीं हो रहा था। फिर ये शादी क्या शादी है या फिर उसे खरीदा गया और तो और अब लग रहा था कि अब राहुल को यूज नहीं कर पायेगा। सोहन ने आधे गिलास को एक सांस में गटक लिया। इस तरह से पीने से उसके चेहरे पर तनाव का चक्र नजर आया तो राहुल ने पूछा था, कोई गलत बात बोली क्या मैंने ?'' राहुल सहज होकर बोला।

''गलत ...गलत तो हम हैं। वो तो ज़माने से हमारे दादा परदादा कहा करते थे। महान से महान किताबें पढ़ा करोगे तो सब समझ में आ जायेगा कि किससे कितनी गैप रखनी चाहिए। किसे मुँह लगाना, किसे गले लगाना, किसे खिलाना सब..सब लिखा है। न हमने पढ़ा न अपने बाप दादा का कहना माना। हम ही है मूरख। बल्कि महामूर्ख। किसी से क्या कहना ? अब हम ही खुद भुगतेंगे। ठीक है भाई साहब।'' सोहन को समझ नहीं आ रहा कि अब चिकन खाये या नहीं। दूल्हा खरीदना, यूज करने के ताने असहनीय होने लगे थे। वह अपना गिलास खाली हो चुका था। दिमाग में भर गया था झाग ही झाग जिसमें उसका यूज करने की बात के बुलबुले उड़ रहे थे। उसे लगा यह बात उसके अलावा जमाने भर को मालूम है। जमाने भर में यह बिखेर गए। वही नहीं जानता कि पंडित जी ने अपना काम निकलवाने के लिए उसको फंसा लिया। फंसा लिया...और दिन रात जोत रहा है.. स्साला ससुर... सोहन की आवाज और चेहरा असामान्य होने लगा था और यह क्या बोल दिया उसे भी समझ में नहीं आया तो राहुल बोला था, ''सोहन तू...तू तो फिजूल में नाराज हो रहा है। कुछ तो भी बोल रहा है। मैंने तो फैक्ट बताये और यार मैं तो चाहता हूँ, जो काम कर रहा था, वही करूँ।''

''...वहां से हटा दिया तो ब्लेकमेल करोगे। यूज करोगे... तुम्हारा साथ देता हूँ तो इसका यह अर्थ नहीं कि दुहाई देते रहो... आखरी बार सलाह दे रहा हूँ, दूरी.. दूरी बनाये रखो, बॉस हूँ तुम्हारा।'' सोहन के दिमाग में पंडित की शक्ल थी। राहुल से नहीं अपने ससुर से बोल रहा हो, जैसे। सोहन को लगा इस तरह की बात राहुल कभी किसी को न कहे इसलिए उसे सबक सिखाने के लिए उसे कुछ और सूझा नहीं तो विरासत के अस्त्र चलाने लगा। आखरी उपाय। इन्हीं से सामने वाला भीतर से न टूट सकता है। राहुल की बात उसे बुरी तरह से तोड़ चुकी थी। सोहन को लगा उसके स्वाभिमान इज्जत और अक्ल सबको एक ही साथ उखाड़ दिया राहुल ने.जमीन से पौधा भरी दोपहरी में अपने जड़ से उखड़ गया इसलिए सोहन चिढ़ गया था वही सोहन की कर्कशता और अपमान से भरा हुआ अंदाज राहुल को आहत कर गया।

तभी तो बोला था राहुल, ''बॉस...भाड़ में गया बॉस... स्साले तेर को जो भी समझ में आ रहा है, उसे समझ ..हम भी समझ गए.. मेरा क्या साथ देगा रे तू ? तेरा साथ दिया है मैंने हर जगह.. तूने तो जब जरूरत पड़ी तब दोस्त बनाया..न जाने कहाँ कहाँ ले गया...और बाप दादा के वचन इतने ही याद आ रहे हैं तो यहाँ बैठकर हड्डियां क्यों चबा रहा है बे...वक्त जरूरत के हिसाब से तय करते हो क्या सही क्या गलत...यहाँ मेरे को कौन लाया ? खाते पीते मौज करते हुए सब भूल जाता है न तू... अपनी जात भूल जाता है। अपना ओहदा याद नहीं रहता है...वाह रे..स्साले कब से सुन रहा हूँ तो न जाने क्या क्या अनाप शनाप बके जा रहा है। एक लिमिट होती है सुनने की सहन करने की। हो गई पूरी लिमिट।'' उत्तेजित हो गया राहुल और जोर से बोलने लगा तो आसपास बैठे हुए लोग सन्न रह गए तो सोहन को लगा उसका दांव उल्टा पड़ गया। राहुल के पास सब कुछ है बताने को। फिर वो दवा वाली बातें हो या उसे फंसाने वाली। किसी भी बात को राहुल बोलेगा तो सोहन की ही आफत आने वाली है। नुकसान अब सोहन का ही होगा। सोहन डर ने अपना रूप बदला और उसने अपनी आवाज में नमी लाई। फुसलाने के अंदाज में कहा था, ''राहुल। मेरे दोस्त तू बुरा मान गया ? अरे काम का प्रेशर है। समझ यार..बहुत दिन हो गए थे साथ बैठे हुए। मेरा दिमाग.. मैं पगला गया हूँ, तू सही

कह रहा है। पता नहीं क्या अनाप शनाप बक गया। मेरा दिमाग फट रहा है यार। माफ़ कर यार.. माफ़ी।'' बोलते – बोलते सोहन कुर्सी से उठा। उसे लगा अगर अभी राहुल को नहीं मनाया तो राहुल कभी भी मान नहीं सकता। सोहन यही सोचकर आगे बढ़ा फिर बोला, ''पता नहीं दिमाग को क्या हुआ ? किसी वायरस का हमला ?''

''सच कह रहा है तू , यह वायरस ही है, जो तुम्हारे दादा पड़दादा और किताबों से मिला है। हम जब एक साथ में काम करते थे तब इस वायरस को खुराक नहीं मिली थी और मुझे भी लगा था मर गया होगा वायरस। लेकिन गलत था मैं। कहाँ नहीं है वायरस ? बस इन्हें मौका परिस्थिति चाहिए.. फैल जाता है। तभी तो वो जब जी चाहता है तेरे जैसों के मू से हकीकत हगने लगता है। बॉस..'' बॉस शब्द बोलते बोलते उपहासात्मक चेहरा हो गया था राहुल का। उसके दिमाग में परिहार के छत पर अधूरी बात चलने लगी।

''क्या बात कर रहा है ? मेरी तो समझ में नहीं आ रहा है। तू बैठ तो सही मेरे दोस्त,भाई। मेरी बात तो समझ।''

''तू रुक तो सही..नाराजगी छोड़। वरना तेरे बिना मैं खाना पीना...सब छोड़ दूंगा..सच्ची कह रहा हूँ।'' उठ गया था सोहन को लगा, अब राहुल हाथ से निकल गया।

''सच है...मेरी रोजीरोटी उजाड़ने की बात करने वाला अब खाना–पीना छोड़ने की बात कर रहा है। मैंने तुझे बॉस ही माना था मन से और उतना ही टेंशन लिया जितना ले सकता था। तुझे अच्छी तरह से मालूम है मैं जल्दी सोता हूँ। फिर भी तू रात में ही फोन करता था। तब मेरी परेशानी दिखी नहीं। तब लगता था तू टेंशन में होता होगा। लेकिन सोहन प्यारे तेरे अंदर सदियों से पड़े हुए वायरस ने अपना रूप बदल लिया है। ये ज्यादा स्ट्रांग हो गया है।''

''सॉरी यार..रात में.. अब क्या बताऊँ... बेडरूम में गुस्सा आता था तो कहाँ निकालता.. क्या करूँ ? अब तो कुछ भी समझ नहीं आ रहा है। शादी की बात से तो सच में तो अब जिन्दगी ही समझ में नहीं आ रही... केहने को बॉस हूँ लेकिन लगता है मेरा ही यूज हो रहा है.. हर जगह...''

''तू चाहे कुछ भी बता। जी तो चाह रहा है तेरी कालर पकड़ूँ। तेरी पिटाई कर दूँ यही बस स्टैंड पर...तू और तेरे जैसे न जाने कितनों को भरम है कि वे हमारी सोच, दिमाग को अपने हिसाब से चलाने के लिए हमें मजबूर कर देंगे। इस भरम को निकाल दे। सुनी सुनाई बातों ने तेरे जैसों का दिमाग खराब कर दिया है। वाहियात वायरस बहुत समय तक ज़िंदा नहीं रह सकता। उनके लिए एंटी वायरस का टीका बनता रहेगा। हर समय काल में एंटी वायरस भी होता है। उसी से देश बचा रहता है।'' राहुल की आँख लाल हो गई और सांस तेज। लग रहा था कि वह खुद को बमुश्किल से रोक पा रहा है। राहुल का यह रूप और बातें सुनकर सोहन की सिट्टी पिट्टी गुम हो गई। उसे यकीन ही नहीं हो रहा है कि ये राहुल वही राहुल है, जिसे वो सिर्फ यूज करने की बात सोचता था। वो इतना और इस तरह से पलटकर बोलेगा ? सोहन यकीन नहीं कर पा रहा था, तब तक वेटर ने गीले कपड़े से टेबल साफ कर दिया था। सोहन का दिमाग साफ़ होने के अलावा हलचल मचा रहा था। उसे लगा पंडित जी उसका यूज करने के बाद थ्रो नहीं कर रहे हैं..उसका बार बार रियूज कर रहे है।

राहुल ने अपने घर का दरवाजा खोला। सवा छ बज गए। घना अंधकार जा चुका था। साफ़ साफ़ दिख रहा है। पुरानी बात के साथ आज की रात चली गई। बेटी उठी और उठते से ही आवाज लगाई, पापा... और लिपट गई राहुल से। राहुल के चेहरे पर चमक आ गई। बेटी की रोशनी से राहुल के भीतर उजाला भर गया।

सी ई ओ, जिला पंचायत,
गुना (म. प्र.)
मो. – 09425101644

अंजली देशपांडे

घूंघट

ज़ोर–ज़ोर से कुशन पटक कर उसने तीनों को पास की गद्‌देदार कुर्सी पर उछाल दिया। खिड़की से आकर फर्श पर पसरती धूप की मोटी पट्‌टी में धूल कण नृत्य करने लगे। इस कमरे में आने का बस यही एक मौका होता है, बाहर का कमरा, पुरुषों की बैठक, ससुरजी का साम्राज्य। जान गये होंगे ससुरजी कि वह इंतज़ार ही करती रहती है यहां आने का जभी तो दरवाज़ा बहुत ज़ोर से बंद करते हैं जब बाहर निकलते हैं। बरामदे से उतर बाएं मुड़कर मकान के पिछवाड़े स्नानघर तक वे पहुंचते भी नहीं कि पीछे रसोई को जस का तस छोड़ कर दौड़ी चली आती है वीणा यहां। दरवाज़े की कुंडी चढ़ी कि आंचल खिसका। नंगे सिर। खुले मुंह। पंखा फुल स्पीड पर। आंचल का किनारा कमर में खोंसे, ढीले जूड़े से उड़ते बालों से बेखबर, कमरे में उठा पटक करती हुई गुनगुना रही है वह। आज देर कर दी ससुरजी ने सोफा खाली करने में, वह तो सोने का कमरा ठीक भी कर चुकी, बेटे को स्कूल भेजने और उनको टिफिन पकड़ाने के बाद। आज तो चादर भी बदल ली थी।

उसने सोफे की पुश्त पर पड़े तेलकट हो चुके जालीदार कवर उठा लिए, सोफे को ज़ोरों से पीटा और हँस दी। दरवाज़े पर ज़ोर की दस्तक हुई। इस वक्त ? कौन हो सकता है ? आंचल झट से सर पर रख, भौंहों तक खींच वीणा ने दरवाज़ा खोला। वे खड़े थे। दो आदमी साथ में। एक औरत भी। वीणा फिरकनी सी घूम गई और आंचल को उसने नाक तक घसीट लिया। अभी तो गये थे दफ्तर! दो घंटे भी नहीं हुए। और आ गये वापस।

वह भी मेहमानों को लेकर। फोन ही कर देते। घर का क्या हाल है। धूलकणों से लथपथ। कुशन एक कुर्सी पर लदे। सोफे के आवरण फर्श पर पड़े। तेज़ कदमों से अंदर जाकर उसने घर के पिछले हिस्से और बैठक के बीच दरवाज़े का सलेटी पर्दा खींच दिया। 'बैठिए सर,' पतिदेव कह रहे थे। 'पानी, पानी देना,' ऊंची आवाज़ उन्होंने पर्दे की तरफ

फेंकी। 'सर मैं अभी भी कहता हूं, प्लीज़ इसकी ज़रूरत नहीं है।'

'रहने दीजिए,' वीणा ने औरत की आवाज़ सुनी। उस आवाज़ में कुछ था जो दीवाली पर घर आने वाले उनके सहकर्मियों की आवाज़ में कभी नहीं सुना था। वितृष्णा सा कुछ। शायद उसके बैठक की हालत पर घिन आ गई थी उसे।

'यह तरीका नार्मल तो नहीं है लेकिन कोई बात नहीं। प्रेलिमिनरी है। मैं अंदर जाकर बात कर लूंगी,' औरत कह रही थी। इसमें बेतकल्लुफी की नहीं, फैसले की सी ध्वनि थी।

वीणा ने तब तक दाईं ओर की छोटी सी रसोई के कलश से स्टील के चार गिलासों में पानी निकाल लिया था। सुनहरे किनारे और लाल फूलों वाले कांच के गिलास तो बाहर की अलमारी में हैं। फ्रिज भी तो वहीं है। ठंडा पानी चाहिए हो तो उन्हीं को निकालना पड़ेगा। स्टील की थाली में स्टील के गिलास रख कर उसने परदे के पीछे से थाली बाहर निकाल दी। सोने की दो चूड़ियों के बीच मोटे कांच की गहरे हरे रंग की चूड़ियां कंगन सी दिख रही थीं जो स्वचालित लीवर की तरह थाल के हाथ से लिए जाते ही परदे के पीछे हो लीं ।

वीणा चाय चढ़ाने की सोचने लगी। इतनी गर्मी है। शर्बत ही बना दे क्या? लस्सी के लायक दही तो नहीं होगी। आते भी नहीं भीतर कि पूछ ले।

'नमस्ते,' सुन कर वह अचकचा कर मुड़ी। कोटा की कुरकुरी साड़ी में उनके साथ आई औरत खड़ी थी। हाय राम, उसने तो कंघी तक नहीं की थी, क्या सोचेगी यह।

'आपसे बात करनी है,' औरत ने कहा।

बाहर से उसे पति की आवाज़ आई, 'वापस तो ले लिया सर...'

फिर एक आदमी ने अंग्रेज़ी में कुछ कहा। कुछ सख़्त सी आवाज़ में।

वीणा ने औरत को देख मुस्कुरा कर सर हिलाया।

'दो मिनट रुक जाइए। ससुरजी आ जाएं नहा कर...'

'नहीं, नहीं,' औरत ने कहा, 'बाथरूम नहीं पूछ रही हूं मैं।'

पहली बार वीणा का ध्यान गया उनके बाजू पर टंगे बड़े से पर्स पर। ओह, बदलना है इनको। औरत की जान को भी कितनी मुसीबतें लगी रहती हैं। जल्दी में होगी बेचारी। साड़ी भी हल्के रंग की है।

'हां, हां, वह भी, दूसरा भी वहीं है। ससुरजी आ जायें, ले चलूंगी। यहां रसोई से भी दरवाज़ा खुलता है। क्या है अच्छा नहीं लगता आदमियों के सामने।'

'मैं सुषमा हूं, सुषमा राय। आपसे कुछ खास बात करनी है,' औरत ने कहा।

'मैं वीणा। बताया नहीं ना इन्होंने, दफ्तर से लोग आयेंगे। चाय चलेगी या शर्बत पिलाऊं?'

'कैसे कहूं,' सुषमा नाम की औरत ने ज़ोर से सांस छोड़ी। ससुरजी कमरे में आ चुके थे। वे मिलवा रहे थे उन्हें मेहमानों से। फिर उसने सुना उन्हें पिताजी से कहते कि कुछ देर के लिए पड़ोस में चले जायें। ऐसा क्या काम था इन लोगों को। 'पहले बताते, मैं कुछ खाने को अच्छा बनाती...' वह कह रही थी।

'हम अचानक आ गये। हमने ही बताने नहीं दिया,' सुषमा ने कहा। उसने मुड़ कर देखा। बस परदे के अंदर बाएं को एक कमरा था। इतना सा ही मकान था। यहीं बैठना पड़ेगा। 'हमारा काम ही ऐसा है।' फिर सुषमा ने बताया कि वे तीनों उसके पति के हेड ऑफिस से आये हैं। दिल्ली से। सुबह निकले थे। सीधे दफ्तर पहुंचे। बाहर जो दो अधिकारी बैठे हैं, उनमें नीले शर्ट में मोहन रेड्डी हैं। सफेद शर्ट वाले हैं ओमप्रकाश खंडेलवाल। और तीनों को उसी से काम है।

'मुझसे?' वीणा को लगा उसने ठीक से सुना नहीं।

'चलिए, यहां बैठते हैं,' सुषमा ने अधिकार भाव से कहा और सोने के कमरे की तरफ चली। उसके साथ कोटा की साड़ी अपने चारखाने की बुनावट पर इतराती, हर चुनट को सीधा खड़ी किए मुड़ी। सिर्फ कोटा में होता है यह गुण कि पहनने वाले से कुछ अलग सी, कवच सी खड़ी रहे, आगे आगे चले रास्ता साफ करती। कमरे के दरवाज़े पर पहुंच कर वह ठिठकी। तीन चौथाई कमरा तो एक बड़ा बक्स ही था लकड़ी का जिसके सिरहाने पर सफेद माइका की चादर ठुंकी थी नीली बुंदकियों वाली। बक्से पर पड़ा गद्दा बड़े लाल गुलाबों के छापे वाली हरी चादर से ढंका था। सिरहाने के पीछे खिड़की पर नीला परदा था। पायताने थी स्टील की

अलमारी जिसके एक पल्ले पर शीशा जड़ा था। एक तरफ छोटी सी टेबल के पास दो प्लास्टिक की कुर्सियां रखी थीं जो कभी लाल रंग की रही होंगी अभी उजड़े मांग सी फीकी थीं। वीणा नायलॉन के आंचल को कंधों पर डालती अंदर गई और एक कुर्सी खींच कर उसने सुषमा की तरफ बढ़ा दिया। कुर्सी की तरफ बढ़ते हुए सुषमा की नज़र दीवार पर कील से टंगे लाल, नीली, पीली और नारंगी चूड़ियां पिरोई हुई हैंगर पर पड़ी। बैठकर उन्होंने अपनी कलफदार कोटा को कस कर दबाया और हैंडबैग नीचे रख दिया। गद्दा थपथपाकर बोलीं, 'बैठिए।'

वीणा पलंग पर बैठ गई। सुषमा की नज़र सामने दीवार पर टंगे एक फ्रेम पर टिक गई। ज़ंग के रंग में कढ़ा हुआ खपरैल की ढलुवां छत वाली झोंपड़ीनुमा मकान फ्रेम में सुरक्षित रखा था। नीचे कढ़ाई के अक्षरों में ही लिखा था, 'घर।'

अनायास सुषमा का हाथ वीणा के कंधे पर आ बैठा। हल्का सा स्पर्श, कुछ मुलायम, कुछ आश्वस्त सा करने वाला, कुछ सांत्वना सा देता। वीणा को झुरझुरी सी उठी। ऐसे क्यों कर रही है ? घबराहट सी हुई।

'देखिए, बात नाज़ुक है। समझ में नहीं आता कैसे शुरू करूं। आप मुझे माफ कीजिए, मैं सीधे ही आपसे पूछ लेती हूं। मगर पहले यह देख लीजिए,' सुषमा ने अपने हैंडबैग से कुछ कागज़ निकाले। तीन पन्ने थे। टाइप किया हुआ था उन पर कुछ। एक कोने में वे पिन से आपस में जुड़े थे। यह कागज़ वीणा को देते हुए सुषमा ने कहा,

'पढ़ना चाहेंगी आप ?'

वीणा ने उनको हाथ में लेकर नकार में सर हिलाया। 'यह तो अंग्रेजी में है।'

'आपके पति ने लिखा है।'

'सच्ची ? इतना सारा ? उनकी अंग्रेजी बहुत अच्छी है। बेटे का होमवर्क वही कराते हैं।' वीणा की आँखों में गर्व, होठों पर खुशी थी।

'मैं ही पढ़ कर सुना देती हूं,' सुषमा ने कहा और उससे कागज़ लेकर एकदम सर हिलाकर बोली, 'मैं भी क्या कह रही हूं। चलिए आपको बता देती हूं इसमें क्या लिखा है।'

उसने कागज़ बिस्तर पर रखकर तकिए का एक सिरा उन पर टिका दिया। पंखे की हवा में वे फरफर करने लगे।

'आपके पति ने हेड ऑफिस में शिकायत भेजी है। उनका कहना है कि श्याम कुमार जी आपके घर आये थे।'

'श्याम कुमार जी कौन हैं ?' वीणा ने टोका।

'उनकी ब्रांच के मैनेजर। उनके अफसर। बड़े अफसर।'

'अच्छा, बड़े अफसर ? वह तो कभी नहीं आये। पिछली दीवाली ससुरजी ने कहा था, उनको भी बुलाने को। ये बोले, छोटी जात के हैं, गंगाजल छिड़कना पड़ेगा। खत्म होने को है। ससुरजी लाये थे, एक गंगाल। इत्ता सा बचा है। दशहरे से दीवाली तक घर में बहुत शुद्धता रखते हैं हम।'

सुषमा चुप बैठी रही वीणा की बात खत्म होने के बाद भी कि शायद अभी और कुछ कहेगी। वीणा उसे प्रश्नवाचक निगाहों से देखने लगी तो सुषमा ने कहा 'हूं। वह उठने को हुई मगर इसका विचार त्याग कर बोलीं, 'वीणाजी, मुझे अफसोस है, जो काम करने आये हैं, हमें करना ही होगा। संक्षेप में सुनिए। आपके पति ने लिखा है कि उनके पीछे से श्याम कुमार जी आपके घर में आये और आपसे... उन्होंने आपके साथ ज़्यादती...' उन्होंने सांस छोड़ी और एकदम से बोल गईं, '... उनका कहना है कि श्याम कुमार जी ने आपकी इज्ज़त पर हाथ डाला, आपसे बलात्कार किया है।'

सुषमा ने देखा वीणा की आंखें फैल गई थीं। वह एकाएक निस्पंद हो गईं। न आंखों की पुतलियां हिलीं, न नथुने फड़के, न हाथ कांपे, न भौंहों में ही हलचल हुई। सिर्फ बाल उड़ रहे थे पंखे की हवा में। उन्होंने वीणा का कंधा पकड़ कर उसे हिलाया।

'वीणा जी, मैं समझ सकती हूं आप पर क्या बीत रही है। मैं भी औरत हूं। सुनिए, आपको डीटेल बताने की ज़रूरत नहीं। कुछ बताने की ज़रूरत नहीं। सिर्फ इतना बताइये कि यह सच है या झूठ। आपके पति ने लिखा है कि ऐसा दो बार हुआ। दूसरी बार होने पर ही आपने उनको बताया, इसी अप्रैल में।'

वीणा अकंप बैठी रही।

सुषमा उठ कर खड़ी हो गईं। उन्होंने प्लास्टिक की कुर्सी ले जाकर शयनकक्ष और रसोई के बीच के गलियारे में पर्दे के पीछे रख दिया। वापस कमरे में जाकर उन्होंने वीणा का हाथ पकड़ कर उसे उठाया। हाथ एकदम ठंडा था। घबरा कर सुषमा झट से रसोई से एक गिलास पानी ले आईं। दो चार घूंट मुश्किल से पीकर वीणा उसके पीछे चली आई।

'वीणा जी आप यहीं पर्दे के पीछे से जवाब दीजिए। हम तीनों की कमिटी है। तीनों को आपका जवाब सुनना होगा। प्लीज़।' कह कर सुषमा परदे के पार निकल गई।

वीणा को पति का गिड़गिड़ाता सा स्वर सुनाई दिया। 'मैडम, प्लीज़ अब बस कीजिए। मैंने कंप्लेंट वापस ले ली है।'

मोहन रेड्डी ने कुछ गुस्से में अंग्रेज़ी में पूछा, 'व्हाय शुड वी स्टॉप ? इस धिस अ जोक ? फाइलिंग सच कम्प्लेंट्स ?'

वीणा अंग्रेज़ी जानती भी होती तो भी समझ नहीं पाती कि आदमी क्या कह रहा है। उसके मन में मचा झंझावात बाहर से कोई शब्द उस तक पहुंचने से रोक रहा था। दोनों कानों के बीच सन्नाटे का भीषण दर्द शुरू हो गया था।

'सर मैं कह रहा हूं, गलती हो गई...'

'कहीं ऐसा तो नहीं कि आपको लग रहा है आपकी इज़्ज़त... इसके बारे में सोच कर भी कभी कभी ऐसी शिकायतें वापस ले ली जाती हैं,' खंडेलवाल ने कहा।

'मुझे ऐसा नहीं लगता,' सुषमा ने कहा। वह अभी भी परदे के पास ही खड़ी थी। फिर ऊंची आवाज़ में उसने वीणा से उसका नाम पूछा, तसल्ली की कि वह उसी आदमी की पत्नी थी जिसका यह घर था, उसके दफ्तर का नाम पूछा और अंत में पूछा कि क्या कभी श्याम कुमार नाम के किसी आदमी ने आकर उनके साथ कोई ज़बरदस्ती की है ?

तीन चार बार पूछे जाने पर नाम और दफ्तर के नाम जैसे पहचान पुख्ता करने वाले सवालों के जवाब वीणा ने धीमी आवाज़ में दी थी। आखिरी सवाल पर वह चुप रह गई।

सुषमा ने कहा, 'वीणा जी क्या मैं दुबारा पूछूं ? क्या श्याम कुमार...'

परदे के पीछे से बहुत ही दृढ़ और शांत लेकिन ऊंची आवाज़ में वीणा का जवाब आया।

'मैं किसी श्याम कुमार को नहीं जानती। वह यहां कभी नहीं आये। मैं घर में कभी अकेली नहीं रहती। हमेशा ससुरजी रहते हैं। या फिर ये रहते हैं।'

कुछ पलों बाद सुषमा ने परदे के पीछे झांक कर सबकी तरफ से नमस्ते की। वीणा खड़ी हो गई थी। उसकी आंखें लाल थीं। उसने दोनों हाथ उठाकर जोड़ दिये और आंसुओं के फिर से टपकने से पहले ही मुड़ गई। उसने सबके बाहर निकलने की आहट सुनी, दरवाज़ा खुला और बंद हुआ।

'अब मैं अकेली हूं,' वीणा ने खाली मकान से कहा।

वह तीन पन्ने तकिए के नीचे आधे दबे से फरफरा रहे थे। उन्हें उठाकर वीणा ने अलमारी खोल कर अपने गहनों के बक्से में रख दिया। उन्होंने कहा, खुद होके, कि हमारी इज़्ज़त लुट गई ? यह एक वाक्य उसके कानों के बीच के सन्नाटे को चीरने लगा। सीता मैया की भी ऐसी स्थिति न हुई थी। उसके स्वामी ने तो कहा ही नहीं था लिख कर दिया था। उसने घूंघट गर्दन तक खींच ली। अब किसी को मुंह दिखाने लायक नहीं बची थी वह।

ससुरजी को परदे के पीछे से थाली दे रही थी। थाली पर उनका हाथ महसूस होते ही उसने हिचकी सी ली। अगर इनको पता चल गया तो ? अभी यहीं सड़क पर फेंक देंगे।

'पिताजी,' उसने कहा, 'क्या मैं अच्छी औरत हूं ?'

वृद्ध हक्का बक्का रह गये। जिसने कभी उनकी उपस्थिति में अपने बच्चे को भी ज़ोर से आवाज़ नहीं दी आज सीधे उन्हीं से बात कर रही है ! हो क्या रहा है घर में। पहले बेटा दफ्तर के लोगों को लेकर आया और उन्हें पड़ोसी के घर में बैठना पड़ा अब यह अपने चरित्र का सर्टिफिकेट मांग रही है।

'बड़ी नेक है बहू, बड़ी नेक। आराम कर ले,' उन्होंने कहा।

घर में भूचाल का यह पहला संकेत था। मगर भूचाल आने पर भी फर्श नीचे से खिसकी नहीं।

बेटा स्कूल से लौटा तो मां ने घूंघट नहीं उठाया, उसी को भीतर खींच कर देखा। बात नहीं की उससे।

'क्या हुआ मां ?' बेटे ने पूछा। घर की बंदिशों के बीच का बंधा वातावरण भी घुट गया था। बेटे ने अपनी

किल्लोल पर उदासी का यह आक्रमण देखा तो मां के गले से झूल गया। मां ने गले नहीं लगाया। उसने उन्हें अपनी चॉकलेट भी दी पर वह हँसी नहीं। हाथ उनका उसके सर तक आया नहीं। गालों को होंठों का स्पर्श नहीं मिला। वह रूठ गया और रूठा ही सो गया।

शाम को पति को खाना परोस वह चुपचाप रसोई में बैठी रही। पति की नज़रें झुकी थीं। देर रात वह रसोई में आया, 'ऐसे ही ऑफिस में झगड़े हो जाते हैं। उसको सबक सिखाना था। हो गई गलती। चल, चल के सो।'

उसने जवाब नहीं दिया। पति कमरे में शराब चढ़ाते रहे, सामने थाली रखी रही। वीणा बत्ती बुझने के बाद ही आई और पायताने फर्श पर चादर बिछा कर लेट गई।

सुबह पति ने कहा, 'हो गई गलती। किसी को पता थोड़े ना है। चल, चल, बात खत्म कर।'

सचमुच किसी को पता नहीं है? उनके दफ्तर के उन लोगों को जो दीवाली पर आते हैं, भाभी कह कर परदे के उस तरफ से नमस्ते करते हैं, उसके हाथ की खीर खाते हैं?

पति ने पहले मनुहारें कीं, एक साड़ी भी लाया, फिर फटकारा पर घूंघट नहीं उठा। चादर नीचे ही बिछती रही। बेटा रोया, रूठा, दादाजी से शिकायत की और उन्हीं के पास रहने लगा।

वह एकदम निर्वासित महसूस करने लगी। उसे लगा उसका वज़न बहुत बढ़ गया है जैसे चेतनाशून्य होने पर होता है। सोते ही जैसे बाहों में जागते हँसते शिशु का भार बढ़ जाता है ठीक उसी तरह वीणा को लगा वह बोझिल हो गई है। चलती है तो धरती पर धम्म सा होता है। उसने पाजेब उतार दी। आटा गूंधते गूंधते वह एकदम से हाथ धीमे चलाने लगती थी। कोई सुन न ले।

पड़ोसियों ने देखा वीणा कुछ बदल गई है। कुछ अजीब सी हरकतें करने लगी है। सास गुज़री तब से गली में निकल सब्ज़ी खरीदती है मगर अब आंचल भौंहों तक नहीं, उससे बहुत नीचे छाती पर डोलता है। घूंघट में से ही वह सब्ज़ी चुनती है, अंदाज़े से। कोई हँसता है तो एकदम से सब्ज़ी चुनते हाथ थम जाते हैं और घूंघट उसी दिशा में मुड़ जाता। वह खरीदी सब्ज़ी वहीं छोड़ सरपट भाग कर घर में घुस जाती है। कितनी बार तो पड़ोसन ने ही सब्ज़ी खरीद के दी।

पति ने बताया, बेटे को और उसने बताया पड़ोसियों को कि मां ने नया व्रत रखा है, शायद महीनो दो महीना घूंघट ही में रहेगी। कोई मन्नत मांगी है, पूरा होने पर ही उठायेगी।

चार दिन बाद शनिवार आया तो ससुरजी के कहने पर पति उसे मायके ले गया। हर साल तपती गर्मी में जाना होता ही था मायके, आम का अचार डालने। वह तो मसालों का अनुपात याद ही नहीं रख पाती थी। इस साल तो अभी अचार के आम आये भी नहीं थे। ननिहाल में मामा के लड़के लड़की के साथ धमाचौकड़ी मचाते हुए बेटे ने बताया, मां बौरा गई है। वीणा की भाभी ने भी ननद की हँसी गुल और परदा पूरा देख तो भौंचक रह गई।

'ऐसा व्रत तो न हमने सुना न देखा, औरतों से भी परदा?' उसने टोका।

वीणा ने एक दुपहर अपनी मां से पूछा, 'आदमी का कितना अधिकार होता है औरत पर?'

वह भिंडियों के सर उड़ा रही थी, पेट में चीरे लगा रही थी।

मां ने झिड़क दिया। छोटा सा परिवार, न ननद की टोक न सास की, कुछ अनबन हो भी गई है तो इतना मुंह सुजाने की क्या बात है? कुछ औरतों को अपना ही सौभाग्य समझ में नहीं आता।

पति लिवाने आया तो सहमा सा। कनिखयों से कभी सास को देखता कभी सलहज को। कुछ बता तो नहीं दिया? वीणा चुपचाप थैली उठा कर चल दी। मां के घर में किसी को खबर नहीं थी मगर यहां तो अलमारी भी जानती है क्या कुछ बीता है इन कुछ दिनों में उस पर। ससुराल में पत्नी के चुप लगा जाने की राहत ने पति को फिर से पति बना दिया। उस दिन बेटा अंदर ही सोया था फिर भी पति ने पलंग से उतर कर नीचे चादर पर पड़ी उसकी काया पर हाथ फेरा। वह चौंक कर उठी, उसने घूंघट खींच लिया, दीवार से सट गई। बेटे की मासूम नींद न तोड़ने की ममता की ध्वनिहीनता और अंतर्मन में जमी अनंत पीड़ा के पिघलने की ध्वनियों का मिश्रण आक्रांत रुदन बनकर रिसने लगा। घायल सियार की सी इस आवाज़ से डर कर वह पलंग पर जा पड़ा और करवटें बदलता रहा।

वह घर के सारे काम घूंघट ही में करती। एक बार मुश्किल से कुछ खाती। ससुरजी ने कई बार घर के अंदर से

अजीब आवाजें सुनी जैसे कोई आततायी के चाबुक के डर से क्रंदन रोकने का प्रयास कर रहा हो। बहुत ही मनहूस आवाज़ थी।

'बेटा, डॉक्टर को दिखा लाओ। लगता है बीमार है,' ससुरजी ने कहा।

घर में मनहूसी छा गई थी। फ्रिज के ऊपर धूल की परत साफ नहीं होती थी। कपड़े साफ नहीं धुलते थे। कई बार तो बेटे को पिछले दिन की बिना धुली ड्रेस पहन कर ही स्कूल जाना पड़ा। खाने में स्वाद नहीं बचा। बर्तन मांजते मांजते हाथ रुक जाते तो नल चलता ही रहता और ससुरजी गला खंखार कर जोर से कहते 'कितनी गर्मी है,' या ऐसा ही कुछ कि अंदर कोई होश संभाल ले।

बेटे की हँसी पहले गुल हुई। फिर वह सहमने लगा। एक दिन उसके हाथ से टिफिन लेते लेते पति का हाथ छू गया। उसने फौरन टिफिन छोड़ दिया। पति ने भी अभी पूरी तरह पकड़ा नहीं था। टिफिन बॉक्स गिर कर खुल गया। फर्श पर सब्ज़ी बिखर गई।

'कब तक करेगी यह नौटंकी ?' पति ने चिल्ला कर पूछा।

उसने टिफिन बॉक्स को लात मारी और स्कूटर पर चलता बना। कुछ दिन दिये थे रोने को, बिसुरने को, बुदबुदाने को, बड़बड़ाने को। चीख लेती, चिल्ला लेती तो भी चलता। इस नाटक ने तो गली भर में तमाशा बना कर रख दिया है उसे।

अगले दिन उसने सुना फोन पर पति को किसी से बात करते हुए। 'आना ही पड़ेगा। कितनी लंबी छुट्टी लेता ?'

कुछ उधर से कहा होगा किसी ने। पति 'हो हो'करके हँसा, 'और भेजो मीमो। चखा दिया न मज़ा! अरे इन्क्वायरी का नतीजा कौन देखता है ? जांच कमेटी आ गई यही बहुत है।' फिर वह कुछ देर चुप रहा। फिर कहा, 'उससे कहो घूंघट कर ले! मुंह छिपाना है तो यही करना पड़ेगा।'और वह ज़ोरों से 'हो, हो' करके हंसने लगा।

वह सन्न रह गई। कौन कर ले घूंघट ? वही! तवे पर रोटी जल गई। घर में बदबू फैली तो पति ने रसोई में आकर कहा, 'एक पड़ेगा ना उलटे हाथ का तब उतरेगा भूत।'

वह तो बहुत देर तक जाने क्या क्या कहता रहा। ससुरजी बेटे को आइसक्रीम खिलाने ले गए थे बाहर, लौटे तब जाकर चुप हुआ।

अगले दिन ससुरजी नहाने निकले तो उसने पति के दफ्तर का फोन लगाया। किसी ने उठा कर कहा, 'हेलो,' तो रख दिया। तीन बार ऐसा करने के बाद चौथी बार लगाया तो फोन लगा ही नहीं। दूसरा नंबर लगाया। इस बार उसने धीमी आवाज़ में कहा, 'श्यामकुमार जी से बात कराइये।'

'कौन बोल रहा है ?' कोई आदमी था, मगर उसका पति नहीं।

वीणा ने पड़ोसी का नाम बोल दिया। उसने सुना किसी ने कहा, 'सर आपका फोन'। फ़ोन पर कुछ अस्पष्ट से स्वर सुनाई दे रहे थे जैसे पृष्ठभूमी में बहुत से लोग बातचीत कर रहे हों ।

एक साफ़ स्पष्ट आवाज़ फोन पर आई। 'हेलो! कौन ?'

वीणा ने गहरी सांस भरी और अपना नाम बता दिया। यह भी बता दिया वह किसकी पत्नी है। फौरन उसके हाथ में फोन ठंडा सा पड़ गया। सारी आवाजें एकाएक बंद हो गयीं। उधर से काट दिया गया था। जिसके नाम से पति ने उसे जोड़ दिया था वह तो उससे बात भी नहीं करना चाहता! अगर करता भी तो वह क्या कहती ? किसलिए किया था फोन ? कोई आशा थी ? फरियाद ? वह फोन पकड़े खड़ी रही। दरवाज़े पर ससुरजी आ खड़े हुए। आजकल वह कुंडा नहीं लगाती। घूंघट उठता ही नहीं तो फिज़ूल है। किवाड़ तो वे भेड़ ही जाते हैं। ससुरजी खंखारे तो उसने फोन रखा और अंदर चली गई। उस दिन दोपहर को वह मंदिर गयी और देर तक रामचंद्रजी और सीताजी की प्रतिमा के आगे माथा टेके रही।

सीता मैया ने ही चुना था सही मार्ग। उसके पति को तो रामचंद्रजी से भी बढ़ कर मालूम था कि कैसा मिथ्या दोषारोपण किया है उन्होंने। ऐसी परीक्षा!

अगले दिन शनिवार था। ससुरजी अपने पोते को लेकर छोटे बेटे के घर चले गये। जाते थे हर दो महीनों में एक बार। इस बार तो अभी एक ही महीना हुआ था फिर भी चले गये। उनको ऑटो में बिठाकर पति लौटा तो आते ही उसने दरवाज़ा बंद किया और आकर उसका आंचल खींच लिया।

वीणा ने घूम कर उसे साड़ी उतार लेने दी और ज़मीन पर गिर कर उसने फर्श में मुंह गड़ा दिया। पति ने उसे दो लातें मारी और बाहर निकल गया। शाम को आकर उसने कहा, 'मेहमान आ रहे हैं। चुपचाप पका दे। कोई रोना पीटना किया तो हड्डियां तोड़ दूंगा। माफी मांग ली। चिरौरी कर ली। ज़्यादा सर पर चढ़े जा रही है।' वह फिर बाहर चला गया।

दफ्तर के तीन आदमी आये थे। उसने सुना 'भाभीजी नमस्ते'। जानी पहचानी आवाजें थीं, आते थे उसके हाथ के भोजन को चटखारे लेकर खाते थे। मगर आज कुछ नया ही था इन आवाजों में। क्या उनके स्वर ने 'भाभीजी' पर कुछ ज्यादा बल दिया था? शायद उस शब्द को अस्फुट हँसी ने रेखांकित किया था। सुनहरी किनारी के लाल फूलों वाले कांच के गिलास निकले थे। कांच की कटोरियों में मूंगफली निकाली गई। सलाद खुद पति ने ही काट लिया था।

सब हँस रहे थे। एक ने कहा था, 'गजब हो गया। यार तूने भी कमाल कर दिया।'

'करना पड़ता है अपने हित में,' पति ने कहा।

एक और आदमी ने कहा, 'लेकिन भाभीजी...' वीणा स्तम्भित खड़ी रह गई।

पहले वह सुनती ही नहीं थी बाहर क्या कहा जाता है, आज वह देख भी नहीं रही कि रोटी गोल बिल रही है कि नहीं।

पीते हैं तो खूब ज़ोरों से बोलते हैं सब। ससुरजी जाते हैं तो यही कार्यक्रम होता है। भाभीजी, क्या? क्या कहते कहते रुक गये? क्या कहा आंखों ही आंखों में उन्होंने। सब हँस रहे हैं। घर में बुलाकर उस पर हँसने दे रहा है उसका पति। हँस रहा है खुद उस पर।

ज़रूर जानते हैं लोग। यह सब जानते हैं। क्या यह जानते हैं कि झूठ था सब? या यह भी सोचते हैं इज़्ज़त की खातिर झूठ बोल गई वह? बादल छंट गए। तेज़ तिलमिलाती धूप ने जला डाला वीणा के शरीर को। आंखें जल उठीं। दिल्ली तक में जानते हैं लोग। वहीं से तो आये थे वे तीन लोग। गली में हँसते हैं लोग उस पर। बता दिया है लोगों ने पड़ोसियों को कि उस दफ्तर में काम करने वाले की बीवी की इज्जत लुट गई है। खुद उसके पति ने कहा है। सबको पता चल चुका है। बाहर से ज़ोरों के हँसने की आवाज़ आई। बहुत देर तक हँसते रहे सब।

आधी रात को नशे में झूमते पति ने कहा, 'मुंह दिखाने लायक नहीं छोड़ा।'

वह हँसता जाता और यही कहता जाता। देर रात उसने वीणा की साड़ी खींच ली। वह फर्श पर औंधी लेट गई तो दोनों बांहे पकड़ कर उसने मरोड़ दी। कपड़े फाड़ फेंके। अपनी बनियान उतार कर वीणा के मुंह में ठूंस दी। पति होने का हक वसूला और उठ कर उसने वीणा को कस कर दो थप्पड़ लगाये। फिर वह पलंग पर जा गिरा और खर्राटें भरने लगा। सुबह बहुत देर से आंख खुली। वह मुस्कुराया, ज़ोर की अंगड़ाई ली। देखा अलमारी खुली है। फर्श पर हरी चूड़ियों के टुकड़े बिखरे पड़े हैं। पायताने वीणा की चादर मुसी पड़ी है और तीन सफ़ेद पन्ने बिखरे पड़े हैं, टाइप किये हुए। अंग्रेज़ी में। एक पन्ना उल्टा था, उसपर रात खाली हुई शराब की बोतल रखी थी। बॉल पेन से टेढ़े मेढ़े बड़े बड़े हर्फों में उसपर लिखा था, 'मेरा पति यही किया. बलात्कार. इस आदमी के साथ रह नहीं सकती। मेरा पति मेरी मौत का जिम्मेवार है।'

झटके से उठ वह बाहर निकला। बैठक की तरफ परदा खोलते ही वह खड़ा का खड़ा रह गया। सोफे के ऊपर प्लास्टिक की कुर्सी लुढ़की पड़ी थी। पंखे से वीणा झूल रही थी, रात जो साड़ी फाड़ी थी उसी के टुकड़े से। पेटीकोट पहने थी, फटा हुआ। ब्लाऊज़ पहने थी फटा हुआ। सर नंगा था, बाल उड़ रहे थे। हाथ में सोने की चूड़ियां भी नहीं थीं।

उसने घूंघट उतार दिया था।

192 पॉकेट डी,
मयूर विहार फेज 6,
दिल्ली 110091,
मो. – 09871167515

आशुतोष

अगिन असनान

हमेशा से चुहुलगुल बहावलपुर में अब सन्नाटा था। आस्था, भय और रहस्य में लिपटी एक अजीब किस्म की खामोशी पूरे गाँव में फैली हुई थी। दिन तो जैसे तैसे कट जा रहे थे पर रातें इतनी भयावह हो रहीं थी कि जैसे सब कुछ को निगल कर ही मानेंगी। ऐसे में तीन दिन और तीन रात बीत गए, पर कुछ हो नहीं रहा था। कुछ नहीं होने से गाँव वाले और अधिक डरे हुए थे। लोरिक का पूरा परिवार फरार था, कहाँ? ये किसी को मालूम नहीं। उनके दरवाजे पर बंधी गाय भूखी-प्यासी रम्भाती रही, पर रात में किसी ने गाय का पगहा काट दिया, वो भी पता नहीं कहाँ चली गयी। अब लोरिक के परिवार के बारे में बताने वाला कोई नहीं था। वैसे गाय होती भी तो क्या बताती।

चौथे दिन एक बड़े अखबार का एक क्षेत्रीय पत्रकार बहावलपुर में पहुँचा। और पाँचवे दिन पूरे जनपद की सुबह इस खबर से हुई कि 'बहावलपुर में हुआ सती कांड।' पहली बार उस अखबार में उस क्षेत्रीय पत्रकार के नाम से कोई खबर छपी थी इसीलिए उसने उस खबर को लिखने में अपनी कलम तोड़ दी थी। कलम तोड़ना मुहावरे में नहीं है, उसने सममुच में तोड़ दी थी। खैर! खबर का सार यह था कि 'बहावलपुर के लोरिक पुत्र जियावन के बड़े बेटे मगरु की तबियत काफी दिनों से दिक् थी। घर वाले उनका दवा-दारू करा कर आजिज आ चुके थे। पर रोग ठीक नहीं हुआ। उसी रोग के कारण चार दिन पहले वे शांत हो गए। मगरु की मृत्यु से दुखी उनकी पत्नी सुनैना देवी ने सती होने की घोषणा के साथ कि अपने पति मगरु की लाश को अपने गोद में लेकर अग्नि स्नान कर लिया।

फिर क्या था, एक साथ पूरा जनपद जाग गया। कुछ आस्था में, कुछ आक्रोश में तो कुछ नौकरी की महज औपचारिकता में।

दोपहर होते-होते पूरा बहावलपुर गर्दा-गर्दा हो गया। बहावलपुर में सबसे पहले पहुँचने वालों में थाने के दारोगा और सिपाही थे। दारोगा जी केस से जुड़े हुए सभी मामलों की जाँच-पड़ताल कर चुके थे। उनकी जाँच रिपोर्ट और अखबार में छपी खबर में कहन के लहजे के अलावा कोई विशेष फर्क नहीं था। सती कांड के अपने बारह मिनट के ब्यौरे में दारोगा जी ने चौदह बार यह कहा कि 'साहिब इते पैले नम्बर हम आये ते।' बहावलपुर में सबसे पहले पहुँचने वाली बात पर दारोगा जी को इतना जोर देते देख कप्तान साहब चिढ़ गए। नौकरी होती ही ऐसी है बड़ा से बड़ा ओहदेदार अपने मातहतों को कभी किसी बात का श्रेय नहीं लेने देता। मातहत श्रेय लेने की नहीं, नाकामियों की जिम्मेदारी लेने की नौकरी करते हैं। देश की सबसे बड़ी परीक्षा पास कर पुलिस अधीक्षक बने साहब को उस दिन दारोगा ही सबसे बड़ा प्रतियोगी नजर आने लगा। कप्तान ने दारोगा को पुलिस की आवाज में घुड़का 'ये क्या लगा रखा है, सबसे पहले पहुँचे ?' दरोगा जी ऐसे ही नहीं कई वर्षों से दरोगा थे, वे तुरन्त समझ गए 'मनो आप आये, पाछे से हम पहुँचे।' कप्तान साहब अभी थोड़ा आश्वस्त होते कि कलेक्टर साहब भड़क गए 'तुम लोगों ने ये क्या ड्रामा फैला रखा है ? आयं, सारी खबर तुम्हीं लोगों की थी, मुझे तो जैसे कुछ पता ही नहीं। मैं कल रात को ही गृह सचिव साहब के साथ एक पार्टी में था, मुझे तभी पता लग गया था।' कलेक्टर साहब को रात में ही इस घटना की खबर हो गयी थी, इस बात का तो नहीं पर गृह सचिव साहब के ज़िक्र का पर्याप्त असर कप्तान साहब पर हुआ। वे लपक कर बोले 'एस एस सर! पहले आप आये और उसके तुरन्त बाद मैं पहुँचा।' दरोगा जी को लगा कि कहीं उनकी आमद की बात दब न जाय, उन्होंने अपनी उपस्थिति दर्ज करायी 'और आप के पिछारे से हम पौंचे।' सिपाहियों ने भीड़ को हटाने की गरज से डंडा फटकारा, उन लोगों ने शब्दों में तो नहीं पर डंडे की भाषा में बता दिया कि 'हमौरे सोई आये ते।'

सारे हाकिम-हुक्काम आ तो गए थे, पर एक मुश्किल यह आ रही थी कि बहावलपुर का कोई आदमी सुनैना देवी के सती होने पर कोई कुछ बोलने को तैयार नहीं था। जिससे पूछते वो खुद को मासूम और अंजान बता भीड़ में जाकर खड़ा हो जाता। आस-पास के गाँवों से ट्रैक्टर-ट्राली, जीप, बलेरो, मोटर साइकिलों से भर-भर कर लोग आते जा रहे थे। दोपहर से शाम हो गयी। पर सुनैना देवी सती कांड के बारे में सही वस्तु स्थिति का कुछ भी पता नहीं चल पा रहा था। जहाँ सुनैना देवी सती हुई थीं, उस जगह को पुलिस ने बाँस की बल्लियों से घेर दिया था। वहाँ पुलिस के दो जवान तैनात थे। किसी को भी वहाँ जाने की अनुमति नहीं थी। प्रशासन को डर था कि सती स्थान पर कोई पूजा आदि न करने लगे।भीड़ बढ़ती जा रही थी। जैसे पूरे जिले की सड़कों का रूख बहावलपुर की ओर हो गया था। सुरक्षा के मद्देनजर कलेक्टर साहब ने मुख्यालय से एक बड़ा जनरेटर मगवा लिया। मामला इतना संवेदनशील था कि दोनों अधिकारियों को बहावलपुर में ही कैम्प करने का निर्णय लेना पड़ा। साहबों का यह कार्यक्रम ए.डी.एम., एस.डी.एम. पटवारी से होते हुए पंचायत सचिव तक संक्रमित हुआ। सरकारी वाहन बहावलपुर से जिला मुख्यालय तक चीखते हुए दौड़ रहे थे। सरकारी धन के गबन में निलम्बित पंचायत सचिव के तो जैसे चार जोड़े हाथ-पैर उग आये। उसने मन ही मन सुनैना देवी सती मैया से मन्नत माँगी कि 'बहाली करा दो मैया, तुमाओ बलिदान व्यर्थ ने जान देहें।' इस तरह सुनैना देवी से माँगी गयी वह पहली मन्नत थी। वो भी एक निलम्बित सरकारी कर्मचारी द्वारा। उसने आनन-फानन में अधिकारियों के लिए दो शानदार टेंट लगवा दिए। तय हुआ कि दिशा फरागत के लिए साहब लोग सरपंच जी का शौचालय इस्तेमाल करेंगे। इतना सुनते ही सरपंच और सरपंचाइन जो खाने-धोने के अलावा कभी कोई काम अपने हाथ से नहीं करते थे, शाम से ही बाल्टी झाड़ू लेकर शौचालय चमकाने लगे। कलेक्टर और कप्तान बरसों बाद किसी गाँव में आये थे। टेंट में बैठते ही उनकी ए.सी. पालित देह त्राहि-त्राहि करने लगी। कलेक्टर-कप्तान देहों की वह आर्त पुकार मुख्यालय शहर के सबसे बड़े बिल्डर ने सुनी। आये होंगे कभी भगवान गजराज की आर्त पुकार सुनकर, पर उस दिन तो घंटे भर के भीतर शहर का नामी बिल्डर कम्पनी का कसा हुआ दो ए.सी. लेकर बहावलपुर में अवतरित हुआ। कोई और समय रहा होता तो वह हर बार की तरह अपने साथ जयकारा लगाने वालों को भी लाया होता। पर बहवलपुर की हालात में ये संभव नहीं था। कलेक्टर-कप्तान देहें ए.सी. देखते ही इठलाने लगीं। ठेकेदार की श्रद्धा पर मुदित कलेक्टर साहब ने कहा 'इसकी क्या जरूरत थी।' बिल्डर मन ही मन अधिकारियों के चरण कमलों में लोट-पोट होते हुए बोला 'कैसी बात कर रहे हैं साहब, आपका यह स्वर्ण तन...।' तब तक कप्तान साहब ने संकेत कर उसे चुप करा दिया।

बिल्डर अपनी चिचचिप भाषा में बहुत कुछ बहुत देर तक बोल सकता था, इसकी पूरी संभावना थी। क्योंकि बिल्डर-जीवन के इतिहास के कुछ हर्फ आसाराम बापू की भक्ति में रंगे हुए थे, ऐसा वो कई बार कप्तान साहब की महफिल में विलायती पेय के आचमन के बाद बता चुका था। बिल्डर के चुप होते ही कलेक्टर साहब आराम करने का संकेत कर टेंट में चले गए।

रात आधी ही गयी थी और आधी ही नीद में गए थे कलेक्टर-कप्तान कि बहावलपुर के उस नवोदित सती चौरा पर कई सारी विचित्र प्रकार की गाड़ियाँ आ धमकीं। थोड़ी ही देर में स्थिति साफ हो गयी। सती कांड को कवर करने आठ सौ सरसठ किलोमीटर दूर देश की राजधानी से चैनलों के बड़े-बड़े पत्रकार बड़ी-बड़ी ओ.वी. वैन के साथ आ धमके थे। फिर तो लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ शेष तीनों स्तम्भों को बिना पानी पिये कोसने लगा। पत्रकार सती कांड को लेकर अपने-अपने दावे कर रहे थे। बहावलपुर की वादियों में स्त्री-विमर्श, पितृसत्ता, विमेन्स वायलेंस, लार्ड विलियम बैंटिंग, राजाराम मोहन राय जैसे बिल्कुल अपरिचित शब्द गूँजने लगे। इस पूरे हो हल्ले में लोरिक और उनके परिवार की गुमशुदगी और सुनैना देवी के सती होने का सच सिरे से गायब था। बात सिर्फ इतनी थी कि बहावलपुर के सती चौरा से लाइव प्रसारण शुरू हो चुका था।

छठवें दिन की सुबह सती स्थान पर आरती-भजन के साथ हुई। प्रशासन की तमाम पहरेदारी के बावजूद किसी ने सती स्थान पर सिन्दूर, चूड़ी और श्रृंगार के अन्य सामान चढ़ा दिया था। दूसरी ओर भजन, कीर्तन और भंडारा भी शुरू हो चुका था। कुछ लोगों का मानना था कि इलेक्ट्रानिक चैनलों के लिए ऐसे कैमरा प्रिय दृश्य रचना कोई बड़ी बात नहीं थी। कुछ एक चैनल और अखबारों के पत्रकार उस घटना के तह में जाने की नाकाम कोशिश कर चुके थे। कहीं से कुछ सुराग नहीं मिल रहा था। सातवें दिन देश की संसद में बहावलपुर कांड पर विपक्षी दल की ओर से सवाल भी पूछे गए। पर वहाँ हो रहे हो हल्ले में सब कुछ ऊब डूब जा रहा था।

आठवें दिन तो बहावलपुर में दूसरे जिलों और पड़ोसी राज्यों से भी श्रद्धालु आने लगे। कलेक्टर-कप्तान ने अपनी सरकारी भाषा और लहजे में कहना शुरू कर दिया था 'जाँच चल रही है, दोषियों को किसी भी सूरत में बक्शा नहीं जायेगा। धैर्य रखिए कानून अपना काम कर रहा है।' बहावलपुर के लोग खुश थे 'सब सती मैया की कृपा है, उनके आने से ही गाँव में पहली बार कानून आया है, वह भी काम करने।'

नवें से तेरहवें दिन के बीच में बहावलपुर के मानचित्र में व्यापक परिवर्तन हुए। सती स्थान पर मेला लग गया। होटल खुल गए। एक छोटा सा सर्कस आ गया था। शहर से आये पाकेटमारों ने भी अपना काम संभाल लिया था। सती चौरा के बगल वाले खेत के मालिक ने अपना खेत प्रोजेक्टर पर फिल्म दिखाने वाले को दे दिया। किसान को किराये में लगभग तीन सालों की फसल के बराबर का धन मिल चुका था। बहावलपुर वालों को विकास का यह नया अर्थशास्त्र जंच रहा था। मंत्रियों, नेताओं और अधिकारियों के लगातार दौरे हो रहे थे। जिला प्रशासन ने जिला मुख्यालय से बहावलपुर तक पक्की सड़क बनवा दिया। गाँव में पहली बार बिजली के खम्भे गड़े और तेइस घंटे की बिजली आपूर्ति शुरू हो गयी। शहर के सबसे बड़े बिल्डर ने अपने दादा के नाम पर बहावलपुर में धर्मशाला बनवाने की न सिर्फ घोषणा की बल्कि काम भी शुरू करा दिया। बहावलपुर वालों के लिए ये सब किसी सपने के साकार होने जैसी था। वे इन सबको सती मैया का आशीर्वाद मान रहे थे।

चौदहवें दिन दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं। पहली-सरकार ने एक रिटायर्ड जज की अध्यक्षता में एक समिति बनाकर बहावलपुर की पूरी घटना की न्यायिक जाँच के आदेश दे दिए। और दूसरी, लोरिक अपनी पत्नी, दोनों बेटों-बहुओं और बेटी के साथ डरे सहमें से बहावलपुर में प्रकट हुए। टी.आर.पी. के लिहाज से दूसरी घटना पहली घटना पर भारी पड़ गयी। सती मैया के परिवार वालों के आने की खबर मिलते ही भक्तों की श्रद्धा और उत्साह चरम पर पहुँच गया। खबरिया चैनलों ने लोरिक परिवार को घेर लिया। सारे चैनल यही पूछ रहे थे कि इतने दिन तक आप लोग कहाँ थे ? सामने क्यों नहीं आ रहे थे ? पहले लोरिक परिवार कुछ घबराया किन्तु चारों ओर गूँजते जयकारे और चढ़ावे ने उन्हें रास्ता दिया, और लोरिक ने धीरे से कहा 'जो कछु भओ, ओ में सती माई की ही मंशा थी।' मझले बेटे ने जोड़ा 'हमाओ पूरा परिवार सती माता की इच्छा अनुसार एकांत में तपस्या करने गओ तो।' मझली बहू ने बताया कि 'हमें अपने देवर मगरू कीं तेरईं (श्राद्ध) भी करनी थी, येई लिए हम तेरह दिन तक गांव से दूर रहे।' एक स्त्रीवादी पत्रकार ने

मझली बहू से प्रति प्रश्न किया कि 'केवल मगरू का ही क्यों, श्राद्ध तो सुनैना देवी का भी होना चाहिए था।' इस प्रश्न पर मझली बहू अचकचा गई। उसको तुरन्त कुछ सूझ नहीं रहा था। तब उसके देवर ने पूरे भक्ति भाव से कहा 'तेरईं केवल मनुष्यों को होत है, देवताओं को नहीं। सुनैना देवी तो माता रानी थीं, ऐसी देवियाँ जन्म नहीं अवतार लेत हैं और उनको मरन नहीं होत, वे तो बस चोला बदल लेत हैं। सती माता ने अगिन असनान से पहले हमें यही बताया था, और तेरईं करने से मना करी थी।' अभी कुछ और सवाल होते तब तक भक्तों के एक जत्थे ने पूरे परिवार की आरती, पूजा करने की घोषणा कर दी।

जाँच समिति ने अपना काम प्रारम्भ कर दिया था। हजारों लोगों के बयान लिए गए। बहावलपुर के सरपंच और लगभग सभी ग्रामीणों ने अपना बयान दर्ज कराया। जाँच समिति के सदस्यों ने लोरिक उनकी पत्नी, दोनों बेटे, बहुएँ और बेटी सभी से कई-कई बार पूछ-ताछ की। लोरिक से जांच समिति के सदस्यों ने कई तरह से पूछ-ताछ की। पर लोरिक ने हर बार एक ही बयान दिया। लोरिक ही नहीं उनके पूरे परिवार ने भी एक भाषा और एक शब्दावली में बिल्कुल एक सा बयान दर्ज कराया। ''मगरू की तबियत काफी दिनों से खराब थी। सुनैना के साथ पूरे घर वाले तन मन धन से उनकी सेवा कर रहे थे। लेकिन कुछ दिन पहले सुनैना ने घर वालों को बताया कि मगरू को छूत का रोग है, इसलिए वह उनको लेकर सबसे अलग खेत पर बने घर में रहेगी। मगरू की भी यही इच्छा थी। रोगी की इच्छा जान कर लोरिक और उनके परिवार वाले भारी मन से सुनैना और मगरू के अलग रहने पर तैयार हो गए। खेत वाले घर पर जाकर मगरू धीरे-धीरे ठीक हो रहे थे। घटना के एक दिन पहले मगरू और सुनैना गाँव वाले घर पर आये थे और सबके साथ रात का खाना भी खाया था। खाने के बाद थोड़ी देर तक सबके साथ बातचीत कर मगरू और सुनैना खेत वाले घर पर चले गए। लगभग तीन से चार के बीच लोरिक लघुशंका के लिए उठे तो देखा कि खेत वाले घर की ओर कुछ हलचल हो रही है। लोरिक के मन में कुछ शंका हुई उन्होंने आनन-फानन में अपने बेटों का जगाया, और मगरू के घर की ओर चल पड़े। पीछे-पीछे घर की महिलाएँ भी आ गई। वहाँ का दृश्य देख सब सन्न रह गए। सुनैना खेत में चिता साज कर चिता के बीच में बैठी है। सुनैना की गोद में मगरू की मृत देह थी। उसके एक हाथ में मगरू का सिर और दूसरे हाथ में रखे मटके में अग्नि जल रही है। घर वाले यह दृश्य देखकर घबड़ा गए। महिलाएँ तो चीख-पुकार मचाने लगीं। सुनैना ने बताया कि 'मगरू ने तो उसको विधवा बना दिया पर वह अपने तप से मगरू का परलोक सुधारने के लिए अगिन असनान करने जा रही है।' लोरिक और उनके घर की स्त्रियाँ रोने लगीं। सबने हजार मन्नते कीं पर वह नहीं मानी। पास जाने की कोशिश करने पर वह सबको अगिन असनान कराने की धमकी देने लगी। वह केवल यही कहती रही कि 'हम अपने पति के साथ अगिन असनान करेंगे। यहीं तक हमारी इस दुनिया की यात्रा रही है। हमारा देह नहीं रहेगा पर हम रहेंगे इसी स्थान पर, इसी गाँव में। हमारे बाद इसी स्थान पर हमारा मंदिर बनवाना और हमारी पूजा करना। इससे पूरे गाँव का समय बदलेगा।' इतना कह कर सुनैना ने हाथ में लिया हुआ आग का मटका अपने सिर पर पलट लिया। किसी को कुछ सोचने-विचारने का मौका मिलता तब तक चिता भभक उठी। घटना के समय वहाँ उपस्थिति लोरिक और उनके परिवार के दूसरे सदस्य सुनैना द्वारा निर्मित दैवी वातावरण में सम्मोहित हो गए थे। सुबह होते-होते सुनैना देवी ने अपने पति की लाश के साथ अगिन असनान कर लिया था।'

गाँव के दूसरे लोग चीख-पुकार सुन कर वहाँ पहुँचे थे, तब तक चिता की आग विकराल हो चुकी थी। वह पूरी घटना जिस तरह से घटित हुई थी, उसको लेकर गाँव वालों के मन में पहले कुछ संदेह भी था, किन्तु लोरिक और उनके परिवार वालों के बयान का नाटकीय रूपान्तरण चैनलों ने इतनी बार दिखाया कि सबके मन का संदेह धुल गया। अब उस घटना के सन्दर्भ में सबके पास मीडिया द्वारा रचित रंग-बिरंगे नाटकीय दृश्य ही सबसे बड़े सच थे। गाँव वालों ने उस घटना के सन्दर्भ में जाँच समिति के समक्ष जो अपने बयान दर्ज कराये वह सब चैनलों में दिखाये गए उस नाटकीय रूपान्तरण की भाषायी प्रस्तुति मात्र थी। लोकतंत्र के चौथे स्तम्भ ने उस घटना को जिस तरह से प्रसारित किया, उसका गहरा प्रभाव लोक और तंत्र दोनों पर पड़ा। बहावलपुर वाले अपने ही गांव में घटी घटना के बारें में अब मीडिया को ही सबसे विश्वसनीय माने लगे थे। अब सती कांड के बारे में सब कुछ मीडिया से तय हो रहा था। उसका स्वर भले आलोचनात्मक था पर बहावलपुर से सीधा प्रसारण के नाम पर उसने सती कांड को इतने तरह से दिखाया कि उसका देश भर में खूब प्रचार हुआ। दीन बदलते गए, मजमा लगता

गया। मीडिया किस तरह जनरुचियों को बनाता है इसका बेजोड़ नमूना लोरिक का परिवार था। इधर के दो-एक दिनों में लोरिक के परिवार को भी यह विश्वास हो गया कि सुनैना सचमुच की सती थी और सब कुछ सती मैया की ही इच्छा से हुआ है।

वैसे तो लोरिक के घर वाले और दूसरे गाँव वालों ने बहुत सारी बातें भी बतायी थी, लेकिन जाँच समिति और सरकारी काम-काज की मर्यादा के कारण वह सब सरकारी रिकार्ड में तो नहीं, पर गाँव के प्रत्येक व्यक्ति के जुबान पर वह सब दर्ज था। मसलन कि 'जलते वक्त सुनैना देवी मुस्कुरा रहीं थीं।', 'चिता के ऊपर धुआँ गोल-गोल घूम रहा था', 'ऊपर आसमान में एक तेज रोशनी हो रही थी', 'चारों ओर से ढोल, मजीरे और शहनाई की आवाज आ रही थी', 'सब कुछ सती मैया की ही इच्छा से हुआ।' कुछ ने तो यहाँ तक कहा कि 'रोशनी से बना हुआ एक रथ ऊपर आसमान से में बहुत देर तक खड़ा था, सबका ध्यान उधर जाता तब तक वह गायब हो गया।'

जाँच समिति द्वारा तमाम बयानों, अखबारों के कतरन, चैनलों के कुछ विजुअल्स आदि सब एकत्रित किये जा रहे थे। पर सारे गवाह, सारे सबूत यही कह रहे थे कि 'सब कुछ सती मैया की इच्छा से ही हुआ है। उसमें किसी जीवित मनुष्य की कोई भूमिका नहीं है।' जाँच समिति कानून से बंधी थी। तथ्य और सबूत ही उसके नाक, कान और मुँह थे। समिति ऐसे ही किसी निष्कर्ष तक पहुँचने से पहले उस पत्रकार का बयान लेना चाहती थी, जिसने सबसे पहले इस घटना को प्रकाशित किया था। चैनलों के हो हल्ले के बीच उसने अखबार में बहावलपुर कांड से संबंधित दो और खोज रिपोर्ट प्रकाशित किया। उन दोनों खबरों में सुनैना देवी सती कांड पर कुछ बुनियादी सवाल उठाये गये थे। उन खबरों को बहुत ही कम लोगों ने पढ़ा। जिनने पढ़ा उनमें शहर का मशहूर बिल्डर भी था। जो अपने दादा के नाम पर बहावलपुर में धर्मशाला बनवा रहा था। वह उस अखबार को कभी अपने तो कभी अपने बच्चों के जन्मदिन के बहाने बड़े-बड़े शुभकामना विज्ञापन देता था। उन विज्ञापनों से अखबार को ठीक-ठाक पैसा मिलता था। बिल्डर के वे सारे विज्ञापन वह पत्रकार ही ले आता था। उसके एवज में पत्रकार को मिलने वाली कमीशन की रकम बहुत ज्यादे थी। लेकिन सती कांड को हत्या साबित करने वाली खबर पढ़ कर बिल्डर नाराज हो गया। क्योंकि बहावलपुर में उभरते धार्मिक पर्यटन का भविष्य देखकर तो उसने वहाँ इतना अधिक इन्वेस्टमेंट किया था। यदि बहावलपुर में हुए सती कांड को लेकर किसी तरह का कोई किन्तु-परन्तु का माहौल बना तो सबसे ज्यादा उस बिल्डर का नुकसान होता।

इसी के चलते बिल्डर ने अखबार के संपादक को और फिर संपादक ने अखबार के मालिक को फोन किया। दूसरे दिन पत्रकार जब दफ्तर आया, तो संपादक ने उसे उसके अब तक के कार्य का अनुभव प्रमाण-पत्र और सेलरी के हिसाब-किताब के साथ कुल सात हजार चार सौ पैंतीस रुपये का लिफाफा देकर माफी मांग ली। पत्रकार हैरान था। उसने संपादक से पूछा 'यह क्या है सर?' संपादक ने अपना सिर बिना उठाये अंगुली से ऊपर की ओर इशारा किया। पत्रकार समझ नहीं पा रहा था कि ऊपर वाला कौन मालिक, भगवान या कि वही सती मैया? वह धीरे से उठा और चुपचाप अखबार के दफ्तर से चला आया। पहली बार उसे खुद के एक पुर्जा मात्र होने का एहसास हुआ।

जाँच समिति ने पत्रकार को पूछ-ताछ के लिए हाजिर होने के लिए पत्र भेजा। नियत समय पर पत्रकार हाजिर हो गया। एक सदस्य ने पत्रकार से यह जानना चाहा कि वह इतने दिनों तक कहाँ गायब था। पत्रकार ने बताया कि वह गायब नहीं हुआ था, बल्कि वह चुपचाप इस मामले की छानबीन कर रहा था। छानबीन का नाम सुनकर समिति के सदस्य थोड़े से खीझे 'तो महान पत्रकार साहेब, क्या छान और क्या बीन कर लाये हैं आप?' उनके इस व्यंग्यात्मक लहजे से पत्रकार को थोड़ा गुस्सा आया, पर उसने संयम बरता 'छान-बीन तो आप लोग कर हैं साहेब, हम तो सिर्फ यह पता लगा रहे थे कि सच क्या है?' इस पर जज साहब झल्लाते हुए बोले 'हां तो बताइए कि सच क्या है? समिति के समक्ष पत्रकार ने जो कुछ बताया वह गुस्सा, आक्रोश, भय, संवेदना, भावुकता और तथ्यों से भरी हुई एक लम्बी कहानी थी। जिसका सारांश यह था कि 'सुनैना देवी सती नहीं हुई हैं बल्कि उनकी हत्या की गयी थी।'

बहावलपुर के लोरिक का भरा-पुरा परिवार था। परिवार के पास बारह एकड़ जमीन थी। लोरिक गाँव में महतो का दर्जा रखते थे। वे अपने माँ-बाप के एकल संतान थे। इसीलिए बच्चों के जन्म के मामले में काफी उदार रहे। उनकी पत्नी के कुल आठ बच्चों में पाँच पुत्रियाँ और तीन पुत्र थे। चार पुत्रियाँ बड़ी थीं, जो जन्म के एकाध साल में

चल बसी थीं। जब चौथी बच्ची की मृत्यु हुई तब तक लोरिक अपने अगातम को लेकर उदास हो चुके थे। उनको बार-बार यह लगता कि वे लावारिस मरेंगे, और कोई आग देने वाला भी नहीं रहेगा। तमाम देवी-देवताओं के समक्ष अरदास लगा चुके थे। पूजा-प्रार्थना के बीच उनकी पत्नी को पाँचवीं बार गर्भ ठहरा। पूरा गर्भकाल सकुशल बिताने के बाद लोरिक की पत्नी ने एक बच्चे को जन्म दिया। मंगलवार के दिन बच्चे का जन्म हुआ था इसलिए उसका नाम मंगरू रखा गया। वारिस मिलने की खुशी में लोरिक का तन-मन सब उछाह में था। उसी उछाह में उनकी पत्नी को तीन बार और गर्भ ठहरा। दो बार बेटे और तीसरी बार लड़की हुई। अब लोरिक बाहर से भीतर तक आबाद हो गए थे। धीरे-धीरे बच्चे बड़े होने लगे और उनके साथ ही बढ़ने लगा लोरिक का रुतबा भी। मगरू सबसे बड़े थे, कुल दीपक। उनका ख्याल सबसे ज्यादा रखा जाता था। लेकिन मगरू जैसे-जैसे बड़े होते गए, उनके हाव-भाव में एक भिन्न प्रकार का परिवर्तन आने लगा। घर-गाँव के लिए मगरू में आ रहा वह परिवर्तन भय और उत्सुकता का सबब बनता जा रहा था। मगरू को बाहर लड़कों के साथ खेलने में कम, घर में रहना ज्यादा अच्छा लगता था। उनकी रुचियाँ भी अपने हम उम्र लड़कों से भिन्न थीं। उनसे छोटे दोनों भाइयों की देह समय के साथ गठीला होती गयी। पर मगरू का देह-मन नाजुक और कमनीय बना रहा। घरवाले पहले तो लोगों से मगरू में हो रहे इन परिवर्तनों को छुपाते रहे। पर मन ही मन मगरू को अपने खानदान पर एक धब्बा मानने लगे थे। गाँव में मगरू अब चर्चा का विषय बन रहे थे। लोरिक के डर से कोई खुले आम कुछ नहीं कहता। किन्तु मगरू को देखकर लोगों की ईशारेबाजी लोरिक से छुपी न थी। मगरू अब गैर मर्द ही नहीं, अपने बाप-भाइयों के सामने भी असहज हो जाते थे। पर अपनी माँ के साथ उनकी खूब छनती थी। दौड़-दौड़ कर अपनी माँ के काम-काज में हाथ बटाते, पर अपने पिता और भाइयों को देख कर सहम जाते। मगरू को देखते ही लोरिक जल-भुन जाते। उनको और कुछ नहीं सूझता तो अपनी पत्नी के हाथ-पैर बाँध कर मारते।

लोगों की जुबान कब तक कोई रोक सकता है। बहावलपुर में धीरे-धीरे दबी जुबान से ही सही यह चर्चा आम हो गयी थी कि मगरू नपुसंक हैं। यह बात मगरू को कैसी लगती थी इसके ठीक-ठीक साक्ष्य नहीं मिलते, पर मगरू की नपुंसकता की चर्चा लोरिक के लिए बोझ बनती जा रही थी। पर महतो का रुतबा, सच्चाई को स्वीकारने की जगह लोरिक ने मगरू के विवाह का मन बना लिया। मगरू के विवाह करने के पीछे दो कारण थे, पहला यह कि इससे मगरू की नपुंसकता को लेकर फैला लोकोपवाद खत्म होगा और दूसरा कि औरत के संसर्ग से मगरू का सुप्त पड़ा पौरुष लहलहा उठेगा। इसी योजना के तहत लोरिक ने एक दिन बगल गाँव से अपने पुरोहित जी को बुलवाया और उनके प्रति अपना आदर निवेदित कर कहा 'मराज! हमाई इच्छा है कि, हम पन्द्रह दिनों के भीतर तुमाअे और पंडिताइन के लानें दो सेट कपड़ा, घर के लानें जरूरत के सबरे बर्तन और ऊपर से एक्कइस सौ रुपैया रख के प्रणाम करहें।' दक्षिणा की सामग्री और रकम सुनकर पंडित जी के रोम-रोम से लार चूने लगा।

पंडित जी विवाह जोड़ुआ की अपनी महान भूमिका में जुट गए। जल्दी ही उन्होंने दूर के एक गाँव की एक निर्धन किन्तु लोरिक की स्वजातीय कन्या सुनैना से मगरू का विवाह पक्का करा दिया। लोरिक नहीं चाहते थे कि विवाह के पहले सुनैना के घर वालों को मगरू की सच्चाई का पता चले। इसलिए विवाह पूर्व तक सुनैना के गाँव-घर के बारे में किसी को कुछ नहीं बताया गया। सुनैना ने अपने माता-पिता को नहीं देखा था, होश सम्भालते ही उसने अपने भइया-भाभी को ही सब कुछ माना। सुनैना के भाई भूमिहीन दिहाड़ी मजदूर थे। बहन का विवाह उनके लिए पहाड़ सरकाने जैसा था। ऐसे में लोरिक के पुत्र मगरू का विवाह प्रस्ताव उनको किसी ईश्वरीय कृपा जैसा लगा।

बहुत धूम-धाम से मगरू-सुनैना का विवाह हुआ। लोरिक ने मगरू के तन की कमी को अपने मन के उछाह से ढंक दिया। गाजा-बाजा, खाना-पीना और खातिरदारी के जोर पर मगरू-प्रसंग कुछ दिनों के लिए दब गया।

पर विवाह के तीन साल के बाद भी सुनैना और मगरू के दरमियान कुछ नया नहीं हुआ। वैसे तो मगरू की सच्चाई को सुनैना ने विवाह के पहले हफ्ते में ही जान लिया था। किन्तु औरत का धैर्य धरती की तरह होता है। सुनैना ने मगरू के पौरुष का बहुत दिनों तक इन्तजार किया। पर मगरू का मन-मेघ रह-रह कर उमड़-घुमड़ आता पर तन की अनासक्ति के कारण बिना बरसे लौट जाता। सुनैना का मन मगरू की इस पराजय से खिन्न रहने लगा था। धीरे-धीरे उसके मन की खिन्नता पहले आक्रोश और बाद में दु:ख में

बदल गयी। सुनैना अपने ससुराल में मौजूद खाने-पहनने के सुख और अपने पति के दु:ख में कैद थी। स्त्रियों के सुख अजब होते हैं और दु:ख उससे अजीब। सुनैना न तो अपने सुख को लेकर इतरा सकती थी और न अपने दु:ख को किसी से कह पा रही थी। वह समझ नहीं पा रही थी कि अपने दु:ख के बारे में किसी से कैसे कहे, और क्या कहे। वह सदेह एक आतुर पुकार बन गयी थी और मगरू पलटे हुए गवाह। सुनैना अपने साथ हुए इस धोखे से हार गयी थी। नैहर में भी भाई-भौजाई के पास उसके लिए क्या रखा था कि वहाँ चली जाती। दूसरे वहाँ जाकर कहती भी क्या? एक बार संकोच के साथ आपनी भौजाई से कुछ-कुछ इशारे में कहा भी तो, भौजाई ने यह कहते हुए बात खत्म कर दी कि 'उते कौन बात की कमी है, अच्छो खावे और पहरवे ओढवे खों तो मिलतई है।' अब इसके बाद भाई से कहने के लिए कुछ बचा ही नहीं था।

बाद के दिनों में मगरू को देखते ही सुनैना का मन घृणा और आक्रोश से भर उठता। वह मगरू की छाया से भी बचना चाहती थी। पर मगरू किसी कोने-अतरे से चुपचाप सुनैना को देखते रहते। सुनैना को अपनी सखी सहेलियों के साथ का वो हँसी-मजाक भी खूब याद आता है। सभी सखियां अपने विवाह और अपने भावी दुल्हें के बारे छुप-छुप कितनी बातें करती थीं। सुनैना ने अपनी शादी और दूल्हे के बारे में जैसा सोचा था वैसा नहीं मिला तो कोई बात नहीं पर मगरू मिले इसकी कल्पना भी सुनैना तो क्या कोई भी लड़की नहीं करना चाहेगी। आज उन सारी बातों को याद कर सुनैना रात-रात भर रोती है। जैसाकि स्त्रियों का होता है, वैसे ही सुनैना का भी रात और रूलाई से बचपन का नाता था। अब तो उसकी रूलाई में और उसकी रातों में कोई फर्क नहीं बचा था। उसकी रूलाई रात की तरह अंधेरी और गहरी होती और रातें उसकी रूलाई की तरह तन्हा और उदास। मर्द अपनी जिस प्यास के बूते पर मर्द माना जाता है, औरत अपनी उसी प्यास को जाहिर करते ही चरित्रहीन ठहरा दी जाती है। सुनैना इसी लोकलाज के डर से अपना दु:ख किसी से कह नहीं पाती। नियति, समाज और मगरू द्वारा प्रदत्त दु:ख से खुद को बरी करने के लिए वह स्वयं को घर के कार्यों में उलझाये रहती। इससे भीतर के टूट-फूट को ज़माने की नजरों से बचाये रखने का उसे सुभीता मिल जाता था।

कुछ दिन बीतते लोरिक के दोनों छोटे बेटों का भी ब्याह हुआ। सुनैना ने अपनी सास और ननद के साथ दो-दो देवरानी उतारा। पहले तो देवरानियों का बात-व्यवहार उसके प्रति ठीक था, किन्तु धीरे-धीरे वे देवरानियों की परपंरागत भूमिका में उतर आयीं। सुनैना मुँहअंधेरे उठती और सबके सोने के बाद काम से फुर्सत पाती। फुर्सत काम से पाती दु:ख से नहीं। दिन यदि बक्श देते तो उसे उदास और तन्हा रातें डस लेतीं, और रात से बचती तो उसे दिन निगल लेते।

सास-ससुर, देवर-देवरानी और ननद के लिए सुनैना लौड़ी बन गयी थी। कहीं थोड़ी सी भी चूक होने पर सास, ननद, देवरानी की गालियां सुनती। किसी को उसकी कोई परवाह नहीं थी, शिवाय मगरू के। मगरू उसे देखते और सब समझते। पर कर कुछ नहीं पाते। उन्होंने कई बार चाहा कि सुनैना को इतना काम करने और सबकी सेवा करने से बरज दें, पर..., पर सुनैना ने तो तीन बरस से अबोला ठान रखा था। जब वे सुनैना को मुक्ति नहीं दिला सके तो खुद को बाहर के कार्यों में लगा लिया। अब वे भी मुँहअंधेरे उठ कर मवेशियों के लिए दाना-पानी लाते, और मिल जाने पर कुछ कलेवा कर खेतों की ओर चले जाते। दिन भर खेतों में खटते। लोरिक के परिवार में अब सबकी मौज ही मौज थी। घर का सब कुछ सुनैना के और बाहर का सब कुछ मगरू के भरोसे चल पड़ा।

एक दिन सुनैना आँगन में बैठ कर सिल-बट्टे पर मसाला पीस रही थी कि दरवाजे पर कुछ शोर सुनाई पड़ा। बाहर आकर देखा तो मगरू को कुछ लोग चारपाई पर लिटाए चले आ रहे हैं। मगरू को इस हालत में देखकर गाँव के कई सारे लोग जुट गए। उनकी बातों से पता चला कि मगरू खेत में पड़े कराह रहे थे, उनका पूरा शरीर बुखार में तप रहा था। उधर से गुजरने वाले चरवाहों ने देखा और उठा कर ले आये। उनका शरीर चारपाई पर पड़ा काँप रहा था। मगरू को उस हालत में देखकर सुनैना का मन पता नहीं कैसा तो हो गया। मगरू को खाना-पानी उनकी माँ ही देती थीं। माँ के अलावा वे न किसी से कुछ माँगते थे और न कोई उन्हें कुछ देता था। मगरू की माँ यानी सुनैना की सास को तो अपने मायके गए दो दिन हो गए। तो क्या मगरू दो दिन से....। यह ख्याल आते ही सुनैना भीतर तक हिल गयी। उसको लग रहा था कि वह सबके सामने चोरी करते हुए रंगे हाथ पकड़ ली गयी है। मगरू की कराह से उसकी आत्मा छिल रही थी। जाने वो कौन सा आवेग था कि उसके हाथ अपने आप जुड़ते चले गए 'हे दुर्गा माई! हे माता बाई! रच्छा करिओ।'

वो सुनैना की दुख भरी पुरानी रात्रि का तीसरा पहर था, जब वह दबे पाँव सहमते हुए अपनी कोठरी से बाहर निकली। दरवाजे पर बाहर की ओर बने खपरैल के बैठक में दवा खिलाकर मगरू को सुलाया गया था। सुनैना मगरू के चारपाई के पास पहुँच तो गयी पर समझ नहीं पा रही थी कि आगे क्या करे। क्या कह मगरू को बुलाये। मगरू को सम्बोधित करने के लिए कोई संज्ञा-सर्वनाम उसका साथ नहीं दे रहे थे। उसे यह भी ध्यान आया कि तीन बरस से ऊपर हुआ उसने मगरू को पुकारा नहीं है। पल भर को उसका मन अपनी इस बेरूखी से आहत हुआ, पर तुरन्त ही वह मान कर बैठी कि इतने दिन बीते मगरू ने भी तो उसे आवाज नहीं दी। सुनैना को लग रहा था कि उसके पाँवों के नीचे कोई दलदल है और वह उसमें धंसी जा रही है। मन अपने उस प्राचीन अंधेरे में लौटने को कह रहा था तो तन मगरू की कराह से खिंचा जा रहा था। अजीब चिकने पल थे कि हर भाव फिसल कर गुम हुए जा रहे थे। उसने मन कड़ा किया। उसे अपने साथ हुए सारे छल याद आने लगे। उसमें मगरू की खामोश सहभागिता का ख्याल आते ही उसके भीतर का अंधेरा और बढ़ गया। वह बिना देरी किए उस अंधेरे का छोर पकड़ वापस अपने कोठरी की ओर मुड़ी ही थी कि मगरू ने करवट लिया और किसी सहरा में भटके बेबस राही की तरह आर्त स्वर में पुकारा 'को आये ?' पता नहीं उस आवाज में कितनी आतुरता, कितनी बेधकता और कितनी निरीहता थी कि एक झटके के साथ सुनैना पलटी और मगरू के बिलखते शब्दों को अपनी अंजुरी में संभाल लिया। औरतें होती ही ऐसी हैं कि वे चाह कर भी आतुर और निरीह आवाजों को अनसुना नहीं कर पातीं।

रात के एक परिंदे ने अपने प्रेम की खुशबू में सुवासित एक शब्द उचारा 'मगरू', तो दूसरे परिंदे ने उसे अपनी आँसुओं का अर्घ्य दिया 'सुनैना।' फिर तो गहरे आवेग वाली उस रात्रि के तीसरे पहर में जब चिरई-चुरुंग, रोगी, भोगी और योगी सब सो चुके थे, तब खपरैल के उस पुराने छाजन के तले दो परिंदे, एक अनलिखी प्रार्थना की इबारत मुकम्मल कर रहे थे।

बाद के दिनों में लोरिक के परिवार में बहुत कुछ बदल गया था। उनका मझला बेटा दो बच्चों का पिता बनने के बाद पंचायत के चुनाव में भाग्य आजमाने की फिराक में लगा रहता और छोटा बेटा एक बच्ची के जन्म के बाद लड़की होने के गम में शराब के ठेके पर बैठा रहता था। इन सबके बावजूद लोरिक के महतोपन में कहीं कुछ कमी नहीं आयी थी। घर में सबसे बड़ा बदलाव तो सुनैना में हुआ था। हमेशा गुमसुम रह कर काम में उलझी रहने वाली सुनैना अब साज-श्रृंगार करने लगी थी। रोटियां सेंकते हुए या कपड़े धोते हुए अक्सर कुछ न कुछ गुनगुनाती रहती। वह सबके सामने पूरे अधिकार पूर्वक मगरू से बात ही नहीं हँसी ठिठोली भी करने लगी थी। वह खाना बनाती तो मगरू को चौके में बैठा कर उन्हें गर्म-गर्म रोटियां सेंक कर खिलाती। सुबह के समय में वह खाना बनाती और शाम का खाना उसकी देवरानियां बनाती। पहले दोनों समय सुनैना को ही खटना पड़ता था। पर इधर कि दिनों में सुनैना ने ही खाना बनाने को लेकर यह नई व्यवस्था बना दिया था। पहले तो देवरानियों ने इस नई व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया, किन्तु मगरू ने कड़े शब्दों में कहा कि 'सुनैना तो बस भिन्सारे को कलेवा बनेहें।' देवरानियों ने पहली बार अपने जेठ को किसी मामले में इनते निष्कर्षात्मक लहजे में बोलते सुना था, सो वे कुछ अपने जेठ का लिहाज और कुछ उनकी उस आवाज के ताप से उस नई व्यवस्था को स्वीकार कर लिया। जिस दिन मगरू ने सुनैना के हक में बोला था, उस दिन सुनैना खुशी के पंख लगाए उड़ती रही। इस नई व्यवस्था के तहत सुनैना सुबह उठ कर चौका-बर्तन करती, खाना बनाती, मगरू को खिलाती, कुछ अपने खाती और कपड़े के टुकड़े में चार रोटियां अचार के साथ बाँध कर मगरू के साथ खेतों की ओर चल देती। मगरू के साथ वाले सुनैना के वे सुहाने दिन थे। मगरू और सुनैना खेतों में काम करते, खेतों में आराम करते, खेतों में बड़े बन जाते और खेतों में ही बच्चे बन खेलने लगते। सुनैना गेहूँ की बालियां बन जाती और मगरू उजास बन उन बालियों से लिपट जाते। दोनों खेतों से मुँहअंधेरे उजले हो लौटते। अब सुनैना के हिस्से में गुनगुने दिन ज्यादे थे। रातें भी थीं, पर पहले की तरह उदास और तन्हां नहीं; बल्कि महकती और बोलती हुईं।

लोरिक के दोनों छोटे बेटों ने घर के काम-काज से खुद को पूरी तरह से अलग कर लिया। मझले को अपनी नेतागिरी से और छोटे को अपनी शराबखोरी से फुर्सत नहीं थी। खेती-खलिहानी का काम मगरू और सुनैना के भरोसे पहले से बेहतर चल रहा था। इससे मगरू का आत्मविश्वास भी बढ़ता जा रहा था। अब वे घर के मुआमले में अपनी राय भी देने लगे थे। घर वाले मन मार कर उनकी बातों को सुनने भी लगे थे। धीरे-धीरे मगरू-सुनैना की अहमियत और उनके

छोटे भाइयों और उनकी पत्नियों की कुंठा बढ़ने लगी थी। इसी कुंठा में देवरानियाँ घर के बर्तन फोड़ती और पति उनका सिर। सुनैना के देवर-देवरानियों की कुंठा से उपजा कलह अब रोज की बात थी। अपनी पत्नियों को उनकी छोटी सी भी गलती पर मैली धोती की तरह कचारना लोरिक के परिवार का आनुवंशिक गुण था। इसमें कोई पीछे नहीं था। दाल में नमक कम हो जाने पर बूढ़े लोरिक कुछ कहते नहीं, अपने कांपते हाथों से पूरी गर्म दाल अपनी बुढ़िया के ऊपर फेंक देते। उनकी मर्दानगी ऐसे कई सारे अभिलेख उनकी पत्नी की बूढ़ी पीठ और पर अंकित है। आज भी। बुढ़ापे में लोरिक का शरीर उस तरह साथ नहीं देता, इसलिए वे अपने पुरुषत्व का इजहार अपनी पत्नी के मुँह पर थूक कर करते हैं। अब लोरिक का मझला और छोटा बेटा अपनी पत्नियों की देह पर पिता की ही भाषा में मर्दानगी की रोज नई कहानियाँ लिखने लगे थे। यह सब करते हुए वे खुद को लोरिक महतो की मर्दानगी के असली उत्तराधिकारी सिद्ध कर रहे थे। पर पारिवारिक उत्तराधिकार के हर मुआमले में मगरू ने तो जैसे पंक्ति भेद करने की कसम खा रखी थी। बच्चे पैदा कर नहीं सकते थे तो नहीं किया पर पत्नी को तो पीट तो सकते थे। पर नहीं, मगरू ने कभी अपनी पत्नी को अपने पिता और भाइयों की तरह पीटा नहीं; बस प्यार किया। तीन बरस के अबोले के बाद जब मगरू और सुनैना के तार जुड़े तबसे जितना प्यार और सम्मान सुनैना मगरू को देती, उसमें कुछ न कुछ मिला कर मगरू उसे लौटा देते। मगरू के उसी स्नेह की छाँव में सुनैना को यह विश्वास हो गया था कि 'मर्द वह नहीं है जो अपनी मर्दानगी से औरत की कोख हरा कर दे, बल्कि वह है जिसके प्यार और सम्मान से समूचा औरतपन अपने आप हरा हो जाय।' इसीलिए इन 'दुधो नहाई, पूतों फलीं' स्त्रियों की देह पर हाथ-लात और डंडे से अपने पौरुष की गाथा लिखते देवर सुनैना को पूरे नामर्द लगते।

उस दिन लोरिक का मझला बेटा अपने पिता के साथ किसान क्रेडिट कार्ड बनवाने बैंक गया था। मगरू गाय के दाना-पानी में जुटे हुए थे। अचानक आँगन से चीखने की आवाज आयी। सब भागे हुए घर में दाखिल हुए। वहाँ वही पुरानी कहानी नये सिरे से दुहरायी जा रही थी। लोरिक का छोटा बेटा दारू के लिए पैसा नहीं देने पर अपनी पत्नी को आँगन में घसीट-घसीट कर मार रहा था। वह बेतहाशा चिल्ला रही थी। उसकी बच्ची डरी सहमी सी कोने में खड़ी थी। जेठानी के बच्चे डर के मारे बाहर भाग गए और जेठानी चारपाई पर बैठी पैर हिला रही थी। सास-ननद छुड़ाने की असफल कोशिश कर रही थी। भावज से देह न छुआने के लोकाचार से बँधे होने के कारण मगरू दूर से ही भाई को बरज रहे थे। पर उस दिन छोटका पर जैसे भूत सवार था। उसके हाथ में जो कुछ आ रहा था, उसी से अपनी पत्नी को मार रहा था। देवरानी की आवाज बैठती जा रही थी। मगरू को जब और कुछ नहीं सूझा उन्होंने सुनैना को हांक लगाई। मगरू की आवाज सुन सुनैना भागी हुई आयी और देवर का हाथ पकड़ कर रोक दिया। देवर गुस्से से फटा जा रहा था 'तू माँयें भग भौजाई, आज हम इखों जिंदा ना छोड़ हैं।' सुनैना ने उसे डपटा 'अरे, कैसे मार दे हो, तुमाअे बाप को राज है का के जो मन में आये वो करहो?' देवर और भड़क गया 'हओ, हमाअे बापई को राज है इते, जा हमाई घरवारी आये और हम ईके मरद। सुनैना ने उसको ललकारा 'हूँ, लुगाई जनी पे हाथ चलात तोय लाज नईं आत और बड़ो आओ है मर्द बनवे।' देवर बौखला गया था 'तू का बतै हे मरद का होत, तोय तो मिलोई नईयां।' छोटे भाई से अपने बारे में ऐसा सुन कर मगरू पर तो जैसे घड़ो पानी पड़ गया। वे अपना माथा पकड़ कर वहीं भहरा कर बैठ गए। पति का ऐसा अपमान देखकर सुनैना पार्वती की तरह क्षुब्ध हो गयी। उसने सीधे हाथ से देवर का बाल पकड़ कर खिंचा और उल्टे हाथ से एक भरपूर तमाचा उसके मूँह पर जड़ दिया। सुनैना से इस प्रतिक्रिया की उम्मीद देवर तो क्या किसी को नहीं थी। गुस्से में उसने भी सुनैना पर हाथ छोड़ा पर सुनैना तो सिंहनी में बदल गयी थी। बड़ी मुश्किल से सास-ननद, जेठानी ने सुनैना को पकड़ा। सुनैना गुस्से और अपमान में चीख रही थी 'हओ, सुन ले नासमिटे, तुमाई ठठरी बंधे, नईं मिलो हमे मरद, मनों तोरे जैसे नीच मरद से हमाओ नामरद अच्छो है।' इतना सुनते ही देवर दौड़ा आया और सुनैना को पकड़ उसका सिर दीवार में टकरा दिया। सुनैना का माथा फूट गया। वह वहीं आँगन में गिर पड़ी। सुनैना की चीख सुन कर मगरू को जैसे होश आया, वे अपने छोटे भाई को पकड़ते तब तक वह कूद कर बाहर भाग गया। भाई का पीछा करना छोड़ मगरू ने सुनैना को उठाया और उसका सिर गोद में रखकर बिलख-बिलख कर रोते रहे। रोती रही सुनैना भी।

थोड़ी रात गये छोटे बेटे के अलावा लोरिक का पूरा परिवार आँगन में बैठा था। छोटा बेटा दोपहर का भागा अभी भी नहीं लौटा था। सब कुछ सुन कर लोरिक ने गम्भीर आवाज में कहा 'आन दे ऊखों, हम समझात हैं।'

'तुम समझात रहिओ, हमें हमाओ हिस्सा दे दो; हम सुनैना के संगे अलग रैहैं।' मगरू का स्वर एकदम स्थिर था। लोरिक को तो काटो खून नहीं। पहले वाले मगरू होते तो अब तक लोरिक उनको डपट कर चुप करा चुके होते किन्तु ये वाले मगरू लोरिक के बेटे ही नहीं सुनैना के पति भी हैं। इसलिए वे बेबस आवाज में बोले 'अइसों नईं सोचत बेटा, तुम हमौरों से अलग हो जेहो तो गाँव के का कैहें ? खानदान की तो नाकई कट जे है।'

'तुमाओ खानदान तो हमसें आगे बढ़ने नइयां, ईसें तुम और तुमाऐ मोड़ा रओ संगे, और बढ़ात रओ खानदान, जित्तो बढ़ाने होय।' मगरू ने तो जैसे फैसला कर लिया था।

यह सुन लोरिक मौन हो गए, लेकिन उनके मझले बेटे ने मगरू को घुड़कते हुए कहा 'जो अच्छो नईं कर रऐ बड्डे! कहे देत हैं, तुमाऐ संगे बहौत गलत हो जेहै।'

मगरू ने मझले भाई की बात को अनसुना कर लोरिक से कहा 'सोच लो दद्दा, हमाओ हिस्सा हमें दे दो, नईं तो कल हम पंचात बुलाहैं। फिर तुम बचइयो अपने खानदान की इज्जत।'

मझला बेटा कुछ कहने को हुआ किन्तु लोरिक ने उसे रोक कर हारे हुए जुआरी के स्वर में कहा 'ठीक है बेटा, जैंसी तुमाई इच्छा।'

बाद के दिनों में एक नई व्यवस्था के तहत सुनैना और मगरू खेत पर बने घर में रहने चले गए। लोरिक के तीन बेटों के बीच बारह एकड़ की खेती थी। लोरिक अपने हिस्से के चार एकड़ लेकर अलग जोतने-बोने लगे। सुनैना और लोरिक की जिंदगी के वो सबसे उर्वर दिन थे। खेत में घर था और घर में खेत था। दोनों दिन रात घर से खेत तक उमड़ते रहते। मगरू और सुनैना अपने निश्छल श्रम से सुख की नई कथा लिख रहे थे। मगरू ने खेत के एक ओर जमीन से पाँच हाथ ऊपर एक मचान बना लिया था। जो लकड़ी के चार खंभों पर चारों ओर से खुला हुआ एक ढाँचा था। वही उन दोनों का नया रिहाइश बना। चारों ओर से दरवाजे, दीवारों और छतों में कैद घर का इस्तेमाल वे खेती के औंजार, बर्तन और अनाज रखने के लिए करते थे। दिन भर खेतों में काम करते और संध्या के समय मचान के नीचे दोनों मिल कर गाकड़ पकाते, खाते और मचान के ऊपर, आसमान के नीचे एक दूसरे को ओढ़ कर सो जाते। वे दोनों अपने परिश्रम से चार एकड़ में जितना अनाज उपजा रहे थे उतना लोरिक के आठ एकड़ में कभी नहीं हो पाया। लोरिक के बेटों और उनकी पत्नियों में आपसी कलह बढ़ता जा रहा था। पुराने घर से इस नए घर पर अब कोई नहीं आता। मगरू की माँ भी नहीं। लोरिक ने उसे अपनी कसम दे रखी थी कि 'मगरू से मिलहौ तो हमाऔ मरो मुंह देख हो।' मगरू जब कभी अपनी माँ के बारे में सोच कर उदास हो जाते, तब सुनैना उनका सिर अपने गोद में लेकर उनकी माँ बन जाती। मगरू और सुनैना का सुख देखकर मगरू का पूरा परिवार जला-भूना हुआ था। लोरिक इन सबकी जड़ सुनैना को मानते कि 'उसी ने उनके गऊ समान बेटे को बागी बना दिया।' पर कर कुछ नहीं पा रहे थे। सुनैना के प्रति बदले की भावना से भरा हुआ लोरिक-परिवार उसको अपमानित कराने के लिए योजनाबद्ध ढंग से बाँझ कह कर प्रचारित करने लगा। इन वर्षों में सुनैना ने बहुत सारा छल-प्रपंच देखा-सहा था, किन्तु बाँझ वाली बात पर वह बिफर पड़ती 'कमी हममें नइयां, तुमईं खून में आहे, जा तुमौरें सोई खूब जानत हौ, और हम भी। सब कछु जानत भए हमने कबहूं मगरू में कछु कमी नईं निकारी। मनो तुमौरे हो के अपनी कमी हमाऐ माथे मुड़ रऐ। हमनें तो बस प्यार-इज्जत चाही है और कछु नहीं। हम जानत हैं कि मगरू मरद भले नइयां, मनो मानुष सबसे बड़े आयें।' मगरू मर्द भले नहीं हैं पर मनुष्य सबसे बड़े हैं, यह सुनैना की अपनी निजी कमायी थी। पर लोरिक के खून में कमी है, सुनैना की इस सार्वजनिक घोषणा से लोरिक की बूढ़ी और उनके बेटों की जवान हड्डियों का ताप बढ़ने लगा था। सुनैना तो ऐसी ही थी, एक का जवाब चार से देती। लोरिक-परिवार का मन सुनैना के प्रति खट्टा तो पहले से ही था पर उनको इस बात का दुःख सबसे ज्यादा था कि मगरू भी सुनैना का ही साथ दे रहा है। दोनों परिवारों के बीच का खट्टापन उस दिन से ज़हर में बदलने लगा, जबसे सुनैना ने अपने भाई के बच्चे को अपने पास बुला लिया। भतीजे को साथ रखने का तात्कालिक कारण तो सिर्फ इतना था कि सुनैना की भौजाई एक बार फिर पेट से थी। भाई के यहाँ खाने-पहनने की दिक्कत तो पहले से थी, ऊपर से भौजाई का चढ़े हुए दिन। इसलिए सुनैना ने मगरू को भेज भतीजे को अपने पास बुलवा लिया। भतीजे के आने के बाद सुनैना और मगरू के दिन रात थोड़े और सुहाने हो चले थे। मगरू बच्चे को जब अपने कंधे पर बैठाकर घूमते तब उन्हें देख सुनैना निहाल हो जाती और लोरिक-परिवार बेहाल।

ऐसे ही एक दिन मगरू बच्चे को कंधे पर बिठाये खेत से आ रहे थे कि सामने उनका मझला भाई पड़ गया। मझले ने गुस्से में मगरू को टोका 'काय दद्दा! सुनैनिया खों मूड़ पर चढ़ाकें जी नईं भरो, सो अब वा की भतीजे खों...।' मगरू ने पलट कर जबाब दिया 'हओ, हम एखों भी मूड़ पे चढ़ैहें, और सुनो! जोई हमाओ मोड़ा आये, हम हमाओ सब कछु एई खों देहें।' यह सुन महरू का मझला भाई सन्न रह गया। मगरू ने जो कुछ अपने भाई से कहा, उस पर न तो वे और न ही सुनैना ने कभी विचार किया था। बस उस दिन क्रोध में या यूँ ही वह सब उनके मूँह से निकल गया।

मगरू की उस बात ने लोरिक-परिवार को सकते में डाल दिया। मगरू के हिस्से में चार एकड़ की खूब लगनहार खेती थी। जो लोरिक के बाप-दादा की कमाई थी। अपनी पुस्तैनी जमीन को सुनैना के भतीजे के पास चले जाने की कल्पना मात्र से लोरिक-परिवार नफरत और हिंसा की आग में जल उठा। जमीन की भूख होती ही ऐसी है। लोग-बाग उसकी एवज में कुछ भी कुर्बान करने से नहीं हिचकते। मगरू और सुनैना की बिसात ही क्या थी। एक दिन लोरीक का छोटा बेटा शराब के नशे में खेत पर चढ़ आया। सुनैना और मगरू के सामने ही सुनैना के भतीजे को जान से मार देने की धमकी देता रहा। सुनैना भतीजे को गोद में लेकर सोयाबीन के खेतों की तरफ भाग गयी। थोड़ी देर तक वह गाली-गलौज कर वापस चला गया। उसकी बातें सुन कर सुनैना को पहली बार डर लगा। रात में मचान पर दोनों के बीच भतीजा सोया हुआ था, और वे उदास बैठे भतीजे को एकटक देख रहे थे। मगरू ने सुनैना को गुमसुम देख पूछा 'काय सुनैना, का सोचत हौ।' सुनैना ने बहुत धीरे से कहा 'चलो कल, इखों भइया के इते छोड़ आयें। दूसरे को धन; हम कबलौं रखवारी करहैं।' दूसरे ही दिन सुनैना मगरू के साथ भतीजे को लेकर अपने मायके चली गयी। जैसे ही सुनैना मायके की चौखट पर पहुँची, उसी समय भौजाई ने एक गोल-मटोल बच्ची को जन्म दिया। उसके भइया बेटी और बहन को एक साथ पाकर निहाल हुए। भतीजी को देख कर सुनैना अपना सारा दु:ख भूल गयी। उसने पूरे उत्साह से बधाई के गीत गाया और भौजाई की सेवा की। इसी राजी-खुशी में तीन दिन बीत गए। न चाहते हुए भी उन्हें वापस अपने खेतों के बीच लौटना पड़ रहा था। भाई-भौजाई ने बहुत मनुहार किया पर मगरू-सुनैना ने अगले सावन में आने का वादा कर लौट आये।

इन तीनों की गैर हाजिरी के बाद जब मगरू-सुनैना घर लौटे तब वहाँ की फिजा बदली हुई थी। लोरिक के परिवार से जुड़ा हर आदमी उन्हें बहुत ही सशंकित नजरों से देख रहा था। इन्हीं सब बातों को सोचते हुए वे दोनों मचान पर लेटे थे। बहुत सारी पुरानी बातें याद आ ही थीं। उन्हीं बातों के बीच दोनों रो रहे थे, दोनों जाग रहे थे, कि अचानक मगरू के सिर पर एक मोटा डंडा आकर लगा। मगरू उछल कर मचान से नीचे आ गिरे। सुनैना कुछ समझ पाती तब तक उसके दोनों देवर मगरू के घायल देह पर चढ़ बैठे। सुनैना मगरू को छुड़ाने के लिए लपकी किन्तु ससुर ने उसे बीच में ही पकड़ कर उसका मुँह दबा दिया। मगरू के सिर से खून बहकर उनकी आँखों में समा रहा था। जिससे अनकी आँखों के सामने का अंधेरा और अधिक गाढा हो गया था। क्रोध से बिलबिलाता हुआ मझला बोला 'काय बड्डे, लिख दऔ खेत भतीजे खों। अब हमाअे मोंड़ा-मोंड़ी का खैहैं।' छोटे भाई ने मगरू की गर्दन को डंडे से दबा रखा था। मगरू छटपटा रहे थे। उनके गले से गो..गों की आवाज निकली। मझले चीखा 'मजाल तो देखो इस पींदा की, हाँ, कै रओ है।' सुनैना लोरिक के हाथों में छटपटाती रही। उनके छोटे बेटे ने मगरू के गर्दन पर रखे डंडे को अपने पैर से दबा दिया। लोरिक के देह में हल्की सी जुम्बिश हुई, और सब कुछ ठहर सा गया। कोई कुछ समझ पाता इससे पहले लोरिक का छोटा बेटा भागते हुए अंधेरे में गुम हो गया। लोरिक और उनका मझला बेटा हक्के-बक्के रह गए। शायद यह करने की उनकी योजना नही थी। पर जो होना था, वह हो चुका था। लोरिक का मझला बेटा धीरे से उठा और उनके छोटे बेटे की तरह ही अंधेरे में गुम हो गया। दोनों बेटों को इस तरह साथ छोड़ते देख लोरिक क्रोध से उबल पड़े। उसी बीच उनके के हाथों से छूट कर सुनैना मगरू की मृत देह पर गिर पड़ी।

इसके बात की कथा ठीक-ठीक लोरिक को मालूम है। वे अपना बयान दर्ज करा चुके थे। इसके बाद की घटना को एक समकालीन कथाकार कई तरह से दर्ज कर सकता है। जैसे जब लोरिक के दोनों बेटे उनको छोड़ कर भाग गए। तब इस वारदात में खुद को फंसा देख वे घबरा गए हों। उसी घबराहट में उन्होंने हर सबूत मिटाने की गरज से सुनैना की हत्या कर दी हो। यहाँ एक सवाल यह है कि लोरिक जैसा बूढ़ा आदमी क्या सुनैना की हत्या कर सकता है? क्या सुनैना ने कोई प्रतिक्रिया नहीं की होगी? इसके बारे में कथाकार कह सकता हैं कि सुनैना मगरू की मृत देह पर गिर कर

अचेत हो गयी होगी, जिससे लोरिक ने आसानी से उसकी हत्या कर दी होगी। अगर यही हुआ होगा जैसा कथाकार कह रहा है तो इसका अर्थ है कि अचेत रहने के कारण स्वयं सुनैना भी नहीं जान पायी होगी कि उसकी हत्या किसने की है। दूसरा कथाकार इस घटना को इस रूप में भी बता सकता है कि मझले बेटे के बाद लोरिक भी वहाँ से भाग कर घर आये होगें, दोनों बेटों को खोज कर साथ लिया होगा। वापस खेत पर पहुँच कर सुनैना को सबने मिल कर मारा होगा। फिर एक साथ मिल कर दोनों की एक ही चिता पर रख जला दिया होगा। यहाँ एक और सवाल है कि यदि ऐसा हुआ होगा तो सुनैना के सती होने वाली कथा का जन्म कैसे हुआ? इस सम्बन्ध में पहले वाला कथाकार कह सकता है कि सुनैना को सती बनाने वाला आइडिया निश्चित ही लोरिक के मझले बेटे ने दिया होगा। क्योंकि चार-पाँच वर्षों से वह कई सारे नेताओं के साथ दिल्ली, भोपाल, लखनऊ आदि राजधानियों की यात्रा कर रहा है। इस बात पर दूसरा कथाकार पहले वाले से सहमत हो सकता है। क्योंकि कथाकारों का समकालीन राजनीति के सन्दर्भ में लगभग एक सा दृष्टिकोण हो सकता है। दूसरा वाला कथाकार इस प्रसंग को थोड़ा और आगे तक ले जा सकता है, जैसे कि लोरिक और उनके पुत्रों को मगरू के मृत्यु के बाद सुनैना से डर लगने लगा हो, कि वह इन लोगों के खिलाफ थाने भी जा सकती है। लोरिक के छोटे बेटे को तो पूरा विश्वास था कि, वह थाने जायेगी ही, और उसको ही नामजद करेगी। या फिर सुनैना अचेत न हुई हो, उसने खुद ही उन लोगों से कहा कि वह मगरू की लाश को लेकर जिले के कप्तान के यहाँ धरना देगी या हाइवे जाम करेगी। जितना वे लोग सुनैना को जानते थे, उस हिसाब से सुनैना वो सब करती है, जो वो कहती है। इसलिए उसकी हत्या जरूरी हो गयी हो। हत्या के बाद उसे सती कांड में बदल दिया गया होगा। सती कांड को आस्था का रंग देने के लिए सिकटार से बाजा वालों को बुला लिया गया होगा।

कथाकारों की बातें कथाकार जाने। मैं तो सिर्फ इतना जानता हूँ कि आदमी अपनी अज्ञानता में एक गलती करता है, चतुराई में उसे छिपाता है और अहंकार में उस गलती को अपराध में बदल देता है। हो सकता है कि लोरिक-परिवार ने भी इसी तरह गलती से अपराध तक का सफर पूरा किया हो। दूसरे यह कि सुनैना-लोरिक की मौत एक असामान्य घटना थी। और असामान्य घटनाओं का अंत अक्सर रहस्य, राजनीति या फिर आस्था में होता है।

पत्रकार का सच जाँच समिति के रिपोर्ट से बिल्कुल भिन्न था। चार हजार रूपए की नौकरी वाले पत्रकार का सच लाख रूपए वाले सरकारी अधिकारी के सच से बड़ा कैसे हो सकता है। जाँच समिति के सदस्यों के मुँह का स्वाद बिगड़ गया। एक सदस्य ने पत्रकार से पूछा 'आप पत्रकारिता के साथ कहानी ओहानी भी लिखते हो क्या?' पत्रकार ने प्रतिप्रश्न किया 'क्यों, आपको ऐसा क्यों लगा?' सदस्य ने कहा 'लगना क्या है, आप जिस तरह इस घटना को कहानी बना कर पेश कर रहें है, उसी से यह विचार आया।' पत्रकार ने प्रतिवाद किया 'किन्तु यह कहानी सच्ची है।' दूसरे सदस्य ने घुड़कते हुए टोका 'क्या इन्होंने यह कहा कि कहानियाँ झूठी होती हैं, कहा क्या?' पत्रकार ने सहमते हुए कहा 'नहीं।' 'तो, जितना पूछा जाय उतना ही बोलिए।' पत्रकार कुछ और कहता तब तक जज साहब ने पूछा 'ये सारी बातें आपको पता कैसे चलीं, हम इतने दिनों से जाँच कर रहे हैं, हमें तो ये सारी बातें यहाँ किसी ने नहीं बताया।' पत्रकार ने सफाई दी 'ये सारी बातें मुझे सुनैना देवी की भाभी ने बताया, वो यहाँ नहीं सुनैना देवी के मायके में रहती हैं, उन्हीं का बच्चा सुनैना के पास रहता था। पर लोरिक और उनके बेटे की नियति देख कर सुनैना को अपनी या भतीजे की हत्या की आशंका हो गयी थी। इसीलिए वे भतीजे को जब अपने मायको पहुँचाने गयी थीं, तब ये सब उन्होने अपनी भाभी से बताया था।'

थोड़ी देर की चुप्पी के बाद जज साहब ने पूछा 'चलो मान लेते हैं कि जो कुछ आप कह रहे हैं वो सब सच है, पर इससे यह कैसे साबित होता है कि मगरू और सुनैना की हत्या हुई थी, सुनैना स्वयं सती नहीं हुई थी। कोई सबूत कोई गवाह हैं आप के पास?' पत्रकार ने थोड़ी देर सोचा और कहा 'आप चाहें तो बशरूदीन, लियाकत, रमई और झड़ेला से पूछ सकते हैं।' एक अन्य सदस्य ने टोका 'अब ये सब कौन हैं?' 'ये बगल के गांव के लोग हैं जो चिता जलाने के समय बाजा बजा रहे थे।' 'बाजा बजा रहे थे,' जज साहब ने आश्चर्य व्यक्त किया। फिर कुछ सोचते हुए उन्होंने पत्रकार को विदा कर बशरूदीन, लियाकत, रमई और झड़ेला को हाजिर करने का हुक्म दिया।

बशरूदीन, लियाकत, रमई और झड़ेला बहावलपुर के पड़ोसी गाँव सिकटार में रहते थे। वैसे तो सिकटार के मूल निवासी बशरूदीन और झड़ेला ही थे। रमई और लियाकत बहुत पहले छिन्दवाड़ा एक कार्यक्रम में मिले थे। बशरूदीन

और झड़ेला बैंड लेकर छिन्दवाड़ा गए थे। लियाकत और रमई बारात में रोड लाइट लेकर चल रहे थे। दूसरे दिन सुबह बारात की विदाई के समय रात की रोशनी के स्रोत बने लियाकत और रमई, बशरूदीन के पास आये और उनके साथ चलने का आग्रह करने लगे। वे दोनों खानाबदोश थे। जब जैसा काम मिलता उसी से अपना जीवन चला रहे थे। कभी स्टेशन पर तो कभी किसी पुलिया में सोकर रात बिता लेते। उस रात बशरूदीन और झड़ेला का करतब देख इन दोनों ने अपना भविष्य तय कर लिया था। अपने घर परिवार के बारे में न उन दोनों ने बताया और न ही किसी ने पूछा कि वे रहने वाले कहाँ के हैं ? फिर तो वापसी के समय सिकटार में दो जन और लौटे थे। सिकटार में बशरूदीन की एक टूटी-फूटी झोपड़ी थी, पत्नी काफी पहले गुजर गयी थी। दूसरी शादी नहीं की, बैंड को ही अपनी जीवन संगिनी बना लिया था। रमई और लियाकत का भी बशरूदीन की झोपड़ी में गृह प्रवेश हो गया। झड़ेला परिवार वाले थे किन्तु उनका परिवार उनकी लुगाई रामदेई से ही शुरू और रामदेई पर ही खत्म होता था। बाल-बच्चे नहीं हुए। ढोल-मजीरे को ही अपनी औलाद की तरह स्नेह करते रहे। कुछ दिनों के संगत के बाद रमई और लियाकत भी बजाने में पक्के हो गए। अपने समय में इन चारों ने खूब बैंड बजाया और खूब नाम कमाया।

लोग बताते हैं कि बशरूदीन, झड़ेला, लियाकत और रमई एक समय था जब इनके बैंड की बड़ी प्रतिष्ठा थी। पर समय की मार इनकी कला पर तो नहीं इनके बैंड पर खूब पड़ी। समय के साथ लोगों के मनोरंजन के मजहब बदलने लगे थे। अब डी.जे. पर तूफानी फिल्मी गानों पर कमरतोड़ नृत्य करती अधनंगी लड़कियाँ सबको भाने लगी थीं। धीरे-धीरे बशरूदीन के बैंड को काम मिलना बंद हो गया। उनके बैंड के दूसरे साथी भुखमरी से बचने के लिए लुधियाना, पंजाब, दिल्ली आदि शहरों में जाकर मजदूर बन गए। बशरूदीन, लियाकत, रमई और झड़ेला कहाँ जाते। ये चारों भूमिहीन थे। इनके पास न तो बी.पी.एल कार्ड बनवाने की संसारिक सामर्थ्य थी और न ही कहीं बाहर जाने का किराया। इसलिए ये गाँव में रहकर कभी मिल जाने पर मजदूरी आदि कर अपना जीवन चलाते रहे। एक बात इनमें खास थी। वह यह कि ये चारों जब भी खाली रहते गाँव के बाहर वाले तालाब के किनारे बैठ कर अपने टूटे-फूटे बाजों के साथ रियाज करते रहते। शादी-ब्याह जैसे मांगलिक अवसरों पर इनकी की कोई उपयोगिता नहीं थी, बस अब कभी-कभी कोई इन्हें गमी में बाजा बजाने के लिए बुला लेता था। इसमें भी वे लोग खुश थे। ऐसे में कोई इनके पुराने दिनों की याद दिलाता तो ये कहते 'बहौत ब्याओ करा लऐ मालक! अब गमी में बजा रये हैं, ब्याओ हो या गमी, हमें तो बस बाजो बजाने हैं।'

स्थानीय पुलिस ने फौरन से पेश्तर बशरूदीन, लियाकत, रमई और झड़ेला को जज साहब के सामने हाजिर कर दिया। इन कलाकारों की उम्र पैंतालीस से पचास के बीच की थी। पर ये अपनी उम्र से दस-पन्द्रह साल ज्यादे दिख रहे थे। पहली बार इतने बड़े साहब को सामने आकर वे लोग भय से दुहरे हुए जा रहे थे।

जज साहब ने पूछा 'तुममें सरगना कौन है।'

बशरूदीन ने कहा 'हम कलाकार हैं मालक, कोऊ राज-पाठ को काम हम नई जानत, हमौरों में सरगना कोई नई होत। जौन खों जो कला आवत है, ओयी ओमें आगे रेत है।'

'अच्छा ठीक है, तुम लोगों का नाम क्या है, और कौन सा बाजा बजाते हो ?' जज साहब ने प्रश्न किया। एक सदस्य ने उन्हे हिदायत दी 'एक-एक कर बताना।'

सबसे पहले लियाकत ने जबाब दिया 'हमाओ नाम लियाकत है, हम मृदंगिया आयें।'

'हम झड़ेला डोम हैं साब, हम अलगोजा खूबई बजा लेत हैं।'

'रमई हुजूर! ऊँसें तो हम नगड़िया बजात हैं, मनो सेनाई बजावे में खूब मजा आत है।'

आखिर में बशरूदीन ने अपना परिचय दिया 'हम बशरूदीन आयें मालक!, हम झूला और मजीरा बजात हैं।

जज साहब को संदेह हुआ 'क्या ये सब वाद्य-यंत्रों के नाम हैं ?'

झड़ेला बोले 'नई साब, जे बाजे आयें।'

जज : 'मैंने तो कभी इनका नाम नहीं सुना ?'

बशरूदीन ने कारण बताया 'सुन हो कैसे साब, आप तो जूड़े कोठा में रेत हो, जे सब हमाये गाँव देहात के बाजे आयें। जे इतईं मिलत हैं।'

जज ने समिति के एक सदस्य से पूछा 'जूड़े कोठा ?'

सदस्य ने जज साहब को बताया 'जूड़े कोठा मिन्स ए.सी. कूल्ड रूम'

जज : 'ओ एस।'

जज साहब ने आगे पूछा 'तुम लोग लोरिक को जानते हो ?'

बशरूदीन ने बताया 'हओ साब ! इतईं बहौलपुर के आयें, जौन की बहू अभईं सती भईं।'

सदस्य ने डांटा 'जितना पूछा जाय, उतना ही बताओ।'

'गलती हो गई मालक! माफी दे दो।' लियाकत मियां बोले।

जज साहब ने आगे पूछा 'तुम लोग उस दिन कहां थे, ?'

रमई ने कहा 'हमौरें तो उतईं बाजे बजा रए ते।'

दूसरे सदस्य ने पूछा 'वहां तुम लोगों ने क्या-क्या देखा ?'

बशरूदीन ने बताया कि 'साब हमौरें हते तो उतईं, मनो मुतके दिनों में बाजे बजावे को मौका मिलो तो, एई सें हमौरों को धियान बाजों की धुन में हतो। सांची कएँ तो हमौरों ने इत्तोई देखों की चिता श्रृंगारी गयी और बा में मगरू और वा की घरवारी सुनैना की लाश खों लिटा के दाग दौ गओ तो। हमौरें मरघटा पे दूर खों बैठे 'वैष्णव जन जेते कहिए, पीर पराई जान रे' की धुन निकार रये ते।'

कुछ देर तक वहां खामोशी फैली रही। फिर कुछ सोचते हुए जज साहब ने बशरूदीन, रमई, झड़ेला और लियाकत को जाने की अनुमति दे दी, पर इस हिदायत के साथ कि वे लोग अपना गाँव छोड़कर कहीं नहीं जायेंगे।

सुनैना देवी सती कांड में पत्रकार के सच ने संदेह उत्पन्न कर दिया था। दूसरे बशरूदीन, नौबत और लियाकत ने अपने बयान में कहा कि चिता सजाने के बाद मगरू और सुनैना की लाश का चिता में लिटाया गया। जबकि लोरिक परिवार और दूसरे बहावलपुर वाले कह रहे थे कि मगरू की मृत्यु के बाद सुनैना देवी ने अपने सती होने की घोषणा की और पति की लाश को गोद में लेकर अगिन असनान कर लिया। बहुत उम्मीद से जांच समिति ने सुनैना के भाभी को बुला कर उसका भी बयान दर्ज कराया। पर पता नहीं वह डर गयी कि किसी ने उसको कुछ समझा दिया था कि वह उस पत्रकार को ही पहचानने से मुकर गयी। सुनैना देवी के मायके की ओर से भी लोरिक-परिवार के प्रति कोई शिकायत नहीं दर्ज करायी गयी थी। इस पूरे घटनाक्रम में अपराध भी था सुनैना देवी की हत्या, मोटिफ भी था मगरू-सुनैना की जमीन का लालच, पर सबूत कुछ भी नहीं था। किन्तु न्याय होते तो दिखना ही चाहिए। इसी गरज से जांच समिति ने रिपोर्ट पेश कर दी।

सुनैना देवी सती कांड के ठीक पन्द्रहवें दिन की बहुत सुबह बशरूदीन, रमई, झड़ेला और लियाकत गाँव के बाहर तालाब के किनारे बैठकर अपने-अपने साज के साथ रियाज कर रहे थे। ये उनका रोज का कार्यक्रम था। उनके लिए सारे दिन एक समान थे, उदास, बेरंग और बेजान। हवा में हल्की सी ठंड थी। गांव अभी ठीक से जगा नहीं था। ये चारों कलाकार गांधी जी का प्रिय भजन, जो अब उनकी जीविका का बचा-खुचा साधन था, 'वैष्णव जन जेते कहिए, पीर पराई जान रे' बजा रहे थे।

उस सुबह आखिरी बार वे चारों गाँधी जी के प्रिय भजन के साथ सिकटार में देखे गए थे।

घटना के सोलहवें दिन तक आते-आते सती स्थान एक सिद्ध पीठ में बदल चुका था। हजार से ज्यादा लोग रोज दर्शन कर रहे थे। लोरिक उस पीठ के महंत बन गए थे। वे अब सचमुच के भक्त हो गए थे। जन आस्था, व्यावसायिक आवश्यकता और मीडिया के प्रभाव वश वे घंटो सती स्थान के समक्ष साष्टांग पड़े रहते। उसी भक्ति के सहारे उन्होंने खुद को माफ कर दिया था और यह मान लिया था कि उन्होंने जो कुछ किया-कराया, वो सब सती मइया की लीला थी। वे तो बस उसकी लीला के निमित्त मात्र थे। सुनैना सचमुच की सती थी, जो कुछ हुआ वह सब सती मइया की इच्छा से ही हुआ। उनके परिवार के अन्य लोग यथायोग्य उसी पीठ से जुड़े गए थे। सिद्ध पीठ के कोठार का देख रेख सुनैना के भाई-भाभी के पास था।

बहावलपुर एक तीर्थ में और बहावलपुर की प्रत्येक चीज बिक्रय की वस्तु में बदल गयी थी। निलम्बित पंचायत

सचिव को उस पर लगे गबन के सारे आरोपों से मुक्त कर बहाल कर दिया गया था। अखबार के बाहर के बेरोजगार दिनों में पत्रकार को नौकरी में बने रहने का महान ज्ञान प्राप्त हो चुका था। अब वह इस कोशिश में था कि अखबार किसी तरह उसको एक मौका दे दे तो वह उस सती सिद्ध पीठ के बारे में एक शानदार झूठ लिखेगा।

सुनैना देवी सती कांड के ठीक अठरहवें दिन की सुबह से ही अखबारों, चैनलों में हंगामा मचा हुआ था कि 'अब तक का सबसे बड़ा खुलासा।', 'सुनैना देवी सती कांड की जांच रिपोर्ट पेश।', 'सती हुईं थी सुनैना देवी।', 'सुनैना देवी को अगिन असनान के लिए प्रेरित करने और घटना के समय बाजा बजा कर उनको उत्साहित करने वाले चार लोग गिरफ्तार। 'मौके से वारदात में इस्तेमाल बैंडबाजा बरामद।', 'आरोपियों को ताज़िराते हिन्द की धारा 107, 299, 300, 305, 307, 308 के तहत जेल भेज दिया गया।'

उस गिरफ्तारी और आज के बीच बहुत लम्बा समय गुजर चुका है। सिकटार में बाजा बजाना तो दूर, अब कोई किसी बाजा का नाम तक नहीं लेता। तब से आज तक बेगुनाहों की गिरफ्तारी का सिलसिला जारी है। गिरफ्तार लोगों के बारे में बोलने-सोचने पर भी एक अघोषित-अदृश्य पहरा है। बहुत दिन हो गए बेगुनाही के पक्ष में कोई बयान दर्ज नहीं हुआ है।

हाँ, कुछ दिन पहले एक बुढ़िया के बारे में सुना था, जो सिकटार के आस-पास घूम-घूम कर लोगों से पूछती रहती थी 'काय मालक, 'वैष्णव जन....' गावे बारो हमाओ डोकरा कबे आ है।'

हिंदी विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर-470003 (म.प्र.)
मो. 09479398591

किरन सिंह

पता

वह सहमा हुआ सा आता। मुझसे कहता कि मेरी मामूली सी लगने वाली हरकतें भी गौरतलब हैं। वह मुझे सुनता है और मेरी बातों के पीछे के मनोविज्ञान को बता सकता है। कभी वह कहता– ''तुम कहीं अधिकारी बन जाना तो मुझे अपने साथ छोटे–मोटे काम के लिए रख लेना।'' मैं बहुत संकोच में पड़ जाता था। धीरे–धीरे मैं उसे अपने साथ ले कर चलने लगा। वह साथ रहता तो मैं खुद को सुरक्षित और सम्मानित महसूस करता। कुछ महीनों बाद वह अक्सर चोटिल हो कर आने लगा। बहुत पूछने पर मुँह खोलता कि कॉलेज के वे लड़के जो मेरे नोट्स पढ़ कर पास होते हैं वे ही पीठ पीछे मेरा मजाक उड़ाते हैं, वह यह सहन नहीं कर सकता, उनसे भिड़ जाता है।

मैंने तय किया कि कॉलेज के बाकी लड़कों से बस दुआ–सलाम का नाता रखूँगा। मैं अपने पढ़ने के समय से समय निकाल कर उसे पढ़ाने लगा। बी.ए. का पहला और दूसरा साल बीत गया। हम दोनों बराबर हो रहे थे और मुझे अच्छा लग रहा था। गर्मी की छुट्टियों के बाद कॉलेज खुला था। मैं बोर्ड पर चस्पाँ एक नोटिस ध्यान से पढ़ रहा था। लिखा था कि इस अंतिम वर्ष में जो कॉलेज टॉप करेगा उस एक छात्र को सबसे अच्छा पैकेज देने वाली कम्पनी ले जाएगी। तभी उसने मेरे कंधे पर हाथ रखा और कहा– ''प्रतिभाशाली लोगों का जन्म बड़े काम करने के लिए होता है।'' शाम तक लाइब्रेरी से निकलवा कर उसने दुनिया को बदल कर रख देने वाली किताबें मुझे दीं।

मैं पिछली बेंच पर बैठ कर उन किताबों को पढ़ने और सोचने में मुब्तिला रहने लगा। उसने मेरे नोट्स सँभालने के लिए रखे और कहा–''अच्छे धावक अन्तिम चक्कर में गति पकड़ते हैं और जीत जाते हैं। तुम कोर्स की किताबें, इम्तहान से दो महीना पहले उठाओ, तो भी ठीक है।''

इम्तहान से दो महीना पहले मैं अपने इस दोस्त से भी कटा–कटा सा रहने लगा।

और वह रात...वह बी.ए. अंतिम वर्श की परीक्षा शुरू होने की पूर्व–रात थी। मुझसे अर्थशास्त्र की सैद्धांतिकी याद ही नहीं हो रही थी। मेरा दिमाग रट रहा था–''मर गया देश, अरे जीवित रह गए तुम!!'' दिल में बसी बूढ़ी विधवा माँ की सूरत मेरी राह का बाधा बन रही थी। मैंने जर्नल में पेपर छपने से मिले पैसे गिने। अपने कमरे का चम्मच तक बेचा। सब जोड़ कर माँ को मनीआर्डर भेजा। एक चिट्ठी लिखी– ''माँ, मेरा इंतजार मत करना। माँ से बढ़ कर मातृभूमि!'' और उस जगह रह कर काम करने के लिए निकल गया जहाँ का पता किसी को नहीं बताना था।

बस्तर के जंगल से 'मुक्ति मोर्चा' के मुखिया राहिला का जवाब आ चुका था–''आ जाओ। यहाँ जरूरत है।''

''तुम क्या काम ठीक से अंजाम दे सकते हो ?'' राहिला मुझसे पूछ रहा था।

''दोस्ती''
''बच्चों से करोगे ?''
''हाँ!''

मैं दिन में बच्चों को पढ़ाता। चाँदनी रात में तेजी से साइकिल की पैडल मारते हुए जंगल में फेरी देता, लापता साथियों को ढूढ़ने कँटीली झाड़ियों में जाता, जंगल सीमांत पर पुरानी बारूदी सुरंगे हटाते और नई बिछाते हुए, आठ साल बीत चले थे। इन आठ सालों में बूढ़ी माँ मर चुकी थी। 'यह तो एक दिन होना ही था। कौन अमर है।' मैं एक दिन भर बांस–वन में बैठा अपने को समझाता रहा। अगले ही दिन उठ खड़ा हुआ।

बीच–बीच में इस तरह की खबर यह मिलती रही कि मेरे कॉलेज का वह दोस्त अजित, जो अब सबसे अच्छा पैकेज देने वाली कम्पनी में अधिकारी है, उन दिनों में मेरी प्रशंसिका रही गजाला अमीन को लेकर मुझे ढूढ़ता रहता है। और आजकल आस–पास के किसी गेस्ट हाउस में ठहरा है। खोजने में कोई कमी तो छावनी वाले भी नहीं रखते हैं। सुना है आज फिर दबिश के लिए निकलने वाले हैं। मैं उनके लिए सबसे बड़ा खतरा जो बनता जा रहा हूँ। जंगल के बाशिन्दे मुझे दिलो जान से चाहते हैं। मैं राहिला का दाहिना हाथ हूँ। मैंने अपने संगठन 'मुक्ति मोर्चा' का विस्तार किया है। सभी साथियों का मैंने इतना भरोसा जीत लिया है कि वे संगठन में चुनाव कराने और मुझे मुखिया बनाने की माँग कर रहे हैं। राहिला, साथियों की इस जागरूकता पर खुश है। वह नए हाथों में संगठन का जिम्मा सौंप कर स्वयं दूसरे इलाकों में विस्तार के लिए जाना चाह रहा है। इसी सिलसिले में बात करने के लिए उसने मुझे अभी बुलाया है– अकेले, सावधानी इतनी कि यहाँ आने के बारे में किसी को बताना नहीं है, सूने बांस–वन में, नए इलाकों की पहचान से जुड़ी अति संवेदनशील मंत्रणा के लिए।

आसमान से गिरते पत्थर बराबर ओले, मेरी रीढ़ की हड्डी पर चोट कर रहे थे। मैं अपनी ताकत भर दाँत पर दाँत बैठाए हुए था। तब भी मुँह खुल जा रहा था और चीख निकली चली जा रही थी। चीखते ही हड्डी झनझना जाती। रीढ़ में करैत के डँसते हुए चढ़ने जैसा दर्द लहर जाता। तेज हवा, क्रेशर मशीन की तरह चल रही थी। अपनी धड़कन से मैं बहरा हो रहा था।

हथेली खिसकाता हुआ मैं आँख के पास ले गया। धुली हुई उँगलियों से एक आँख किसी तरह फैला सका। रात सुर्ख काली है! चारों तरफ बदबू भी। मैं थोड़ा भी हिलता तो धँसने लगता। इसलिए चुपचाप पड़ा रहा। सोचने के सिवाय इस समय कुछ नहीं किया जा सकता था।

क्या हुआ था ? मैं इस हालत में कैसे हूँ ? कहाँ हूँ ? बहुत जोर डालने पर दिमाग में अनगिनत बूट चरमर बजने लगे...सूखी पत्तियाँ दब रही थीं...मैं घिर गया हूँ...वे बूट से, बट से मुझे कुचल रहे थे...मुझे पेट के बल लिटा कर मेरी पीठ...गर्दन पर उछल रहे हैं...दूसरे स्टेट में ले जाओ...पानी में नहीं फेंकना न जमीन में गाड़ना...इसके संगठन वाले खोज निकालेंगे...ह्यूमन राइट वाले बवाल करेंगे...इस कचरे को वहाँ फेंकना जहाँ मलबा फेंका जाता है...दो ट्राली मलबा ऊपर से डाल के दबा देना...हड्डियाँ कीड़े खा जाएँगे...डीएनए तक नहीं हो पाएगा। सावधान! आज रात से इनका लीडर था...कहीं कोई सुराग न मिले... इस एक की जगह बीस खड़े हो जाएँगे।

मेरी अकुलाहट बढ़ गई। मैं उन आवाजों से बाहर निकल आया। और अपनी पूरी इच्छा शक्ति से किसी अनजान का इंतजार करने लगा। कोई सहृदय इधर से गुजरे।

'फेंको...खींचो!' मेरी चेतना लौटी तो कई बच्चे हँसते हुए ऐसा ही कुछ चिल्ला रहे थे। उम्मीद के जगते ही, ध्यान के बँटते ही, मेरा दर्द घटने लगा। ये बच्चे, आँधी–पानी में बाहर कैसे हैं ? इतनी अँधेरी रात में मैं इन्हें दिखाई दे गया!

वे शायद मछली फँसाने वाला कांटा मेरी ओर फेंके हैं। मेरी बुश्शर्ट में कांटा उलझ गया। वे मुझे खींच रहे हैं। डोरी कट् से टूट गई। अब उन्होंने मजबूत लकड़ी, मेरी बुर्ट में नीचे से डाल कर कॉलर के पास निकाला है। लकड़ी के दोनों सिरों को पकड़ कर मुझे झटके से बाहर निकाल लिया। भयानक दर्द के बावजूद मैं चीख नहीं रहा था। ये बच्चे डर गए तो कहीं मुझे छोड़-पटक कर चल न दें।

जमीन पर पेट के बल लेटे हुए मैंने लंबी साँस ली। मेरी नाक के पास कीचड़ के बुलबुले उठने की आवाज हुई। वे ताली बजा कर उछल रहे हैं। मेरे शान्त हो जाने पर वे चुप हो गए। 'हे...ओ!' जाँचने के लिए उन्होंने मेरे बाल खींचे। मैं गुर्राया, नाक के पास का कीचड़ बूँद-बूँद फिर उड़ा। अब यह उनका खेल बनता जा रहा था। तभी-

''छोड़ो, हटो!'' एक औरत बोली। मुझे भान हुआ कि आवाज, मिजाज का थर्मामीटर होता है। स्त्री की आवाज में दीनता से पैदा हुई कर्कशता थी।

ये लोग कछवाहे हैं क्या? चोरों की वह घुमक्कड़ जाति, जिन्हें खास तरह की जड़ी-बूटियों की जानकारी रहती है। जिसे खाते रहने से इनके बच्चों तक को रात में उल्लू जितना साफ दिखाई देता है। बस्तर के जंगलों में इनके दौरे की जानकारी हमें मिली थी। वहाँ ये जड़ी-बूटियाँ... ''हटो, देखने दो!'' ऐसा कहते हुए मेरी तरफ बढ़ती उस स्त्री के तलवे लम्बे और चपटे थे। वह एक निश्चित अन्तराल के बाद, जितनी देर में मैं एक दो तीन तक गिन सकूँ, एक डग भर रही थी। उसने मेरा मुआइना किया होगा। वह रीढ़ की हड्डी पर गीली मिट्टी छाप रही है। मिट्टी पर छोटी डंडिया फिर चौड़े पत्ते रख कर बरगद की जड़ से बाँध रही है। एक घनी पत्तेदार शाख पर मुझे लिटा दिया और शाख खींचती हुई कहीं ले चल रही है। मेरे अगल-बगल ताली बजा कर दौड़ते हुए चलने वाले बच्चे हैं।

उसने मुझे एक बोरी की तरह किसी दीवार से टिका कर बैठा दिया। एक बच्चे को मेरी ओर ढकेला। उस बच्चे का कपड़ा मेरे कंधे से छू रहा था। यह फ्राक की घेर है। मेरी कमर और दीवार के बीच बहुत जगह छूटी थी और मैं पीछे खिसकना चाह रहा था। दीवार पर हाथ रखा, शायद लखौरी ईंटें थीं, मुगलों के समय की। मैं पीछे नहीं जा सका, मेरे हाथों में अपना बदन खींचने की ताकत नहीं बची थी।

बिजली कड़की लेकिन चमकी नहीं। दीवार से आधा-तियाँ टिका मेरा सिर कभी बाएँ, कभी दाएँ घूम जा रहा था। तेज हवा मुझे तडातड़ झपड़िया रही थी। भीगे पत्ते भँवर बनाते हुए उठ-गिर रहे थे। दीवार के पीछे चिंचियाती आवाजें आ रही थीं। उन आवाजों से मेरे दिमाग में जाली में ठुँसी मुर्गियों का चित्र बन रहा था। जो जानती हैं कि मरना है, फिर भी चिकवे के हाथ से बचने के लिए एक कोने से दूसरे कोने भागती हुई चिंचियाती, फड़फड़ाती हैं-

''सिर फूटने से बचाओ। बरसाती दबाने वास्ते जो ईंटे रखी थीं...गिर रही हैं।''

''सिर पर पतीली...थाली कुछ भी रखो। लरिको-बच्चों को खींचो, पेट में दबा के झुक जाओ उन पर...''

''बाहर भागो सब लोग!''

''तखत के नीचे घुसो।''

''सारा सामान बोरे में भरो...सब उड़ा जा रहा है।''

''कोई के पास खाली बोरा बचा...नहीं मिलेगा...अच्छा हम अपना सामान बटोर कर उस पर बैठ गए हैं...बाहर कैसे भागें।''

''अरे वो जो पेड़ पर चढ़ के ओल्हा-पाती खेलता है क्या नाम...सनी...हाँ उसे चढ़ाओ, बरसाती पर कई-कई ईंटे रख दे...सब गृहस्थी बह गई!''

''अरे! सनी फिसल रहा है...सनी गिर गया...दीवारों पर काई है।''

''मेरे कंधे पर ईंट गिरी...मुझे चोट काहे नहीं लगी...ठंड से मेरा कंधा सुन्न हो गया..!''

एक औरत लगातार पानी हींड़ रही है...हिलक कर रो रही है...अब बहते पानी को हथेलियों में उठा कर धार गिरा रही है। आटे की सुगन्ध हवा में है। आटा नहीं, सारा प्राण बहा जा रहा हो।

मेरे पास बैठी लड़की मेरी कमर और दीवार के बीच की बची जगह में घुस गई। शायद वह समझती है कि सामने पड़ गई तो अम्मा उसे बेवजह मारने लगेगी।

वह चपटे और लम्बे तलवों वाली स्त्री इधर आ रही है। मेरे बगल आकर वह लड़खड़ाई है। गिरने से बचने के लिए मेरे कंधे का सहारा लिया। उसके बदन से आटा महक

रहा है। कीचड़ में पाँव रगड़ कर चलती एक बेतरतीब आवाज दूर जा रही है।

मेरे कंधे पर उसके आटा लगी हथेली की छाप पड़ चुकी होगी।

बारह–चौदह जोड़े पाँव होंगे, पानी काटते हुए वे मेरे बगल से गुजर रहे थे। वे मुझ पर जो कुछ फेंकते–ढकेलते जा रहे थे। उन्हें टटोलने पर पता चला कि वे एक...दो...तीन...सात, एक मेरी कमर के पीछे की, आठ बच्चे हैं। मैंने उन्हें अपने में समेटते हुए पूछा–

''सब कहाँ गए ? सूरज कब निकलेगा ?''

अर्राता हुआ एक बड़ा पेड़ गिर रहा था।

''क्या उस पेड़ की कीमती लकड़ी दीमकों ने खाकर खोखल में अपनी टट्टी–मिट्टी भर दी है ?''

''हाँ!''

''सूरज कब निकलेगा...तुम सब एक साथ मुझ पर निगाह गड़ाए हो...तुम्हें अँधेरे में दिखता है! उस पेड़ की जड़ में बसी चींटियाँ मेरे सिर में चढ़ रही हैं...देखो!'' मैं सिर झटक रहा था जिसमें से बूँदें उड़ रही होंगी।

वह लड़की थी। समझ गई कि मैं पागल हो रहा हूँ। मेरे पीछे से निकली। अपनी सात–आठ साल की हथेलियों से मेरी आँखें खोल कर कहा–''ये देखो, दिन है। बादल वाला दिन। तुम्हारे आँख नहीं है क्या ?''

मैं सन्न रह गया। जरा ही देर बाद मैंने अपने को समझाना शुरू कर दिया–''मुझ एक अकेले को घेरने के लिए बटालियन के कितने लोगों को कूच करना पड़ा था। मैं इतना सा, कितना भारी हूँ।''

मैं देख नहीं सकता। मैं चल नहीं सकता। इसका यह मतलब न निकाला जाए कि मैं कुछ कर नहीं सकता। मैंने अपने दिमाग को संतुलित किया और बच्चों से पूछा–''क्या उस पेड़ की जड़ के पास उसी नस्ल के बहुत से पौधे हैं।''

''हाँ हैं। और वे सब नए पेड़ हो जाएँगे।''

''क्या पेड़ जिस तरफ लेटा है उस तरफ की एक तिहाई जड़ें भी जमीन में हैं ?''

''हाँ, हैं।''

''तुम लोग देखना, उतने से ही वो पेड़ मरेगा नहीं, अपने को हरा करता रहेगा। आसमान की ओर नहीं तो जमीन की ओर बढ़ता रहेगा। उसकी हजारों पत्तियाँ अपने हिस्से की रोशनी खींच लेंगी। हाँ, अब बताओ तुम्हारे नाम क्या हैं ? और बात क्या है ?''

''भूख लगी है।'' उनकी आवाज में संकोच नहीं, शंका थी।

''जहाँ खाना मिले, वो जगह यहाँ से कितनी दूर है।''

एक शहर बहुत पीछे छूट जाता है। एक शहर बहुत आगे जाकर शुरू होता है। बच्चों को उनकी अम्माओं ने बताया है कि कई साल पहले इस जगह पर नदी बहती थी। तब यहाँ बहुत लोग रहते थे। यहाँ राजा–प्रजा बैठते थे, गीत–संगीत होता था। एक सुबह सब सोकर उठे तो देखा कि नदी, अपना पाट छोड़ कर मुड़ गई है। यह जगह उजड़ गई।

नदी वाली गहरी जगह पर दोनों बड़े शहरों का मलबा फेंका जाने लगा। लंबे दायरे में फैला यह रेतीला–ढलुवा मैदान, सरकारी कूड़ा घर है। यहाँ बदबू और पानी भर जाने की वजह से दूर तक कोई दुकान–मकान नहीं है। इस चहारदीवारी के भीतर बड़ा चबूतरा और मूर्तियों वाले खम्भे हैं। छत टूट चुकी है। ये लोग यहाँ इसलिए रहते हैं क्योंकि जगह–जगह से भगा दिए गए। यहाँ कोई जाँचने–पूछने वाला नहीं। वे रद्दी की नदी से काम लायक सामान निकालते हैं। सुबह–शाम दो बार नगर निगम का ट्रक यहाँ आता है। सुबह, उसी ट्रक पर बैठ कर ये शहर जाते हैं, कबाड़ बेचते हैं, मजूरी मिल जाए तो ईंटा–गारा कर लेते हैं और शाम वाले ट्रक से लौट आते हैं।

अभी, बहुत दिन से हरदम बारिश हो रही है। नदी पाट का सब सामान बह गया। शहर में कोई नया बनता कई मंजिला मकान गिर गया था। दो मजूर मर गए। तब से सरकार ने कहा है बारिश भर काम नहीं होगा। यहाँ से दाहिने, एक ऊँची सड़क है जिस पर पानी कम है। पर इस इलाके में पानी भर जाने की खबर से कोई गाड़ी इधर नहीं आ रही है। नगर निगम के ट्रक भी नहीं आ रहे क्योंकि मलबा नालियों के रास्ते बह कर इस नीची जगह अपने आप चला आ रहा है।

वे शहर तक पैदल नहीं चल पाएँगे...वे कई रोज से कुछ नहीं खाए हैं।

''हम बहुत अच्छा खाना खाते थे। काली पौलीथीन भर के बड़े-बड़े होटल का खाना आता था।''

''अब वो खाना... बह कर इधर तो नहीं आया होगा? वही खोजने हम गए थे तभी तुम हमें मिले।''

''तुम तो हमसे अच्छा कपड़ा पहने हो.. कूड़े वाली नदी में तुम्हें क्यों फेंक गए ?''

''तुम मिले तो हमने ताली बजाई। लेकिन अम्मा तुम्हारी जेबें देख चुकी हैं...क्या सचमुच कुछ नहीं है तुम्हारे पास?''

मैं पिछली बेंच पर बैठ कर पढ़ी गई किताबें याद कर रहा था। किसी पैराग्राफ में इन सवालों का जवाब हो। कुछ याद नहीं आ रहा था। एक बार को मन में आया कि कह दूँ- 'जिसका चलना उन्हें खतरनाक लगता है, उसकी पीठ पर वार करके, उसकी रीढ़ तोड़ दी जाती है। जो उनकी चालें भेद सकता है उसे घेर कर अंधा बना दिया जाता है।' नहीं, मुझे बच्चों से इस तरह की बात नहीं करनी चाहिए। कैसे, क्या रास्ता निकालूँ? छुटपन में माँ की सिखाई बात बेसाख्ता याद आई...हारिए न हिम्मत बिसारिए न राम। राम? पर मैं तो नास्तिक हूँ। ये बच्चे तो नहीं होंगे। हे इनके देवताओ!...

ऊँची ढाल से उतरते पाँवों से ठहरा हुआ पानी हिला। ''अम्मा! बाबा!'' बच्चे उस दिशा में धीमी गति से पानी पर पाँव रखते हुए बढ़ रहे हैं।

वही स्त्री बोल रही थी-''एक ढाबे वाला जल्दी बन्द करके भाग गया। बचा एक...उसने रोटी बहुत महँगी कर दी। कहता है बिजली नहीं है...चक्की नहीं चल रही। ये ले, यही सबसे सस्ता था। पीले सिम्नी! भूख मर जाएगी। पिछली बार जइसा निमोनिया नहीं पकड़ेगा...।''

''उल्टी आती है, कहा न!'' सिम्नी दाँत किटकिटा कर बोल रही थी। पानी में धप् से कुछ गिरा।

मैं बोतलों की आवाजें खूब पहचानता हूँ। जंगल में हम रोहिणी नदी के ऊपर उछाल कर निशाना साधते थे। निशाना चूक जाए तो बोतल ऐसे ही नदी में गिरती थी।

''चुड़ैल! पानी में गिरा दिया। ऐ रमादीन खोज...मेरी बोतल...खोज दे रे!'' वह कराह रही थी और पानी मथ रही थी। 'नहीं मिला...क्या रमादीन? अच्छा! बताती हूँ तुझे!'

''छोड़ दे...नहीं अम्मा! मत मार!''

''ऐ औरत! छोड़ बच्ची को, भूखी है...ऊपर से मारती है।'' मैं यहीं से चिल्लाया।

मेरी अंधी पुतलियों पर बच्ची के आने और मेरी गोद में बैठने की छाया उभर रही होगी। वह लंबे तलवों वाली स्त्री एक...दो...तीन मेरे पास आकर लड़खडाई थी। उसने सहारे के लिए मेरा कंधा पकड़ लिया। मैं बच्ची को मारने पर नाराज था और चेहरा नहीं उठाया। वह झुकी खड़ी रही। अब गई है।

बारिश फिर शुरू हो गई थी। वे आठों, मेरे ऊपर एक पर एक ऐसे लदे थे जैसे माघ के आसमान तले, पिल्ले अपनी माँ के पेट में घुसे रहते हैं। मैं हथेलियाँ फिराकर उन्हें ढकने की कोशिश कर रहा था। वे रह-रह कर थरथरा रहे थे। भूखे पेट उनके बदन का तापमान तेजी से गिर रहा था।

और कोई उपाय न देख मैं मुँह ऊपर करके चिल्ला रहा था-''कोई हैऽऽ! हम सोलह आदमी-औरत और आठ बच्चे यहाँ फँसे हैं। कई दिन के भूखे हैं। पानी चढ़ रहा है...हमारी मदद करो!'' मेरे मुँह में बारिश का पानी जा रहा था। मैं उसे घोंटता जा रहा था। मेरी देखा-देखी आठों बच्चे मुँह ऊपर करके चिल्ला रहे थे और बारिश का पानी घोंट रहे थे। हमें प्रति उत्तर मिला। पाट की तरफ की ढाल पर सियार हुँआ...हुँआ करने लगे।

''बेटी सिम्नी! जरा उठ तो। तेरे पास कागज है क्या?

''पौलीथीन में एक अखबार है।''

''दो कदम चल ले, अखबार ले आ रानी!''

मैंने पॉलीथिन में रखे उस अखबार को छुआ- ''हे अलादीन के चिराग! कुछ करो।' सिम्नी ! तुम्हारे फ्राक की झालर में सेफ्टी पिन लगी है, निकाल के दो बेटी। इस जगह का पता क्या लिखेंगे? बोलती जाओ।'' मैंने सेफ्टी पिन से अखबार को गोदना शुरू किया।

''देश!''

''देश! देश क्यों कहते हो ?''

''अम्मा कहती हैं कि अब लौट कर हम नहीं जाएँगे। बांगला हटा दिया तो बचा देश...ये देश हुआ वो परदेश। अम्मा ने शुरु किया तो साथ के जो पूरबिहा-पछाहें हैं, सब यही कहने लगे। हाँ तो लिखो...।''

मैंने लिखा-''रोहिला! अजित! तुम मुझे ढूढ़ रहे होगे। मेरा पता है-देश, जहाँ से नदी पाट छोड़ कर मुड़ गई है, जो अब सरकारी कूड़ाघर है। यहाँ सोलह आदमी-औरत, आठ बच्चे हैं। हम मुसीबत में हैं। तुरन्त आओ।''

मैंने अखबार का वह टुकड़ा पॉलीथिन में रख कर बाँधा। बिना डोर की पतंग की तरह हवा में उड़ा दिया। झटका लगने से या दोस्तों की याद से...दर्द चिलक गया।

चहारदीवारी के भीतर इनके माँ-बाप लुढ़के होंगे। उनका आधा जिस्म खम्भों पर टेक लिए होगा और आधा चबूतरे पर, पानी में होगा। हम जहाँ बैठे थे वह घास से भरी थोड़ी ऊँची जगह थी। मैंने उनके पाँव समेट कर अपने ऊपर रख रहा था। साँप, रात में घूमने निकलते हैं। फूँफकारों के लिए मैंने सारा ध्यान, कान पर लगा दिया।

अचानक दाहिनी ओर से खिलखिलाने की कई अधेड़ आवाजें आई। मुझे लगा कि मैं लगातार इंसानी मदद की सोच रहा था, ये मेरी उसी कल्पना के लोग हैं। लेकिन मुझ पर लदे, सिकुड़ी त्वचा के नीम बेहोश बच्चे भी उधर देखे हैं, वापस मुँह गिरा लिए हैं।

''गाड़ी रोकिए...रोकिए! तौबा, कितना खूबसूरत नजारा है। अच्छा हुआ जो लांग ड्राइव पर हम इधर निकल आए। मैं कह रही थी न कि इधर सड़क ऊँची है, पानी नहीं भरा होगा।

''रीनी! भीग जाओगी। मत निकलो!''

''तुम तीनों भी बाहर आओ। ये बूँदें...जैसे किसी आदिवासी दूल्हे का झलर-मलर सेहरा हो, या किसान की साँवली बेटी सूप से धान ओसा रही हो, चावल और भूसी अलग-अगल गिरा रही हो।''

''वाकई! दूर तक पसरे नीरव-निर्जन में हम बूँदों का संगीत सुन पा रहे हैं।''

''वो दूर, ऊँची ढाल से गिरता पानी झरना बन गया है। सूखी नदी कैसी हरी हो गई है।''

''यहाँ कचरे का दलदल था। सब साफ हो गया। प्रकृति अपनी व्यवस्था स्वयं करती है।''

''तुम तीनों ने कभी गौर किया है...बारिश में पत्तों से रोशनी निकलती है। पत्तों का वैसा चमकता हरा रंग फिर किसी मौसम में नहीं आता।''

''देखो न! पानी ही ऐसे चमक रहा है जैसे सैकड़ों मछलियाँ बेखौफ चली जा रही हैं।''

''मछली से याद आया, रास्ते में मत्स्य विभाग का वैन था। मैंने वैन पर लिखा फोन नंबर नोट किया है।''

''सुन जयनंद! वैन वाले से कह दे...विदेशी माल की दुकान रस्ते में है। दो चार तबीयत की बोतलें उठा लेगा।''

''भाई! मुझ पर तो मौसम का सुरूर चढ़ रहा है। मुझे आज अहसास हो रहा है कि रोटी-कपड़ा-मकान के फेर में कविता, संगीत, बारिश, फूल... जीवन का असली आनन्द तो मैं भूल ही गया था।''

''चलो, मैं ताल देती हूँ...डिंगड़िंगा...तेरी दो टकिया दी नौकरी में मेरा लाखों का सावन जाए...।''

''यार सोमेन्द्र! मुझे तो गरीबों से रश्क होता है। प्रकृति के नजदीक रहते हैं और गहरी नींद में सोते हैं।''

''हाँ, वो देखो न! वो बूढ़ा इत्मीनान से आँखें मूँदे दीवार से सिर टिकाए है। उसके बदन पर बच्चे कैसा रिमझिम में खुले आसमान तले लेटे हैं। इन्हें खाने का स्वाद तो मिलता है। कुछ भी खा के पचा तो लेते हैं। यहाँ तो ये न खाओ, वो न खाओ...गैस...शुगर...कोलेस्ट्राल...।''

''छोड़ो ये बातें। मैं बहुत खुश हूँ। वर्षों से मैं कोई कविता नहीं लिख पाई थी-''बूँद-बूँद पिघला वजूद/माटी सा गीला वजूद। बंद रहा जो डिब्बियों में/ तीली सा सीला वजूद।'' जयनंद प्लीज! मुझे कल भी यहाँ ले कर आना। मेरी कविता पूरी हो जाए।''

''तय रहा। आठ-दस दिन तक बारिश नहीं रुकने वाली। पक्की, सेटेलाइट की खबर है। मुझे तो खुद ही कुछ न लिख पाने का फ्रस्टेशन हो रहा था। यहाँ के साँवले...जादुई...रहस्यमय माहौल में मेरी कल्पना जाग रही है।''

''गुरु लोग तो लिखने के लिए पहाड़ों पर जाकर रहते थे। हम कम से कम यहाँ तो आ ही सकते हैं। सुनो, कई दिन से कहानी का एक प्लाट डिस्कस करना चाह रहा था। सोलह आने सच्ची घटना है। मेरे गाँव में एक दलित परिवार था। गाँव में जो कुम्हार था उसके मरे बैल को, दलित परिवार ने उठाने से मना कर दिया। तुम्हें मालूम! ये पहले खूब दारू चढ़ाते है तब जानवर उठाने चलते हैं। शौक तो पाल लिया पर पैसा है नहीं। कुम्हार भी नाराज हो गया। अलाव से निकाल कर कच्चे खपरैल और रेत मिली मिट्टी, घर बनाने के लिए, उस दलित परिवार को दे दिया। उस साल भी ठीक ऐसी ही बारिश थी...एक सुबह हम सोकर उठे तो उसके बच्चे, कच्चे खपरैल और बालू मिट्टी की दीवार ढहने से बुरी तरह घायल थे...वह आसमान की ओर मुँह करके ऐसे चिल्ला रहा था मानो आसमान में छेद कर देगा-''ओ बाबू लोगों के भगवान! तुम्हें प्रान ही चाहिए न! मैं तुमसे सौदा करता हूँ, मेरे प्रान ले लो मेरे बच्चों को छोड़ दो!''

''हिट प्लाट है। थोड़ा मेलोड्रामा डाल देना, थोड़ा विमर्श।''

''आब्जेक्शन मीलार्ड! अगर भगवान ने उस दलित की सुन ली और बच्चे बच गए तो कहानी फिल्मी हो जाएगी...साहित्य दुख का होता है...सुख की कोई कहानी नहीं बनती।''

''प्राब्लम है यार! जब से नौकरी लगी, रीनी का साथ हुआ, दुख की फीलिंग ही नहीं आती।''

''पुराने अपमान के दिन याद कर...दो चार दिन डिप्रेशन में रह! कबिरा घर साहित्य का...खाला का घर नाहिं।''

''लेकिन संघर्ष की...उम्मीद की जीत भी तो...''

''अबे साले! सत्यनारायण की कथा लिखोगे? क्लासिक कहानी चाहिए तो बच्चों को मरना होगा। बच्चों का मरना संवेदना को सबसे ज्यादा झकझोरेगा। कहानी पीछा करेगी, भूलाए न भूलेगी।''

उनके गाए सावन-गीत, उस दिशा से उड़ कर आती हवा पर चढ़ कर, इधर आ रहे थे। मैंने उन्हें जैसे-तैसे पुकारा था। मेरे नाले (दर्द भरी पुकार) उन तक नहीं पहुँच पा रहे थे। पछुवा हवा हमारी विपरीत दिशा में बह रही थी।

मैं अपने फेफड़े पर बच्चों की पसलियों का चलना महसूस कर रहा था। मैंने उन्हें हिलाया-''मेरी बाँह खाली करो। मैं एक और चिट्ठी लिखना चाहता हूँ।'' वे हिले नहीं। एकाएक अपने को खींचते हुए उठने लगे। जिस दिशा से तली जाती मछली की तेज गंध आई थी। बारिश का झकोरा उनके सीने पर, जैसे तलवार से जर्जर ढाल पर चोट की जा रही हो, बार-बार उन्हें पीछे खदेड़ दे रहा था।

''अरे! वो भूत-प्रेत चले आ रहे हैं क्या ?''

''तुम भी रीनी...बच्चे हैं। पर अजीब हैं। आधी आँख खोले, दोनों हाथ सीधे फैलाए, काले-अधनंगे-भीगे, कतार में खड़े।''

''ये ऐसे क्यों हैं ?''

''ये मुफ्त के पैसे से नशे के आदी हो जाते हैं। कबाड़ का पैसा मुफ्त का पैसा ही तो हुआ। इधर कोई आता नहीं न! अवैध शराब भट्ठियाँ भी हैं। देख रहे हो इनकी आँखें कैसी अधखुली हैं, डगमगा रहे हैं। मैं इस पर आर्टिकिल लिखूँगा।''

''जल्दी, फोटो लो इनकी। फेसबुक पर डालेंगे। या फोटाग्राफी प्रतियोगिता में भेज देंगे।''

''अब चैन से कोई खा भी नहीं सकता। देखो कैसा ललचाए घूर रहे हैं। ऐ! हटो यहाँ से तुम लोग!''

''ऐसे मत कहो संगीता, बेचारे! मुझे इन पर बहुत दया आ रही है लेकिन भीख देना गलत प्रवृत्ति को बढ़ावा देना है। आदत पड़ गई तो ये मेहनत नहीं करेंगे। तुम लोग पढ़ने जाते हो बेटा ? क्यों ? तुम्हें पढ़ना चाहिए।''

''हमारे बच्चों का तो बचपन ही नहीं रहा... किताबें, कम्पटीशन ऊपर से रिजर्वेशन। याद है, रेनी डे हो जाता था...हम भीगते-खेलते घर लौटते थे।''

''रीनी! तुम छींक रही हो। इधर आओ, वैन वाले से मैंने ब्रांडी मँगवाई थी। दो घूँट पी लो। फिर हम निकले यहाँ से।''

''मैं तो लिखने बैठता हूँ तो जरूर थोड़ी ले लेता हूँ। क्या बात निकलती है।''

''जाने की जल्दी क्यों कर रहे हो यार जयनंद! सावन फिर अगले साल आएगा।''

बच्चों के मुँह चलाने और 'चट्-पच्', कुछ इसी तरह आवाजें आ रही थीं। मैं सोच रहा था कि वे ऐसा क्या खा रहे हैं? मछलियों के कांटे में चिपका मांस नोचने के लिए ये कांटे तो नहीं कूच-थूक रहे हैं। तभी हवा में कुछ उछाले जाने...तेजी से हवा कटने की साय...साय ध्वनि सुनाई दी। यह तो जाना-पहचाना सा दृश्य लग रहा है...याद आया, जैसे उस दिन रज्जब की कोठरी से पेट्रोल भरी बोतलें वे छावनी वाले फेंक रहे थे। रज्जब गिड़गिड़ा रहा था...साहब, मैंने ये पेट्रोल बम नहीं बनाया है। वे उसे ले जाते हुए कह रहे थे...सारा सच बाहर आएगा जब तेरा ही पेट्रोल तेरे हलक में जाएगा...।''

''वैन वाले भइया जी ! ये खाली बोतल ले लीजिए और इसके बदले मछली दे दीजिए।'' सिम्नी कह रही थी। सिम्नी को सुनने के लिए मैंने पुरानी बातों को सोचना बन्द किया।

''बिजनेस करने लगे तुम लोग...चलो भागो।''

''वैन वाले भइया जी!''

''अच्छा चल, देख! बोतल में नीचे थोड़ी रह गई है। खाली करके दे। अरे रे...ये सबसे महँगी शराब है...नीचे गिरा के बेइज्जती कर रही है...पी जाओ। मिलिट्री कैन्टीन की है...टानिक का काम करेगी...पीओ जल्दी...शाबाश! ये लो दो पीस, अब खुश!''

एक के बाद एक बोतलें हवा में कलाबाजी कर रही हैं। बोतलों के पीछे, पानी में गिरते-घिसटते नन्हे कदम थे। हँसते-उछलते लंबे डग थे-

''दौड़ो! देखें पहले कौन पकड़ता है...अरे तुम बच्चे हो कर नहीं दौड़ पा रहे हो...वाह, हम अभी बूढ़े नहीं हुए...हम जीत गए। नहीं...नहीं रोओ नहीं। ये लो बोतल...अब हँसो...नहीं पहले हँसो तब देंगे।''

''अब मैं दूसरी बोतल फेंकने जा रही हूँ। तैयार ? रेडी...स्टडी...गो।''

''लो! ये पेड़ पर चली गई। नहीं छूटकू, रोना मना है। जयनंद! डाली झहरा दो। बच्चे हैं।

''यार! हम लोगों ने ये खोल तो लीं लेकिन पूरी नहीं पी पाएँगे। कोई नहीं, ऐसे ही इन्हें दे देते हैं। चलो, अब लौटा जाए।''

''वैन वाले भाई साब! कल से छ:सात दिन तक इसी समय, यहीं आना है आपको। दोनों चीज बढ़ा कर लाइएगा। हमारे और चार-छः साथी रहेंगे।''

''बाए बच्चो!''

वे फर्राटे से निकल गए हैं। इन आठों के पेट जरुर थोड़े भरे होंगे। तब भी वे लड़खड़ाते कदमों से क्यों लौट रहे हैं। मुझ पर गिर कर वे सो चुके हैं। मैं उन्हें टटोल रहा हूँ। उनके मुँह बन्द नहीं हो पा रहे हैं, खुले पड़े हैं।

मैं उनके तालू और मसूढ़ों में धँसी, बड़ी मछलियों के कांटे निकाल रहा हूँ।

उन आठों के मुँह से मिलिट्री कैन्टीन से ब्लैक में खरीदे गए कूड़े की बदबू आ रही है।

मैंने अखबार के आखिरी बचे टुकड़े को छेदते हुए लिखा-''रज्जब! छावनी के पूछताछ-कैम्प में सात दिन रहने के बाद, तुम जब लौट कर आए थे, तुम्हारी पेट्रोल पीने की आदत पड़ चुकी थी। ये जो अभी गए हैं, ये सात दिन और आएँगे। तुम्हें उसके पहले आ जाना है। मैंने माँ को लिखा कि मेरा इंतजार मत करना। माँ पर क्या बीती होगी यह मैं आज जान पा रहा हूँ। मैं तुम्हारा पल-पल इंतजार कर रहा हूँ।

मेरा पता बहुत आसान है- देश, जहाँ से नदी पाट छोड़ कर मुड़ गई है।

3/226, विश्वास खण्ड,
गोमती नगर, लखनऊ-226010
फोन-9415800397

मनोज कुमार पांडेय

पैर

तुमसे पहले मुझे सिर्फ अपनी छोटी बहन के पैर याद थे। वह भी अभी के नहीं, उसके बचपन के। जब वह छोटी सी थी और फुदकती हुई सी चलती थी। मुझे उसके लाल नरम पैर छूने में बड़ा मजा आता था। और वह बार बार शिकायत करती हुई भागती थी। उसके वे छोटे छोटे पैर मैं जब चाहूँ मेरी आँखों के सामने आ जाते हैं। मेरे एक बार सोचने भर की देर होती है और वे मेरे इतने नजदीक होते हैं कि मैं उन्हें छू सकता हूँ।

और अब तुम्हारे पैर। मैं लाखों करोड़ों की भीड़ में तुम्हें तुम्हारे पैरों से पहचान सकता हूँ। गहरी से गहरी नींद या बेहोशी में भी तुम्हारे पैरों की एक छुवन मुझमें वह ताजा ताजा होश पैदा कर सकती है जैसे कि मैं तुम्हारी ही बाँहों में सो रहा था और अभी उठा हूँ तो तुम्हारा ही चेहरा सामने है। मैं कैसे बताऊँ तुम्हें कि तुम्हारे पैरों में क्या जादू है। कि उन्हें एक बार देखने भर से मेरे भीतर कैसी कैसी तरंगें उठने लगती हैं। छूने और चूमने के बाद तो मर ही जाता हूँ मैं।

तुम्हें पता नहीं याद है या नहीं कि पहली बार मैंने तुम्हें तुम्हारे पैरों से ही पहचाना था। कि तू वही है जो मुझे तबाह करने आई है।

इसके पहले हम रोज मिलते थे। हँसते बतियाते थे, गप्पें लड़ाते थे, साथ में कश खींचते थे। इस दरम्यान पता नहीं कितनी बार हमारे हाथ अनायास एक दूसरे से टकराए होंगे। पता नहीं कितनी बार जान-बूझकर हमने एक दूसरे के हाथों को छुवा होगा। पर कभी कुछ नहीं लगा। भीतर कोई तड़प या सनसनी महसूस नहीं हुई।

वह दिन आज भी मेरे भीतर खलबली मचाए रखता है जो मेरी तबाही की शुरुआत का दिन था। जो मेरी तकदीर को दोबारा लिखने जा रहा था। वह मेरे भीतर एक ऐसा कोना खोलने जा रहा था जहाँ फकत आँसू, उदासी, चीख और कभी न ख़त्म होने

वाली वासना भरी हुई थी। और इस वासना का पागलपन इस रूप में दिखाई पड़ना था कि मुझे हमेशा तुम्हारे पैर चाहिए थे।

ऐसे दिन पहले से बताकर नहीं आते। उस दिन भी सुबह से कुछ भी अनघट नहीं घटा था। सुबह से वैसे ही सब कुछ चलता चला आया था जैसे रोज चलता था। यह कोई दोपहर और शाम के बीच चार बजे जैसा वक़्त रहा होगा जब मेरे हाथों की घड़ी रुक गई थी और मेरे भीतर एक नई घड़ी की टिक टिक शुरू हुई थी। और उसी क्षण मैं अपना होश खो बैठा था या कि मेरे भीतर एक नई बेहोशी ने होश सँभाला था।

ऐसा नहीं हो सकता कि किसी ने मुझे इससे बचाने की कोशिश न की हो। कोई इशारा न किया हो किसी ने, हवा के किसी झोंके ने मेरे बालों को न बिखेरा हो। कोई चिड़िया सिर को छूती हुई न निकल गई हो। या आफिस की तरफ जाते पैरों को किसी चींटी ने न काटा हो... कि कोई नुकीला कंकड़ पैर और तलवों के बीच न आया हो पर मैंने ही ध्यान न दिया हो... आखिर इस कोशिश में उनकी जान भी तो जा सकती थी। जो भी हो। मैं आफिस गया और यह दिन के उतार का कोई समय रहा होगा जब मैंने पाया कि मेरे पैरों पर जैसे आग रख दी गई हो (यही आग मैं ढूँढ़ रहा था)। इसी एक क्षण में मैं पूरी तरह से बदल गया।

मेरे भीतर एक पल को आया कि मैं अपना जलता हुआ पैर वापस खींच लूँ। उसी एक पल में मैं अपने पैर वापस खींच लेता तो शायद बच भी जाता पर यह पल मेरे जीवन में पहली बार आया था अच्छे या बुरे से परे और मैं उस पल में हमेशा के लिए खो गया। उसी पल वह पल निकल गया जब मैं अपने को बचा सकता था।

और यहीं से वे पल पैदा हुए जहाँ तुम्हारे होठों से पहले मुझे तुम्हारे पैर चूमने की तलब हुई। नहीं इसमें तुम्हीं मेरी देवी वाला पूजा भाव नहीं था। मेरे भीतर तब तक कोई सनसनाहट होती ही नहीं थी जब तक मैं तुम्हारा पैर नहीं चूमता था।

आग वाले दिन के अगले दिन मैंने तुम्हें तुम्हारे सामने बैठकर एसएमएस किया कि मुझे तेरे पैर खाने हैं। अभी। तुमने एसएमएस पढ़ा और सिर ऊपर उठाया। आँखों में एक बदमाश चमक थी। उन्हीं चमकती हुई बदमाश आँखों से तुमने पूछा कि अगर कोई तुम्हारे पास एसएमएस करे और कहे कि उसे तुम्हारे पैर खाने हैं तो तुम क्या जवाब दोगे?

मैं क्या कहता? मैंने कहा कि ये है भला कौन जो सब कुछ छोड़कर सिर्फ पैर खाना चाहता है?

कोई भी हो, तुमसे क्या मतलब। तुम तो बस मेरे सवाल का जवाब दो। तुमने कहा।

मैंने कहा कि इसका जवाब मैं कैसे दे सकता हूँ। यह तो इस पर निर्भर करता है कि जिससे यह पूछा गया है वह पूछने वाले के बारे में क्या सोचता है। जवाब इसी बात से तय होगा।

बदले में तुम मुस्कुराई और अपने नंगे पैरों को मेरे पैरों पर रख दिया और देर तक अपने तलवों से मेरे पैरों को सहलाती हुई कुछ सोचती रही।

मेरे भीतर जैसे एक प्यारा सा अंधड़ उमड़ घुमड़ रहा था। और मैं उसे एक दिशा देना चाहता था। कमरे में हमारे साथ दो लोग और बैठे थे और अपना काम कर रहे थे। मुझे अपनी कलम गिरानी थी। कलम गिराकर पहले मैंने इधर उधर देखा कि तुम्हारे पैर मेरे पैरों पर खिले रहें। बैठे बैठे ही धीरे से कुर्सी पीछे सरकाई। और इसके बाद क़लम खोजता हुआ नीचे झुका और धीरे से तुम्हारे पैरों को अपनी हथेली पर ले लिया। अभी तक जो आग के फूल मेरे पैरों पर खिले हुए थे वे मेरी हथेली पर खिल गए। दूसरे हाथ से तुम्हारे पैरों को सहलाते हुए मैं और झुका। मैंने तुम्हारे पैरों के ऊपरी हिस्से पर अपने होठ रख दिए।

तुमने अपने पैरों को पीछे खींचना चाहा तो मैंने तुम्हारे अँगूठे को मुँह में भर लिया। तुमने दूसरे पैर से मेरे गाल सहलाए और अँगूठे को छुड़ाना चाहा। मैंने दाँतों से हल्का सा दबाव बनाया। और तब तुमने एक हल्की सी सिसकारी के साथ अपने पैरों को ढीला छोड़ दिया। मैं बेसुध तल्लीनता के साथ बहुत देर तक अपनी क़लम खोजता रहा।

उस दिन के बाद से कभी मेरी पेन गुम हो जाती तो कभी कोई फाइल... कभी रूमाल तो कभी पर्स... और मुझे यह सब देर तक ढूँढ़ते रहना पड़ता। ये रोज होता। दिन में कई कई बार।

कमाल यह था कि उस एक एसएमएस के बाद से उस बारे में न कोई बात तुमने की न मैंने। तुम्हारे पैरों को जी

भर खाने के बाद एक दिन मैंने ही तुमसे पूछा कि उस बेचारे पैर के आशिक का क्या किया तुमने ? तुमने कहा कि पैर ही तो चाहिए था बेचारे को। कैसे मना करती... दे दिया।

दे दिया ? मैंने आश्चर्य ज़ाहिर करते हुए पूछा।

हाँ। उसने मुसकराकर फिर से कहा। पैर ही तो चाहिए था बेचारे को, दे दिया।

पता नहीं कौन सी हिचक थी कि मैं इसके बाद कुछ नहीं बोला। तुमने भी कोई बात नहीं की। सब कुछ पहले की ही तरह चलता रहा। हम आपस में दुनिया भर के मसले पर बतियाते रहे पर इस मसले पर इसके बाद हमने कभी भी बात नहीं की।

एक दिन ऐसे ही तुमने अपने हाथ बढ़ाए जिन्हें मैंने अपने हाथों में कुछ इस तरह ले लिया जैसे कि बस इसी बात का इंतज़ार कर रहा था। मेरे भीतर कुछ भी नहीं दहका। मैं दिन भर लोहा लंगड़ क़लम कागज़ जो भी छूता रहता था उसमें और तुम्हारे हाथों में कोई भी ख़ास अंतर नहीं जान पड़ा मुझे। तब मैंने अपने पैरों को तुम्हारे पैरों की तरफ सरकाया। मेरे पैरों ने तुम्हारे पैरों को छुआ भर होगा कि मेरे हाथों में भी सनसनी दौड़ गई। और मैंने पाया कि दुनिया के सबसे सुंदर हाथ मेरे हाथों में है। तुम्हारे हाथों की गुनगुनी आग में मैं पिघलने लगा। तुम्हारा चेहरा लाल हो रहा था। तुम्हारे बेताब होठ खुले थे और वे मेरे होठों को खा ही जाना चाहते थे।

उस दिन कमरे में कोई नहीं था। शाम का समय था और कोई भी कमरे के बाहर नहीं जाना चाहता था। न तुम न मैं। चाबी हमारे पास ही थी। मेरे पास पूरा मौका था कि मैं तुम्हें अपने होठ खाने देता और बदले में सिर्फ पैर ही नहीं बल्कि पूरा का पूरा तुम्हें खुद में समो लेता। मैंने तुम्हारी ढीठ आँखों को अपनी आँखों से देर तक चूमा। उनमें अजीब सी बेसुध चमक उतर आई थी। शायद तुम भी वही सोच रही थी जो मैं सोच रहा था।

तभी तो तुम उठी और तुमने कमरे की सिटकिनी चढ़ा दी। और वापस आकर मेरे ऊपर छा गई। तुम मेरी कुर्सी के पीछे से आई और तुमने मेरे होठों पर अपने होठ रख दिए। मेरे भीतर कोई सनसनी नहीं हुई। मुझे खुद को याद दिलाना पड़ा कि मैं एक जवान आदमी हूँ और जिस जवान लड़की के लिए पल पल मरता हूँ मेरे ओठ उसी की कैद में हैं। तुम मुझ पर छाई जा रही थी और मुझे पता ही नहीं था कि मैं तुम्हें कैसे जवाब दूँ।

तब मुझे तुम्हारे पैरों की याद आई। तुम मेरे पीछे थी। मैंने बहुत कोशिश की पर तुम्हारे पैर न मेरे पैरों की पहुँच में थे न हाथों की। मेरी यह अटपटी कोशिश तुमने कामयाब न होने दी। तुम्हें कैसे पता चलता कि मुझे क्या चाहिए था। मुझे बहुत अजीब लग रहा था। मुझे लग रहा था जैसे किसी अजनबी ने मेरे ओठ अपने मुँह में भर रखे हों और हालत ऐसी कि उठना मुश्किल हो रहा हो।

तुम लंबी गर्म साँसें ले रही थी और मैं ठंडा पड़ता जा रहा था। मेरे माथे पर ठंडे पसीने की बूँदें चुहचुहा आई थीं। तुम्हारी पागल कामनाएँ चरम पर थीं और मेरी कामनाएँ न जाने कहाँ खो गई थीं। मैं नपुंसक हो रहा था। मुझे तुम्हारे पैर चाहिए थे। तुरंत।

मैं झटके से उठा और तुम्हारे पैरों की तरफ झपटा। तुम्हारी आँखों में असीम आश्चर्य उभर आया। तुम्हारा चेहरा अजीब हो चला था। उधर तुम्हारे पैर मेरी पहुँच में आने भर को थे कि मेरी कामनाएँ लौट आईं। मैंने तुम्हारे पैरों में अपने पैरों को फँसाया और तुम्हारे ओठों की तरफ बढ़ा।

तुम अब तक सकते में थी जैसे। जैसे कि कुछ समझ ही न पाई होवो कि हुआ क्या आखिर। यह बोल के समझाने का समय नहीं था। मैं तुम्हारे होठों की तरफ बढ़ा ही था कि तुमने मुझे खुद से दूर ढकेल दिया। मैं फिर से तुम्हारे पैरों की तरफ बढ़ा और तब तुमने मुझे लात मारी और कमरे की सिटकिनी खोल दी।

दूसरे दिन तुम्हारी आँखों में एक पीड़ा भरा उपहास भरा था मेरे लिए। जो उस दिन के बाद से हमेशा बना रहा। उस दिन के बाद मेरे पैरों पर अपने पैर तुमने कभी नहीं रखे। कभी गलती से छू भी गए तो तुमने उन्हें ऐसे झटके से वापस खींचा जैसे तुम्हारे पैरों में कोई अंगारा छू गया हो।

मेरी हालत भी ऐसी ही होती है पर मैं इस अंगारे की आग में जल ही जाता हूँ। मेरी समूची चेतना सिहरकर रह जाती है। फिलहाल तो उस दिन के बाद से यही सब चल रहा है। जबकि मुझे पता है कि दुनिया में वही दो पैर हैं जो मेरे लिए बने हुए हैं।

तुमने उस दिन के बाद से मुझसे बात करनी बंद कर दी। मैं तुमसे बात करना चाहता हूँ। मेरे भीतर जो कुछ भी

घटा था उस दिन तुम्हें बताना चाहता हूँ। मैं इंतज़ार कर रहा हूँ उस दिन का कि तुम्हारे भीतर का वह उपहास भरा गुस्सा कम हो तो शायद तुम मेरी बात सुन सको।

मैं सोचता रहता हूँ हर पल कि तब मैं तुमको सब कुछ कैसे बताऊँगा। यह भी डर हमेशा सताता रहता है कि तुम मुझ पर भरोसा भी करोगी कि नहीं। और तो और जो कुछ भी उस दिन घटा अगर दोबारा सब कुछ वैसे ही घटा तो ? जब भी यह बात मेरे मन में आती है वही उस दिन वाली ठंडे पसीने की बूँदें चुहचुहाने लगती हैं। हाथों पैरों में जैसे जान ही नहीं रहती है।

उनमें दोबारा जान तभी लौटती है जब तुम्हारी लाख सावधानी के बावजूद किसी पल के किसी बहुत छोटे हिस्से के लिए ही सही तुम्हारे पैर मेरे पैरों से छू जाते हैं। जब तक मैं तुम्हें अपनी बात समझा नहीं पाता तब तक उन्हीं दो पलों की ज़िंदगी के भीतर मरता रहता हूँ।

हिन्दी समय, महात्मा गांधी
अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा महाराष्ट्र
मो. 08275409685
ई-मेल : chanduksaath@gmail.com

ममता सिंह

राग मारवा

जिंदगी किसी मुफलिस की कबा तो नहीं
कि जिसमें हर घड़ी दर्द के पैबंद लगे जाते हैं।
– फ़ैज़

पारुल की खुशी छलक-छलक पड़ रही है। उसका मन आसमान में उड़ा जा रहा है। रूई के फाहों सरीखे बादल उसके ऊपर से उड़ रहे हैं। बादलों का ठंडा स्पर्श मन में पुलक पैदा कर रहा है। इतने सालों तक किराए के घर में मकान मालिक के बनाए नियमों के मुताबिक़ रहना पड़ता था। फटी दरी जिसमें पैबंद लगे थे, सीलन से कमरे में ख़ास किस्म की गंध पसरी होती थी, जिसे पारुल आज इस खुशी के मौक़े पर याद नहीं करना चाहती। लेकिन अभावों और परेशानियों में जिया हुआ इतना लंबा समय भला कोई कैसे भूल सकता है। फटी दरी की जगह कालीन बिछ गया है। अब जाकर अपना घर हुआ। खस के पर्दे की जगह ब्लाइंड्स लग गये हैं। सजावट से घर की खुशहाली नज़र आ रही है। आज वो 'अपने' घर में है। अब उसे बार बार किराए का घर नहीं बदलना होगा।

मेहमानों का आना शुरू हो गया है। पारुल के पांव ज़मीन पर नहीं पड़ रहे हैं। वह पंख लगाकर आसमान में उड़ रही है। इस कमरे से उस कमरे तक जाती है, बरामदे में नए सजाए गमले को घुमाकर ठीक कर देती है, उसे होश नहीं है। ख़ुशी के मारे अपनी सुध-बुध खो बैठी है।

'मुबारक हो पारुल, कितनी नसीब वाली हो। कितना आलीशान घर मिला है तुम्हें। देर आयद- दुरूस्त आयद' —फूलों का गुलदस्ता थमाती हुई रज्जो बोली। शुक्लाइन चाची ने भी सुर मिलाया। 'भई सास हो तो पारुल की सास जैसी, नहीं तो ना हो। इस बुढ़ापे में भी अपने बहू-बेटे का लालन-पालन कितनी कुशलता से कर रही है बेचारी। — सचमुच बड़े दिल और जांगर वाली है तुम्हारी कुसुम जिज्जी। अपने शौहर के दम पर तो कभी नहीं ख़रीद सकती थी इतना आलीशान घर— अस्फुट स्वर में बोलती है—नंबर

एक का शराबी...... बेचारी कुसुम जिज्जी इस बुढ़ापे में भी कितना खटती है इन लोगों के लिए। ऐसा करमजला बेटा किसी को ना मिले, फुसफुसाते हुए रज्जो बोली। बहू कम से कम कुसुम जिज्जी के साथ तो लगी रहती है।

कोई प्यार में नहीं लगी रहती— स्वार्थ से....कुसुम जिज्जी के गाने का प्रोग्राम वही सेट करती है– 'कुसुम जिज्जी गायेंगी तो झोला भर के पैसा आयेगा घर में और इनकी रोज़ी रोटी चलेगी। इस उम्र में गाना उनके लिए कितना तकलीफदेह होता होगा। इस बुढ़ापे में जब आराम की जरूरत है तो बुढ़िया सबका पेट पाल रही है।' —शुक्लाइन चाची बोलीं।

पारुल के कानों में ये अस्फुट बातें जा रही थीं। ये तल्ख़ अलफ़ाज़ पारुल पर कटार जैसे वार कर रहे थे। मन का कसैलापन चेहरे पर ना झलके, इस प्रयास में दोनों होठों को आपस में रगड़कर वो लिपस्टिक ठीक करने की कोशिश कर रही है। ज़बर्दस्ती मुस्कुराती हुई साड़ी के पल्लू को आगे कर कमर में खोंसने लगी और दूसरे मेहमानों से मुखातिब हो गयी। लेकिन शुक्लाइन चाची कहां मानने वाली थीं। रस लेकर बताने लगीं—'पता है रज्जो, इस घर को पाने के लिए इसकी बुढ़िया सास ने ऐड़ी–चोटी का पसीना बहाया है। समाज–सेवियों के चक्कर काटे। नेताओं से सिफ़ारिश की। फिल्मी कलाकारों की चिरौरी की। गिड़गिड़ायी कि मैं इतनी बड़ी गायिका हूं। इतने सारे कंसर्ट किए, मैंने बड़ी–बड़ी महफिलों में गाया, लेकिन हमारे पास घर नहीं है, वग़ैरह वग़ैरह। किसी नेता ने जोड़ तोड़ करके दिलवाया है यह घर। शुक्लाइन चाची की बातें ललाइन चाची अपने मुंह को रूमाल से ढंके ऐसे आश्चर्य से सुन रही थीं मानो दुनिया का आठवां आश्चर्य बयां किया जा रहा हो सचमुच ये औरतें बातों में इतनी माहिर हैं कि गुड़ रस मलाई बन जाए और रसगुल्ला करेले के रस में बदल जाए। कुसुम जिज्जी के बारे में इस तरह विमर्श हो रहा था, जैसे उन्होंने कोई बुरा काम किया हो।

कुसुम जिज्जी खुश हैं कि नये घर में अब एक कमरा उनका होगा जिसमें वो तितली की तरह उड़ेंगी, सपने बुनेंगी। संगीत के सागर में तैरेंगी। हारमोनियम, तबला, तानपुरा सब उनके आसपास रहेगा। जब चाहे छेड़ेंगी कोई सुर...उन सुरों में फिर उगेंगे ख्वाबों के अंकुर। उन सुरों में पकेगी–घुलेगी फिर से वो चाशनी, जिसका ज़माना कभी कायल हुआ करता था। ख्वाबों के कई अंकुर अभी भी फूटने बाक़ी हैं। बहुत–सी मुरादें कभी पूरी नहीं होतीं। ख्वाबों के वो अंकुर अब यादों के सिक्कों में तब्दील हो गए हैं।कुछ ख्वाब स्टील के बक्से में आज भी बंद हैं, जिसमें पुरानी तस्वीरें, अख़बारों की कतरनें, कई एल.पी. रिकॉर्ड और सीडीज़ हैं।

वो गरमी की सुस्त दोपहर थी। सीलन भरे कमरे को पुराने फर्नीचर से नए सलीक़े से सजा रखा था। पुराना बड़ा–सा टेबल, जिसके पाए दीमक के खाने से खोखले हो रहे थे...उसी के एक कोने पर ग्रामोफ़ोन रखा रहता था, जो उनके उत्कृष्ट गायन पर किसी क़द्रदान ने उपहार–स्वरूप दिया था। गरमी की वो ऐसी उमस भरी, अलसाई दोपहर थी, जब धूप भी छांव का इंतज़ार कर रही हो। कुसुम जिज्जी चटाई को पानी से बार–बार भिगो रही थीं, ताकि कमरे में सुकून और ठंडक कायम रहे। वैसे उन्हें हर तरह से सुकून तब मिलता है जब वो अपनी पसंद का संगीत सुनती हैं। उस्ताद बड़े गुलाम अली ख़ां उनके पसंदीदा गायक हैं और उनके लिए तालीम की तरह हैं। ग्रामोफ़ोन पर बड़े गुलाम अली ख़ां की ठुमरी मांड बज रही है....

याद पिया की आए, ये दुख सहा ना जाए...

बाली उमरिया, सूनी सेजरिया... जीवन बीतो जाय, हाय राम...

ये बंदिश उस्ताद जी ने अपनी पत्नी के गुज़र जाने के बाद बनायी थी। किस क़दर दर्द रचा–बसा है उनकी आवाज़ में। कुसुम जिज्जी का मन सुरों के झरने से भीग रहा है। उसी के साथ वे ताल दे रही हैं मंद–मंद मुस्कुरा रही हैं... एक ताल और चार ताल में उन्हें बड़ा संशय होता था। स्कूल के ज़माने में 'धिन धिन, धागे तिरकिट, तूना कत्ता' की जगह पर वो 'धा धिन, धिन धा, किट धा, धिन धा' कर देती थीं और टीचर की डांट मिलती थी। लेकिन बाद में उनका यही एक ताल और चार ताल एकदम पक्का हो गया था। क्लास की टेबल या चौके के बर्तनों पर भी वो एक ताल को दुगुन, तिगुन, चौगुन में बजाया करती थीं। बहरहाल.. उस्ताद गुलाम अली ख़ां को सुनते हुए कुसुम जिज्जी किसी और ही दुनिया में पहुंच गयी थीं, जहां संगीत की इबादत होती है.....तभी इस तपती भीषण गरमी में बिन मौसम बरसात आ गयी। बड़ी ज़ोर से बादल गरजे। गड़गड़ाहट से कुसुम जिज्जी के कान झनझना गये। ग्रामोफ़ोन की सुई खट से रिकॉर्ड से हटा दी गयी थी। चलता रिकॉर्ड दीवार पर फेंक दिया गया था। 78 आर पी एम का रिकॉर्ड दीवार से टकराकर तड़ाक से टूट गया था और कुसुम जिज्जी का दिल चकनाचूर हो गया थी।

''ये लो एक नई सौगात, तुम्हारे उस आशिक का नया पैगाम।''

''ओह, गुरुजी ने भेजा?''

''गुरू-शिष्य परंपरा को तुम जैसी दो कौड़ी की गायिकाओं ने बदनाम किया है। मत कहो गुरूजी... तुम जैसी गायिकाओं को वो स्टेज पर नहीं ले जायेंगे तो समाज को क्या जवाब देंगे कि बरसों अपने आग़ोश में बिठाकर क्या सिखाया। इसी बहाने वो अपना नाम भी तो रोशन कर लेते हैं।

''उफ़!''

''उस्ताद रहमत ख़ां, उस्ताद सलामत ख़ां... कितने उस्तादों का जी बहलाओगी।''

नीले रंग के गिफ्ट रैपर में से छोटा-सा ट्रांज़िस्टर झांक रहा था, जिसे देखकर दर्द के इस अंधेरे में भी कुसुम जिज्जी के लिए जैसे चिराग़ जल उठा। कुसुम जिज्जी ने आंसुओं से भीगी आंखों को कस के झपकाया, मिचमिचाया, पलकों में बंद दो-तीन बूंदें गालों पर ढुलक गयीं। इसी रेडियो ने कुसुम जिज्जी को सुरों की पालकी पर बैठाया था। रेडियो ने ही सुरों के पंख लगाकर उन्हें उड़ना सिखाया था। स्कूल कॉलेज के उन्हीं दिनों में विविध भारती से जब संगीत-सरिता कार्यक्रम प्रसारित होता था तो कुसुम जिज्जी अपनी कॉपी और कलम लेकर बैठ जातीं। रागों के गायन का समय, वादी-संवादी, शुद्ध और कोमल स्वर...सब कुछ बाक़ायदा नोट करतीं और जो राग जिस प्रहर में गाया बजाया जाता है, उसका अभ्यास वो उसी प्रहर में करतीं। संगीत सरिता सुन-सुनकर उन्होंने आकाशवाणी बनारस के शास्त्रीय-संगीत के ऑडीशन की तैयारी की। ऑडीशन पास किया तो अपनी सहेलियों को लड्डू खिलाया। बी ग्रेड और फिर टॉप ग्रेड आर्टिस्ट बनीं। उनकी गायकी के कई टेप तैयार हुए और वो एक प्रतिष्ठित गायिका बन गयीं। उनकी 'सुर सरिता' जब पहली बार विविध भारती के एक बड़े और लोकप्रिय कार्यक्रम 'अनुरंजिनी' में बही- तो कई दिन तक वो सुरों की बारिश में भीगती रहीं। इस तरह ट्रांज़िस्टर कुसुम जिज्जी के जिगर का टुकड़ा बन गया। जहां जातीं साथ में एक ट्रांज़िस्टर और उसकी बैटरी ज़रूर ले जातीं। रेडियो से ही उनकी शोहरत की शुरूआत हुई। ग़म और तन्हाई के पलों में उनका हमदम भी बना रेडियो। तन्हाई के लम्हों में ली गयी अपनी सिसकियों को कुसुम जिज्जी ने रेडियो और अपनी गायकी से ही तो बांटा। इस पल भी जब पूरे घर पर ग़म की बदली छायी है, उनका अपना ही जीवन-साथी जब उनका कलेजा छलनी बना रहा है... ये देखकर कुसुम जिज्जी एक बार फिर जिंदगी की सलवटों को मिटाने के लिए बेतहाशा दौड़ पड़ीं।

लेकिन वह ट्रांज़िस्टर उनके लिए उस दिन खुशी की सौगात नहीं बल्कि ऐसी आंधी लेकर आया था, जो कई महीनों तक शांत नहीं हुई। गानों के कई मौक़े हाथ से निकल गये। पंडित जसराज की प्रस्तुति के बाद उनकी प्रस्तुति का मौक़ा जाता रहा। मुंबई में फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की ग़ज़लें गानी थीं, वो मौक़ा छूटा। ऐसे कई सुनहरे मौक़े उन्हें अपने घरेलू विवादों के कारण छोड़ने पड़े।

वक्त कभी एक जैसा नहीं रहता। आंधियां चलती हैं, थमती भी हैं। कुसुम जिज्जी की जिंदगी में भी बहार आयी और पतझरों की दस्तक कम हो गयी। बनारस से मुंबई की सुखद यात्रा और बस कुसुम जिज्जी का सुर कोयल-सा कूकने लगा।

नेहरू सेन्टर का भव्य हॉल, स्टेज के किनारे किनारे फूलों के वंदनवार सजे थे। मौक़ा था विदूषी गिरिजा देवी और उस्ताद अमजद अली ख़ां की कजरी और सरोद की जुगलबंदी की प्रस्तुति का..

'झिर झिर बरसे सावन,

रस बुंदिया की आई गइले ना

अब बहार की... आई गइले ना'।

राग मिश्र मांड में दादरा ताल में निबद्ध इस कजरी की जुगलबंदी पर दर्शक झूम रहे थे जैसे सावन की बयार हो। कुसुम जिज्जी का मन बादलों के बीच उड़ चला था। कजरी की तान पर खूब ऊंची ऊंची पींगे भर रही थीं। उनके मन का झूला आसमान में उड़ा जा रहा था। होंठ इस कजरी के साथ गुनगुना रहे थे। पंडित अच्छेलाल तबला संगत कर रहे थे। 'धा धी ना, धा तू ना, धा धी ना, धा तू ना' दादरा ताल के ठाह, दुगुन और त्रिगुन की ताली के साथ-साथ मन ही मन उनका सोलो गायन भी चलने लगा था। इसी कजरी के बाद तो कुसुम जिज्जी को भी ठुमरी गानी थी। पहली बार उन्हें इतना बड़ा मौक़ा मिला था। वो आहिस्ता आहिस्ता मंच की सीढ़ियां चढ़ रही थीं, होठों से मुस्कान के मोती झर रहे थे, लाल चौड़े पाड़ वाली क्रीम कलर की साड़ी के पल्लू को सलीके से आगे सरकाती हुई मंच पर जब वो बैठीं, और

लंबी नाक में चमचमाती हीरे की लौंग पर जैसे ही रोशनी पड़ी-मानो दिये जल उठे। बनारसी पान की ललाई उनके होठों पर ऐसे फब रही थी कि उसके सामने ब्रांडेड लिपस्टिक का रंग भी फीका लगे। आंखों में गहरा काजल, माथे पे लाल बिंदी उनकी खूबसूरती में चार चांद लगा रहे थे। तानपूरे और तबले के मिलान के बाद जब उन्होंने बोल-आलाप लिया तो दर्शक हवा में इठलाती टहनी की तरह झूमने लगे थे। उन्होंने जब बोल-बनाव की ठुमरी गायी, तो रसिकों के बीच से आवाज़ आई-'वाह खटका और मुरकी का कैसा अदभुत समन्वय है'। उनकी गायकी से, राधा-कृष्ण के प्रेम और नोंक झोंक का दृश्य तिलस्म पैदा कर रहा था।

बारिश हो या कड़ी धूप, हर मौसम में कुसुम जिज्जी के गायन के कंसर्ट में हॉल खचाखच भरा रहता। हॉल में पिन-ड्रॉप-साइलेन्स बना रहता था शुरू से आखिर तक। कुसुम जिज्जी के पास स्मृतियों का विराट समुद्र है, जिसमें अकसर ही वो गोते लगाती हैं। कई बार तो वो ये भी चाहती हैं कि इन सुरीली यादों की बूंदों से उनके घर वाले भी भींगें। खासतौर पर वो पारुल को बहुत कुछ बताना चाहती हैं क्योंकि पारुल उनके साथ परछाईं की तरह रहती है। लेकिन पारुल के तो अपने ही जोड़-घटाव हैं। कुसुम जिज्जी के करीब बस उतना ही रहना चाहती है, जब तक उसे फायदा पहुंचता रहे। पारुल का बस चले तो कुसुम जिज्जी की यादों के सिक्कों को या तो बाज़ार में भुनाए या फिर 'फिक्स डिपॉजिट' करके दोगुना होने तक इंतज़ार करे। लेकिन स्मृतियां किसी तिजोरी में भला कहां कैद होती हैं, वो तो मन की वादी में हमेशा भटकती हैं तो कुछ स्मृतियां इंसान के जीने का मक़सद बन जाती हैं। आज जब भी पारुल कुसुम जिज्जी के कंसर्ट के लिए कोई सिटिंग रखती है, तो उनका दिल खुद से विद्रोह करता है...और व्रिदोह के उन पलों में उनका तनाव और दर्द जैसे किसी एकालप की तरह बहने हैं। ...दरअसल जब उम्र का सूरज ढलता है तो सपनों के रंग फीके पड़ जाते हैं। पूरी दुनिया बेनूर लगने लगती है। आवाज़ में कशिश तब आती है, दिल में खुशी की धूप खिली हो... लेकिन मेरी दुनिया में तो हमेशा ही बदली छायी रही, इतना गहन अंधेरा है कि किसी का चेहरा पहचान नहीं आता। बहू, बेटे, पोते सब अदृश्य हैं। उम्र के इस पड़ाव में इतनी अकेली हूं जैसे पहाड़ी किले में कोई मंदिर। कोई भूला-भटका आकर फूल चढ़ा जाता है। मेरे लिए समय जैसे अविरल बहाव है जिसमें ना कोई तारीख है, ना कोई समय, ना ही कोई पर्व है। फिर भी पारुल सिटिंग करती है, तारीख तय करती है और मैं गाने को तैयार हो जाती हूं..... अब और नहीं.... आखिर उम्र के इस ढलान में मैं क्यों गाऊं...किसके लिए गाऊं... गाकर क्यों इनका पेट पालूं, जबकि मेरे इस परिवार में मुझे सिर्फ कांटे ही कांटे दिये हैं। पिछली बार जब मैं बीमार होकर बिस्तर पर थी, झूठ-मूठ को भी कोई मेरे पास नहीं फटकता था, जैसे-तैसे बोझ की तरह पारुल दो वक्त खाना पटक जाती थी, वो खाना मैंने खाया या नहीं, ये देखती भी नहीं थी... और मैं अपना कांपता हाथ तकिये के नीचे ले जाकर टटोलती थी, दवा का पत्ता ढूंढती थी और दवा निग़ल लेती थी। पोते को मेरे क़रीब इसलिए नहीं आने दिया जाता था कि मेरी बीमारी से उसे इंफेक्शन ना हो जाए। मेरे कान तरस गये, इस वाक्य के लिए-'मां बस करो, तुम अब आराम करो...तुम्हें कुछ चाहिए तो नहीं'। लेकिन कहां.... इस घर के लिए तो मैं सिर्फ ए.टी.एम मशीन हूं। पर क्या कहूं अपने मन को, ये भी बड़ा अजीब है। नहीं गाती हूं तो भी चैन नहीं मिलता। बचपन से आज तक गायकी जैसे रगों में घुली मिली है। बिना गाए तो मैं जी भी नहीं सकती। ये गाना ही तो है, जिसने मुझे जिंदगी की कड़ी धूप में ठंडी छांह दी है।

'बाज़ूबंद खुल-खुल जाये सँवरिया रे... कैसा जादू डारा रे

जादू की पुड़िया भर-भर मारी रे... क्या जाने बैद बेचारा रे...'

राग भैरवी की ये बंदिश उन्हें बहुत पसंद हैं। अपनी तन्हाई में कुसुम जिज्जी गाने के तरह -तरह के प्रयोग करती हैं। अभी वो दीपचंदी ताल की इस बंदिश को कहरवा ताल में बदलने की कोशिश कर रही हैं.... धागे नाती नाक धिन...

जैसा मीठा गला, वैसा ही ठसकदार कुसुम जिज्जी के गाने का अंदाज़। ग़रीब परिवार में पली-बढ़ी कुसुम जिज्जी अपनी दम पर कामयाब हुईं। पिता ने उन्हें इस डर से नहीं पढ़ाया कि वो पढ़-लिखकर कर भाग जायेंगी। घर में उनके गाने का जमकर विरोध हुआ। लेकिन कुसुम जिज्जी कहां मानने वाली थीं। गायकी उनकी रग-रग में, सांसों में बसी थी। जब वो छोटी थीं, तो गाना सीखने के लिए उन्होंने जिद ठान ली, -'गाना सिखाओ वरना कुंए में कूदकर जान दे दूंगी'। घर वाले उनकी जिद के आगे लाचार हुए और उस्ताद रहमत ख़ां से गंडा बंधवा दिया और उन्हें गाने की तालीम दिलवाई गयी। इस तरह शुरू हुआ था, उनके गाने का सफर।

उन्हें गाने और तारीफ बटोरने का इतना शौक़ था कि शुरूआती दौर में जब वो मंच पर गातीं, तो सहेलियों और रिश्तेदारों से कह देतीं, कि मैं रहूँगी मंच पर, तुम लोग तालियां बजाने आना। धीरे-धीरे सिलसिला बढ़ता गया और गायिका के रूप में वो मशहूर होने लगीं।

गायकी तो जैसे उनके लिए कुदरत की एक अनमोल नेमत थी। दर्शकों में बैठे वो लोग, जो पेशे से व्यापारी थे- लेकिन थे संगीत के क़द्रदान, कुसुम जिज्जी के शो के बाद उन्हें दंडवत प्रणाम करते और उपहार स्वरूप सोने चांदी के गहने और रुपए देते थे। गायकी के इन्हीं पैसों और उपहारों से कुसुम जिज्जी के भाई-बहनों की परवरिश हुई। कुसुम जिज्जी बड़ी सरल मिज़ाज की थीं। जिन्होंने कभी अपने लिए जीना नहीं सीखा। हर कोई उनसे बेपनाह मोहब्बत करता। जब जिसे जरूरत पड़ती वो उनसे पैसे वसूल ले जाता था। आज के ज़माने में ऐसी मदर टेरेसा कहां मिलेंगी भला। ठसकदार रोबीले व्यक्तित्व को लोग आज भी नमन करते हैं। मजाल है कि उम्र में छोटे लोग उनसे नज़र मिलाकर बात करें। बावजूद इसके कुसुम जिज्जी अपनी सरलता और मासूमियत से वो पेशेवर ऊंचाई नहीं छू पायीं जिसकी वो हक़दार थीं। अपनी काबलियत से उन्हें शोहरत तो खूब मिली, पर दौलत नहीं मिल पायी, जो उनके ठाट-बाट को रौनक कर सके। लेकिन हां, अपनी गायकी के दम पर उन्होंने अपने बेटी-बेटे को अच्छी परवरिश दी। बेटी तो ब्याहकर चली गयी ससुराल, लेकिन बेटा हो गया नालायक। जब तक पति साथ थे, गाने में अड़चनें ही पैदा करते थे। उस ज़माने में औरतों का स्टेज पर गाना निचले दर्जे का माना जाता था। उनके पति को कतई गवारा नहीं था कि उनकी धर्म-पत्नी उस ज़माने की मशहूर गायिकाओं की तरह कुसुम-बाई के नाम से विख्यात हों। बहरहाल, कुसुम जिज्जी की जिंदगी में परेशानियों की धुंध भी छायी, कामयाबी की रोशनी भी हुई। अंधेरे और उजाले के इस संघर्ष में धीरे-धीरे कुसुम जिज्जी के पास कामयाबी के तमग़े आते चले गये। लेकिन उनकी निजी जिंदगी में अंधेरा गहराने लगा। एकाकीपन बढ़ता गया। लेकिन वो थकी नहीं, उम्र की इस दहलीज़ पर ना आराम है, ना दिली सुकून, ना ही अब वो शोहरत रही। किसी आयोजक का एक फोन आता है, तो पारुल दसियों फोन करती है- और जुगाड़ करके एक स्टेज प्रोग्राम फिक्स करवा ही लेती है। और उसके बाद कुसुम जिज्जी की सिफारिश शुरू कर देती है। फिर तो उनकी सेवा में कोई कमी नहीं रहती। कुसुम जिज्जी को मिश्री डालकर गरम पानी देती है। तुलसी और काली मिर्च का काढ़ा बनाकर देती है। इस डर से कि कहीं उनका गला ना ख़राब हो जाए। पारुल की इस एहतियात से कुसुम जिज्जी का गला बिलकुल दुरुस्त रहता है। भले ही शरीर उनका जर्जर हो, लेकिन उनका मन और गला कभी नहीं बिगड़ता।

...'दादी दादी, आपकी फोटो फट गयी.......ये अख़बार'

'अरे ये तो मेरे सम्मान की तस्वीर है रे।'

'लेकिन दादी इस अखबार में भेल वाला भेल बेच रहा था। मैंने देखा तो उससे माँगकर ले आया।'

कुसुम जिज्जी अवाक रह गयीं... जैसे अखबार की तरह उनके दिल के भी कई टुकड़े हो गया हों। दर्द जैसे छाले में बदल गया......तन्हा मन उदासी के उस जंगल में चला गया, जहां कोई ऐसा पौधा नहीं जिसमें हरापन हो... शुष्क बेजान.... ठूँठ पेड़ों में मैं खोज रही हूं रिश्तों की बीर बहूटी। जब यहां मिट्टी ही नहीं है, सिर्फ कंकड़-पत्थर वाली बंजर धरती है, तो बीज कैसे रोपे जाएंगे.... कहां से जड़ पकड़ेगी... ये घर तो दूर तक फैला निर्जन मरूस्थल है जिसमें सिर्फ रेत के टीले हैं, जो भरभराकर कब के गिर चुके हैं। मुझे ये पता है, फिर भी मैं झूठी उम्मीद पर जी रही हूं। इस घर में मेरी अहमियत सिर्फ एक ग्रामोफ़ोन जितनी है, जब चाहा बजा लिया, फिर एक कोने में सजा दिया। लेकिन अब मैं इनकी ज़रूरत नहीं पूरी करूंगी। हर बार तो सोचती हूँ, अब नहीं गाऊँगी... पर गाने का मोह छूटता भी कहाँ है... पारुल कोई न कोई स्टेज शो मैनेज कर ही लेती है और मैं.... कभी अपने लिए तो कभी इनके लिए....

'दुल्हन तुमने ये क्या किया'

'जिज्जी वो रखने की जगह नहीं थी ना। अब नये घर में ये कूड़ा-कबाड़ कहां रखा जाए। इसलिए मैंने रद्दी वाले को दे दिया। हां एक कॉपी रख ली है। बस इतना काफी है ना।'

'दुल्हन, तुम्हें याद है। इससे भी छोटा घर था, जब रौनक पैदा हुआ था। उसका एक-एक खिलौना, एक एक कपड़ा मैंने संभाल कर रखा था जिसे झाड़-पोंछकर तुम अब भी इस्तेमाल करती हो।'

पारुल जा चुकी है... कूड़ा कबाड़! ये रद्दी, ये कूड़ा-कबाड़ ही मेरे जीवन का आसरा है। इसी ने मेरे भीतर सुरों की सरिता प्रवाहित की है। फांस की तरह चुभ गया यह शब्द कुसुम जिज्जी के भीतर। कुसुम जिज्जी का मन पीड़ा से आर्द्र हो गया है। ये काग़ज़ के टुकड़े, ये तस्वीरें, संगीत की नोट-बुक, बंदिशों की स्वर-लिपियां, पुरानी डायरी... ये तो मेरी यादों के दस्तावेज़ हैं... मेरी तन्हाइयों के हमसफर... नोटबुक के पन्नों में मुरझाए फूल मेरे आंसुओं से मुस्कुराने की फरियाद करते हैं। डायरी के पन्नों में कुछ शब्द हैं, कुछ भाव हैं, अंजुरी भर सरगम है जिसके सहारे मैं जीती हूं, वरना इतनी सारी बीमारियों को ओढ़कर मैं कब की मर चुकी होती। मैं अपने ही कोखजने बेटे और बहू पर बोझ बन गयी हूं। ये मेरी लाचारी का फायदा उठाते हैं। मेरे दुख, मेरी पीड़ा उन्हें दिखायी नहीं देती। इन लोगों को मुझसे सिर्फ पैसों का सरोकार है। शायद मैं जिस दिन पैसों का जरिया ना रहूं, उस दिन ये लोग मुझे निकाल फेकेंगे घर से। चश्मे की डंडी टूटी है। कई दिनों से एक हाथ से डंडी पकड़कर काम चला रही हूं। मैं इनके लिए भला क्यों गाऊं। अब मैं नहीं गाऊंगी। मैं क्यों इतना कष्ट सहूं इनके लिए। अब तो कुर्सी पर बैठते भी नहीं बनता... कमर और घुटनों में असह्य पीड़ा होती है। लेकिन करूं क्या... दुल्हन फिर रोना रोएगी... आप गाएंगी नहीं तो आपके पोते की पढ़ाई का ख़र्च कहां से आएगा, हमारे लिए ना सही, उसके लिए तो गाइये। मैं इनके दिए दुखों से रोज़ तार-तार होती हूं फिर भी पारुल की एक चिरौरी पर गाने को तैयार हो जाती हूं.....

'...पारूल मेरे तानपूरे का तार टूटा है। कितनी दफ़े कहा, ठीक करवा दो।'

... मेरे ब्लाउज़ की तुरपाई भी नहीं की ना...लोग क्या कहेंगे कि मैं इतनी बड़ी गायिका और उधड़ा हुआ ब्लाउज़... हर प्रोग्राम के बाद जब पैसे मिलते हैं तो सोचती हूं अपने लिए दो-चार साड़ी-ब्लाउज़ खरीद लूंगी, लेकिन उससे पहले ही तुम्हारी ज़रूरत की चीज़ों की लंबी लिस्ट तैयार हो जाती है... चाह के भी नहीं कह पाती हैं कुसुम जिज्जी और कराहती हुई धीरे-धीरे अपने शरीर के बोझ को उठाने की कोशिश करती हैं.... सुई में धागा डालने की कोशिश करती हैं... सुई के चुभने से रिस आई खून की कुछ बूंदों से बेखबर...

नए घर के हॉल में लोगों की भीड़ जमा है। कुसुम जिज्जी के पिछले कंसर्ट के पैसों से आए नए म्यूजिक सिस्टम की तेज़ आवाज़ों से कमरा गूँज रहा है। म्यूजिक बंद होने पर लोगों की हँसी और क़हक़हे छन-छनकर भीतर वाले कमरे तक चले आते हैं, जहां बैठी हैं कुसुम जिज्जी। चारों ओर संगीत का शोर है। चहल-पहल है। लेकिन कुसुम जिज्जी के भीतर एक खोह है, जहां सिर्फ ख़ालीपन है, वीरानी है और है इक दश्त। उनकी घुटनों की तकलीफ़ बढ़कर ऑस्टियोपोरोसिस में बदल गयी है। बिना सहारे के वे उठ भी नहीं सकतीं। पारुल हाथ में उपहारों का बंडल लिए कमरे में दाखिल हुई, जल्दी-जल्दी आलमारी में रखकर बाहर निकल ही रही थी कि कुसुम जिज्जी ने आवाज़ लगाई- 'दुल्हन-दुल्हन, भूख लग आयी है। खाना ले आओ।

'अं.. हां जिज्जी।'

'गोली खाने का वक्त हो गया है दुल्हन।'

'आई जिज्जी' कहती हुई पारुल कमरे से जो बाहर गयी तो पलटकर नहीं आयी।

जब किसी कंसर्ट की तारीख़ तय होती है तो दुल्हन कैसे दौड़-दौड़कर मेरी सेवा करती है। कुसुम जिज्जी मन ही मन बुदबुदाईं..... उसे तो मिल गया है नया घर। अब फिलहाल मेरी जरूरत नहीं है। प्रोग्राम ख़त्म तो कुसुम जिज्जी की देखभाल भी ख़त्म। रद्दी की टोकरी में पड़े बेकार सामान की तरह मैं घर के एक कोने में पड़ी रहती हूं.......वॉश-रूम जाना है। सालों से डायबिटीज़ की पीड़ा से जूझ रही हैं। बिना सहारे के वॉश-रूम नहीं जा सकती हूं... पारुल को ये बात अच्छी तरह पता है... लेकिन वो अपनी खुशियों में मस्त है, उसे तमाशे और नाच के सिवा कुछ नहीं दिखायी दे रहा। मस्त रहें मस्ती में, आग लगे बस्ती में।

बेटे को जब पैसों की ज़रूरत होती है, तब उसे अपनी मां यानी कुसुम जिज्जी याद आती हैं। शाम से अब रात हो चली है। पार्टी का शोर मद्धम होता चला जा रहा है और कुसुम जिज्जी के भीतर का अकेलापन लगातार गहरा... ठसकदार शख़्सियत, एक मशहूर गायिका घर के एक कोने में बैठी खाने का इंतज़ार कर रही है। उसकी भूख शांत हो, तो वो दवा खाए। कोई आकर सहारा दे तो वो वॉश-रूम जाएं। अब तो उनकी साड़ी भी गीली हो चुकी है। ऑस्टियोपोरोसिस की तकलीफ इन दिनों इतनी बढ़ गयी है कि डॉक्टर की दवा भी कभी-कभी काम नहीं करती है। एक की बजाय कई बार दर्द की दो गोलियां लेनी पड़ती हैं। थोड़ी राहत और फिर तकलीफ़ शुरू। कमाल की बात तो ये है कि

कुसुम जिज्जी का शरीर तो जर्जर हो गया है लेकिन आवाज़ आज भी ताज़ा है, गला उनका आज भी जवान है। आवाज़ में पहले जैसी बुलंदी, लोच और कशिश बरक़रार है। शरीर की तकलीफ़ मन को भी बेचैन करती है। एक कलाकार बेहद बेचैनी के पलों में अपनी कला से इश्क़ फ़रमाता है। जहां सारे दर्द, दर्द की सीमा से ऊपर हो जाते हैं। इश्क़ में दर्द का अहसास मीठा लगता है। अकसर कुसुम जिज्जी के साथ भी ऐसा ही होता है। जब वो कराहने लगती हैं - तो अपने साज़ उठाती हैं। छेड़ती हैं कोई राग, सुरीले आलाप और तान के बाद......गाती हैं विलंबित और द्रुत ख्याल की बंदिश। और फिर अपनी इस प्रिय ठुमरी में डूब जाती हैं...

'भर भरी आयीं मोरी अंखियां पिया बिन...

घिर घिर आयी कारी बदरिया..

धड़कन लागी मोरी छतियां।'

अतीत के सबसे ऊंचे पहाड़ पर चढ़ रही हैं कुसुम जिज्जी। यादों की मीठी बारिश में आज फिर भींग रही हैं वो। मन के आईने में कामयाबी के भूले-बिसरे चित्र आज फिर उभरे चले आ रहे हैं...

कुसुम जिज्जी बैठे-बैठे ही अपना घुटना मोड़कर घिसट कर थोड़ा आगे तक सरकीं तो तिपाई तक हाथ पहुंच गया। तानपूरे का ऊपरी सिरा हाथ आया, उसे अपनी ओर खींचा। बूढ़े-झुर्रीदार हाथों में इतनी ताक़त नहीं बची कि तानपूरे को सही पोज़ीशन में लाकर अपने सामने खड़ा कर सकें। तानपूरा आधा लेटा कर उसका कवर हटाया, साड़ी के पल्लू से उस पर जमी धूल साफ की। और फिर धीरे-धीरे खुलता गया, उनके मन का भीतरी परदा। यादों के साज़ पर पड़ी गर्द भी साफ़ होती गयी। उस पार ठहरा अतीत, आंखों के सामने झिलमिलाने लगा। अपने गाने पर हॉल में बज रही तालियों की गूंज, उनकी गायकी की लहरों से सराबोर होते दर्शक-श्रोता, ग्रामोफ़ोन कंपनियों के लिए गाना, एल-पी रिकॉर्ड्स का रिलीज़ होना, दुनिया भर में मशहूर होना, अपना दमकता हुआ जवान चेहरा, रिकॉर्ड के कवर पर छपा अपना श्वेत श्याम चित्र, रिलीज के बाद की पार्टी और रेडियो-पत्र-पत्रिकाओं में इंटरव्यू—चलचित्र की तरह आंखों के सामने घूमने लगे। सरपट भागती ट्रेन की तरह गुज़र गये वो दिन। और बचा रह गया पटरियों का धड़कना। कुसुम जिज्जी इस वक्त सवार हैं यादों की ट्रेन पर। अनगिनत स्टेशन आ रहे हैं यादों के। वर्षा-चौमासा के चार दिनों का बहुत बड़ा आयोजन था, जिसमें कजरी, चैती, टप्पा, ठुमरी गाकर खूब शोहरत पायीं और पहली बार उन्होंने आयोजकों के सामने पैसों के लिए ज़बान खोली थी। उन्हें मुंह-मांगी रकम मिली भी थी। उन्हीं पैसों से बेटे के लिए गाड़ी ख़रीदी। किराए पर चलवाई। लेकिन 'पूत सपूत तो का धन संचय, पूत कपूत तो का धन संचय'। यादों के समंदर में ग़ोते लगाती कुसुम जिज्जी ने जब तानपूरे के तार को छेड़ा, तो अहसास हुआ कि तार तो कब के ढीले पड़ गये....तानपूरा अब बेसुरा हो गया है, लेकिन एक कलाकार की जिद के सामने साज़ को अपनी जिद छोड़नी पड़ती है। आखिरकार तानपूरा मिलाया और कुसुम जिज्जी को अहसास ही नहीं हुआ कि उनके कंठ से ठुमरी के ये बोल फूटने लगे हैं......

'घिर आयी कारी बदरिया,

राधे बिन लागे ना मोरा जियरा.....

बदरा बरसे, नैना बरसे,

घन और श्याम की लागी है होड़वा,

राधे बिन लगो ना मोरा जियरा'।

इस ठुमरी के साथ, बोल-आलाप और बोल-तान कुसुम जिज्जी गा रही हैं। कहीं भी उनका सुर भटक नहीं रहा है। बाक़ायदा खटका-मुरकी, गमक और मीड़ का वैसा ही प्रयोग जैसा वो मंच पर पहले करती उनके गाने का वही ठसकदार अंदाज़ आज भी कायम है। जब मंच पर वो गाती थीं तो हॉल में तालियों की गूंज होती थी। हालांकि अब कुसुम जिज्जी सिर्फ दौलत के लिए मजबूरी में गाती हैं, बेटे-बहू की ज़रूरतों के लिए... पोते को एम बी ए कराना है ... बेटे को दुकान ख़रीदनी है... दुल्हन को हर महीने ब्यूटी पार्लर जाने के लिए पैसे चाहिए। सब्जियों, फलों और अनाज के दाम आसमान छू रहे हैं। जिनके घर में हर सदस्य कमाता है, वहां भी किल्लत मची है। यहां तो ढंग से कमाने वाला कोई है भी नहीं। कुसुम जिज्जी के भीतर पकता फोड़ा टभकता है बेतरह... गाती हूं मैं, गाने के पैसे लेती है पारुल, उन्हीं पैसों से आत है घरेलू सामान, पकती है रोटी। यही रोटी रोज़ मुझे सबके खाने के बाद मिलती है।

'कुसुम जिज्जी, कुसुम जिज्जी, सुनिए तो, ग़ज़ब हो गया, अपने तो भाग खुल गये'... ये पारुल थी, जिसकी आवाज़ सुनकर कुसुम जिज्जी की ठुमरी का स्वर वहीं रुक गया।

'हुआ क्या दुल्हन, तुम्हें कब से आवाज़ दे रही हूं। भूख से मेरा कलेजा मुंह को आ रहा है। कमर-घुटने ऐसे अकड़ गये हैं कि बैठे नहीं जा रहा है। कमर दर्द सहा नहीं जा रहा है। गाना शुरू किया तो दर्द ज़रा कम हुआ...' पारुल ने तानपूरा जिज्जी के हाथों से लगभग छीनते हुए जल्दी जल्दी उसे प्रणाम किया, जैसे तानपूरा ही उसकी सांस हो। उसे तिपाई पर खड़ा कर दिया।

'क्या कर रही हो दुल्हन, मेरा तानपूरा कहां हटा रही हो। बड़ी मुश्किल से मैंने इसके तार ठीक किये हैं।' पारुल की आवाज़ ने जैसे कुसुम जिज्जी को सबकुछ बता दिया है... जरूर किसी कार्यक्रम का गुगाड़ कर आई है... अब वह इस तानपूरे के एक-एक तार को बेचेगी... एक-एक तार की कीमत वसूलेगी...

पारुल की आवाज़ों को जैसे पंख लग गए हैं... - कुसुम जिज्जी, इस बार तो आपके लिए नया तानपूरा ख़रीद लायेंगे, यही नहीं सितार, गिटार, ढोलक, मजीरा, हारमोनियम सब ख़रीद देंगे। अब हम अपनी दुकान ख़रीद सकेंगे। एक बार जो दुकान चल पड़ेगी, तो फिर आपको हम मसनद पर बिठा कर रखेंगे। आप सिर्फ कंठी-माला लेकर राम नाम जपियेगा। बस एक आखिरी बार हमारे लिए गा दीजिए मंच पर'। कुसुम जिज्जी की एक न सुननेवाली पारुल अचानक ही उनकी चिरौरी पर उतार आई है...

'दुल्हन, आंखें थक गयीं इंतज़ार करते-करते। भूख से अंतड़ियां अंदर घुस गयी हैं...' सूखे होठों पर जीभ फेरते-फेरते कुसुम जिज्जी की आंखों में अटके मोती गालों पर ढुलक आए हैं।

एल.ई.डी. लाईट की तेज़ रोशनी में भी कुसुम जिज्जी के सामने स्याह अंधेरा छा गया। दिमाग़ चक्कर खाने लगा। जैसे अब वो गिर पड़ेंगी। हॉल से छन-छन कर आता शोर कुसुम जिज्जी के कानों को चोट पहुंचा रहा है... कुंडी मत खटकाओ राजा, सीधा अंदर आओ राजा'- पारुल इन बेढब बोलों के साथ सुर मिलाती हुई, झूमती कुसुम जिज्जी के गले में हाथ डालकर झूल गयी। कुसुम जिज्जी का नथुना तेज दुर्गंध से भर जाता है। और वो झटके से अपना मुंह दूसरी तरफ फेर लेती हैं। उनका रुका हुआ बांध टूट जाता है। दर्द बेतरह फट पड़ता है। शरीर और मन ज़ार-ज़ार रोने लगते हैं। उन्हीं की कमाई से ये घर आबाद हुआ है और वही घर के एक कोने में... उनकी साड़ी अभी और गीली हो गयी है... घर के दूसरे हिस्से से आता शोर और तेज हो गया है... ले ले रे सेल्फी ले ले रे...

मेहमान जा चुके हैं। जश्न का शोर भी थम चुका है... पारुल कुसुम जिज्जी को बच्चों की तरह बहलाने की कोशिश करती है। उसने कुसुम जिज्जी का रेडियो ऑन कर दिया है... उन्हें सहारे से उठाकर वॉशरूम ले जाती है। 'सरगम ग्रुप वाले एक बहुत बड़ा स्टेज प्रोग्राम कर रहे हैं। उन्हें कल ही एक प्रोग्राम के लिए दुबई जाना है इसलिए वो लोग आपसे इसी वक्त मिलना चाहते हैं। चलिए जिज्जी आपको हाथ मुंह धुलाकर खाना खिला देती हूं। फिर ये नयी साड़ी पहन लीजिए। तैयार हो जाइये। वो लोग अभी आयेंगे और आपसे मिलेंगे। एडवांस पचास हज़ार का चेक देने का वादा कर गये हैं। लगता है हमारे भी अच्छे दिन आ गये हैं जिज्जी'।

पारुल खुशियों के समंदर में डुबकी लगा रही है। कुसुम जिज्जी उदासी से तार-तार झीनी हुई जा रही हैं। पारुल हाथ में साड़ी लिए खड़ी है। कुसुम जिज्जी साड़ी की तह खोल कर उसमें पड़ी शल ठीक कर रही हैं। पारुल उन्हें हाथों से सहारा देती है। दोहरी हुई कमर के दर्द से कुसुम जिज्जी चीत्कार कर उठती हैं.... 'उफ़......घुटने तो सीधे ही नहीं हो रहे दुल्हन... यूं ही पहना दो ना साड़ी...'

पारुल ने साड़ी अपने हाथों में ले ली है... FM पर चल रहे शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रम के बीच एक विज्ञापन आ रहा है... पुरानी चीज़ों को मत फेंकिए... ओ एल एक्स पर बेचिए... कुसुम जिज्जी की कराह और इस विज्ञापन के शब्द आपस में घुल-मिल से गये हैं... और अब...

'सखी मोरी कोई ना जाने पीर

मोरे नैना बहाए नीर

सांवरिया मोरा दरस दियो ना

लागे हृदय में तीर.....'

ढलती रात के सन्नाटे में राग मारवा की यह बंदिश कुसुम जिज्जी के कलेजे में टीस पैदा कर रही है... ना तो इस रात का कोई अंत है, ना उनकी पीड़ा का।

801, Casa Bellisimo
Plot no 9. Gorai 3
Behind Gorai Bus Depot
Borivali west
Mumbai- 400092 MH

काशीनाथ सिंह

पाठक मेरे लिए अमूर्त कभी नहीं रहा

मेरे लिए कुछ भी पूर्वनिश्चित, निर्धारित और स्थिर नहीं रहा-चाहे वह कहानी हो या पाठक। जैसे जैसे समय बदला, उसके साथ मैं बदला, नतीजतन कहानी भी बदली और मेरे पाठक भी। पाठक मेरे लिए अमूर्त कभी नहीं रहा। आज वे मेरे पाठक नहीं हैं जो पहले कहानी संग्रह के दिनों में थे!

मैंने जब शुरूआत की थी तो सिर्फ इतना जानता था कि कोई भी 'क्राइसिस' या 'आइडिया' या घटना कहानी का विषय हो सकती है- और यह भी नामवर जी की 'कहानी : नयी कहानी' पढ़कर; पुरानी और नयी कहानियों का अध्ययन कर के। चूँकि कहानी कविता या आलोचना नहीं है इसलिए उसमें कहानीपन या किस्सागोई भी होना चाहिए।.. और मैंने शुरू कर दिया था बग़ैर इस बात की चिन्ता किये कि क्यों लिखना है ? मैं लेखक होना चाहता था- कि लोग जानें कि मैं भी लेखक हूँ? कौन लोग? लेखक, पत्रिकाओं में रुचि रखने वाले! पढ़े-लिखे साहित्यप्रेमी लोग।

इसके सिवा कोई बात थी तो वह यह कि जीवन की घुटन, एकरसता और ऊब के बारे में भी लिखूँ तो कहानी नीरस और निर्जीव न हो। उसमें जीवन की गंध बनी रहे।

सन् 67 में राज्यों में संविद सरकारें बनीं और पश्चिम बंगाल में नक्सलबाड़ी विद्रोह हुआ। उस आन्दोलन के कुछ ग्रुप्स बनारस में भी सक्रिय हुए। मैं भी उनसे जा टकराया। उनमें से एक ग्रुप का कहना था कि साहित्य-वाहित्य एकदम फालतू चीज़ है। मोटमर्दी और ऐशो-आराम की चीज है। आन्दोलन से उसका क्या लेना-देना? दूसरे ग्रुप का कहना था- नहीं, इसकी भूमिका है हिरावल दस्ते की। बुर्जुआ जनतंत्र के अन्तर्विरोधों को उजागर करने की, सामन्तों-पूँजीपतियों से लड़ने वालों की बड़ी तादाद है, उनके संघर्ष की आवाज़ उठाने की, अपनी कलम उन्हें ताकत, विश्वास और समर्थन देने की; उन्हें लगे कि उनके साथ देश के बुद्धिजीवी और कलमकार भी हैं... आदि! तो हम क्यों

लिखें ? किसके लिए लिखें ? ये सवाल जो मेरे भीतर उठ रहे थे उनके उत्तर जैसे मुझे मिल गए और मैं आपातकाल तक उसी मिज़ाज की कहानियाँ लिखता रहा। उनमें से कोई कहानियों की प्रशंसाएं भी हुईं।

ये कहानियाँ लघु पत्रिकाओं में छपी थीं और इनको पढ़ने वाले ज्यादातर प्रगतिशील और जनवादी थे। इनके सिवा थे तो राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में काम करने वाले किसी-न-किसी संगठन के कार्यकर्ता या जे.पी. आन्दोलन के भागीदार। किसी कहानी को समझने में उन्हें कोई दुविधा नहीं हुई थी। ये ही मेरे प्रबुद्ध पाठक थे और मुझे संतोष था।

लेकिन यह संतोष बहुत दिनों तक कायम नहीं रहा 78 में 'आदमीनामा' के बावजूद। 'सुधीर घोषाल' 'मुसइचा' 'लाल किले के बाज' की चर्चा के बावजूद। मुझे लग रहा था कि ये पाठक पढ़े-लिखे हैं, विशिष्ट हैं, सामान्य नहीं। जैसा मैं, वैसे वे। जैसे मैं ही लिख रहा हूँ, मैं ही पढ़ रहा हूँ, मैं ही अपनी पीठ भी थपथपा रहा हूँ। सामान्य से मेरी मुराद भी उस पाठक से जिसका कर्मक्षेत्र साहित्य न हो। जो पढ़ना तो चाहता हो लेकिन समय काटने के लिए नहीं, मनोरंजन के लिए नहीं, पढ़ना चाहता हो कहानी या उपन्यास लेकिन खुद को पाने के लिए, अपनी पास-पड़ोस की छवि देखने के लिए, जाने-अनजाने लोगों की छवियाँ, जीवन की छवियाँ। और जिस कहानी- उपन्यास में अपनी जैसी छवि की झलक मिल जाती है, वह उसके साथ हो लेता है।... उन दिनों पूरे देश में प्रेमचंद की जन्म शताब्दी मनाई जा रही थी! मेरे दिमाग में बार-बार आ रहा था कि जहाँ बहुत-से कथाकर इतिहास बन चुके हैं, वहीं प्रेमचंद हमारे वर्तमान ही नहीं, भविष्य भी बने हुए हैं- जबकि न हल-बैल रह गए हैं, न वे खेत-खलिहान। आखिर क्यों ?

बहरहाल, अपनी इसी समझ के साथ मैंने कुछ कहानियाँ लिखीं 'अपना रास्ता लो बाबा' 'कहानी सराय मोहन की' 'सदी का सबसे बड़ा आदमी।' ये कहानियाँ मैंने मौज में लिखीं ! कोई तनाव नहीं। स्वाभाविक रंग में ! लिखने में भी मज़ा आया! जैसे बहुत दिनों की जद्दोजहद के बाद मुझे अपना 'फार्म' मिला हो। हर लेखक के साथ यह होता होगा।

पाठकों का दायरा कुछ बढ़ा। इन कहानियों ने रंगमंच का भी मुँह देखा मुझे लगने लगा कि छोटी कहानियों की तुलना में लंबी कहानियों या उपन्यासों में मैं ज्यादा खुलकर खेल सकता हूँ। छोटी कहानियाँ मुझे अपने नियंत्रण में ले लेती हैं और मैं जीवन की जैसी छवि उकेरना चाहता हूँ, संभव नहीं हो पाता।

रही बात पाठकों की तो उन्हें भले शिकायत हो, मुझे उनसे कभी किसी तरह की शिकायत नहीं है। वे मुझे स्वीकार करें या ठुकरा दें- यह उनका संवैधानिक हक है।

बी- 61, ब्रज इन्क्लेव कॉलोनी,
सुंदरपुर, वाराणसी-221005
मो. - 9235851597

प्रियंवद

मृत्यु के बाद कहानी मुझे रचेगी

जिस तरह मनुष्य के जीवन में उसका अन्य मनुष्यों के साथ संबंध होता है, लगभग उसी तरह, उसी स्तर पर, लेखक का अपनी रचनाओं के साथ संबंध होता है। अपनी कहानियों के जन्म से आज तक, मेरा उनसे कितना प्रगाढ़, अंतरंग और जीवंत संबंध रहा है, इस पर पहले कभी सोचा नहीं था। समय बीतने के साथ पुरानी कहानियों से अब कितनी संलग्नता शेष रह गई है और कितना कुछ विस्मृत हो गया है, इस पर भी ध्यान नहीं दिया था। पर आज जब सोच रहा हूँ, तो लगता है अपनी कहानियों से मेरा संबंध लगभग उसी तरह जटिल व अपरिभाषेय है, जिस तरह जीवन के अन्य संबंध हैं। इस नूतन भावबोध और विचार ने रचनात्मक संबन्धों की इन गुत्थियों में प्रवेश करने की उत्तेजना और उत्सुकता तथा समझने की जिज्ञासा बढ़ा दी है।

कहानियों से मेरा संबंध उसी क्षण शुरू हो जाता है, जिस क्षण उसका भ्रूण जन्म लेता है। भ्रूण यानी कहानी का पहला विचार, पहला बीज! इस भ्रूण का जन्म दो स्थितियों में होता है। 'एकांत के आत्मालाप' या फिर 'अव्यक्त की चीख' से। 'एकांत का आत्मालाप' वस्तुत: स्मृतियों का पुनर्सृजन या उनसे मौन संवाद होता है। 'अव्यक्त की चीख' किसी भी दमन के विरुद्ध मेरी अपनी असीमित स्वतन्त्रता और प्रश्नविहीन स्वच्छंदता की आकांक्षा का लालसामयी निनाद होती है। स्मृतियाँ जीवन का सर्वाधिक मूल्यवान प्राणतत्व होती हैं। निरंकुश स्वतन्त्रता मेरा मानवीय अधिकार भी है, मेरी उद्दाम लालसा भी और अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य भी। मेरी कहानी इन्हीं दो मनोवेगों से जन्म लेती है। स्मृतियों और लगभग अराजक स्वतन्त्रता के तंतुओं से। मेरी चेतना, मेरा अस्तित्व भी इन दो मनोवेगों से ही गुंथा-बुना है। इस तरह स्वत: ही, अत्यंत तर्कसंगत ढंग से, भ्रूण अवस्था में आते ही मेरी कहानियाँ मेरी सम्पूर्ण चेतना और अस्तित्व के साथ सघनतम, प्रगाढ़तम धरातल पर जुड़ जाती हैं। अपनी कहानियों से मेरे संबंध का यह प्रथम चरण होता है।

इस संबंध का दूसरा चरण इस भ्रूण को काया रूप में लाने तक की अवधि का होता है। भ्रूण से सम्पूर्ण काया बनाने तक यानी कहानी लिखने का यह कालखंड कितना

भी लंबा हो सकता है। महीनों का, वर्षों का भी। पर यह थकाता नहीं। उबाता नहीं। सर्दियों की धूप में हल्की आँच देने जैसा सुखद होता है। इस अवस्था से जल्दी मुक्त होने की इच्छा भी नहीं होती। जब यह अवस्था स्वत: समाप्त होती है, तो एक गहरी संतुष्टि, सार्थकताबोध, बर्फ की सिल्ली सा जमा सुख देर तक आत्मा पर बैठा रहता है। यही सुख कहानी से मेरे संबंध को शक्ति व स्थायित्व देता है। कहानी से मेरे संबंध का यह दूसरा चरण होता है।

इसके बाद इस संबंध का तीसरा चरण शुरू होता है। यहाँ कहानी एक कथित साहित्यिक जगत में प्रवेश करती है। अनेक लोगों के संपर्क में आती है। इस जगत में पत्रिकाएँ हैं, पाठक हैं, संपादक, आलोचक, प्रकाशक हैं। यहाँ पुरस्कार, शोध, यश-अपयश आदि संज्ञायें नक्षत्रों की भांति निरंतर गतिशील रहती हैं। यहाँ कहानी का वर्तमान, भविष्य सब तय होने का दावा किया जाता है। उसकी आयु, स्वीकृति, व्याप्ति, प्रभाव तय होता है। शुरू से ही यह जगत मुझे मायावी, छद्म भरा लगता रहा है। क्रूर और अक्सर हत्यारा भी लगता है। यहाँ कहानियों की, लेखकों की हत्याएं भी हो सकती हैं। किसी को भी अमरता देने के छद्म दावे किए जाते हैं। मैं अपनी कहानी को इस दुर्दांत जगत की देहरी पर अनाथ छोड़ कर लगभग निस्संग सा वापस लौट जाता हूँ, यह मानते हुये, कि कहानी से मेरा संबंध, मेरी भूमिका यहीं तक है। यह भी मानते हुये, कि मेरी कहानी में यदि सामर्थ्य होगी, शक्ति होगी, प्राण तत्व होगा, प्रभाव होगा, तो वह अपना भविष्य स्वयं रचेगी, सुरक्षित करेगी। यदि कहानी में ये सब नहीं होगा, तो उपर्युक्त जगत के किसी भी सूरमा में, रेत-कण के बराबर भी हैसियत नहीं है कि किसी कहानी को जीवित रख सके। इस जगत को लगभग महत्त्वहीन माननेवाला मैं नया नहीं हूँ। रचनाकारों का बहुत बड़ा वर्ग ऐसा रहा है जिसने इस जगत को सदैव तिरस्कार और उपेक्षा से देखा है। इसके विवेक, इसकी ग्रहणशीलता इसकी सच्चाई पर शंका की है। महाभारतकार ने कहा था कि मैं दोनों हाथ उठाकर बार-बार कह रहा हूँ पर मेरी कोई नहीं सुनता। भवभूति ने कहा था कि अभी मुझे कोई न समझे, पर धरती बहुत बड़ी है और काल निरावधि। कभी कहीं कोई तो मुझे समझने वाला होगा। ग़ालिब ने न किसी 'सताइश की तमन्ना' की थी न किसी 'सिला की परवाह'। ग़ालिब ने तो ऊब कर यह भी कह दिया था कि मेरे अशआर में अगर मानी नहीं हैं तो न सही। काफ्का ने अपने मित्र से कहा था कि उसका लिखा एक-एक शब्द जला दे। हेमिंग्वे ने इसीलिए आत्महत्या की थी कि वह कुछ रच नहीं पा रहे थे। यह सूची बहुत बड़ी है। बावजूद सारे फतवों, दावों और छलावों के, यह कथित साहित्यिक जगत किसी को लेखक नहीं बना सकता, अलबत्ता एक सीमा तक कहानी को समाप्त करने का प्रयास अवश्य कर सकता है। हालांकि वह इसमें भी सफल नहीं हो पाता। अपनी कहानी को इस देहरी पर निहत्था और अकेला छोड़कर मैं इसलिए भी लौट जाता हूँ, कि पाठक, पठनीयता, स्वीकृति, पुरस्कार आदि मुझे बहुत आश्वस्त या आकर्षित नहीं करते। मेरे और मेरी कहानी के अंतरंग सम्बन्धों में इनकी उपस्थिति लगभग नहीं है। भूमिका नहीं है। इनका स्वागत भी नहीं है।

इस जगत में कहानी को छोड़ देने के बाद उससे मेरा संबंध लगभग विराम की स्थिति में पहुँच जाता है। तब कहानियों के इस जीवन से मेरे संबंध का चौथा चरण शुरू होता है। यह संबंध कहानी की अपनी शक्ति से और मेरी अपनी शर्तों से, अपनी पसंद से निर्मित होता है। यह पुस्तक रूप में कहानियों का संग्रहीत होना है। पुस्तक रूप में कहानियों को लाने का उद्देश्य, सार्थकता व आवश्यकता इतनी ही भर होती है कि बिखरी स्मृतियाँ, आत्मालाप और चीखें एक जगह गठरी में बंध जाती हैं। सुरक्षित हो जाती हैं। मैं जब चाहूं इस भंडार में प्रवेश कर सकता हूँ। समान विचारों और भावनाओं के लोगों के साथ उसमें रहने का सुख पा सकता हूँ। बीते हुए समय में फिर यात्रा कर सकता हूँ। एक जीवन के साथ ही अतीत के जीवन का दुर्लभ सुख जी सकता हूँ।

कहानी से मेरे सम्बन्ध का पाँचवाँ और आकर्षक चरण कभी-कभी और उस समय संभव होता है, जब किसी कहानी को दोबारा रचना पड़ता है। 'खरगोश' फिल्म की स्क्रिप्ट लिखते समय पूरी कहानी फिर एक बार, दूसरे रूप में कुछ परिवर्तनों के साथ लिखी। यह नया और रोचक अनुभव था। लगभग 15 वर्षों बाद उन्हीं पात्रों, स्थितियों, परिवेश से फिर गुजरते हुए, उन्हें उन्हीं मनोवेगों के साथ दुबारा लिखा था। यहीं पर पहली बार एक पाठक की शक्ति और सामर्थ्य का अनुभव भी हुआ था जब निर्देशक ने उस कहानी के अपने कुछ ऐसे पाठ प्रस्तुत किए थे जो कभी मैंने सोचे भी नहीं थे। उसने कहानी से अनेक अर्थ निकाले थे। उद्धरणों के साथ, तर्कों के साथ। लेखक का कहानी से लगभग इकहरा संबंध होता है। कहानी लिखते समय वह एक साथ कई अर्थों या स्तरों पर कहानी नहीं लिखता। पर पाठकों की दुनिया में पहुँचने के बाद कहानी के अनंत पाठ हो जाते हैं। कृष्ण

बलदेव वैद ने मुझे बताया था कि 'वेटिंग फॉर गोदो' के अनेक पाठ हुए थे। पर एक जेल के कैदियों ने उस नाटक को खेलते हुए उसका जो पाठ किया वह उसका सर्वश्रेष्ठ पाठ था। रचना का यह आंतरिक तिलिस्म सिर्फ पाठक खोलता है, लेखक नहीं और यह पाठक धरती के किसी भी छोर पर किसी भी चेतना वर्ग व मानस का हो सकता है। कोई लेखक कभी नहीं जानता कि उसे समझने और सार्थक करने वाला पाठक कहाँ है, कौन है ? कहानी जब दूसरी विधा से जुड़ती है, तब अर्थ व पाठ के साथ उसका रूप और आकार भी बदल जाता है। यह बहुधा फिल्म और रंगमंच के क्षेत्र में होता है। यदि वहाँ मेरी कोई भूमिका होती है, तो अपनी कहानी से मेरा एक नया संबंध जुड़ता है। यहीं कहानी से मेरे संबंध का पांचवाँ चरण होता है।

क्या प्रत्येक कहानी से मेरा संबंध सदा के लिए और अंत तक समान बना रहता है ? नहीं, सभी कहानियों से अंत तक समान संबंध नहीं रहता। । कुछ सदैव जीवंत बनी रहती हैं, कुछ धूमिल हो जाती हैं, कुछ विस्मृति में चली जाती हैं। ऐसा भेद इसलिए होता है कि यह इस पर निर्भर करता है कि कहानी रचते समय उसमें कितना आवेग, कितना स्वत्व, कितना श्रम लगा। कितनी स्मृतियाँ उधेड़ी गईं और आत्मलाप या चीख की नोक कितनी पैनी थी ? सब कहानियों में यह समान नहीं होता। इसलिए विभिन्न कहानियों के साथ संबंध भी विभिन्न स्तरों पर होते हैं। क्या किसी कहानी के साथ संबंध हमेशा के लिए ख़त्म हो जाता है ? नहीं, ऐसा कभी नहीं होता। वास्तव में जीवन का कोई संबंध सदा के लिए ख़त्म नहीं होता, यदि एक बार वह स्मृतियों और अनुभूतियों में चला जाये। वह धूमिल हो सकता है, राख़ में दब सकता है, रूप बदल सकता है, पर मृत नहीं होता। जो कहानियाँ लिख कर फाड़ दी गईं, जो अधूरी छोड़ दी गईं, जो अभी लिखी जानी हैं, जो उपेक्षित होकर लगभग लुप्त सी हो गईं, उनका भी एक अलग संसार है। यहाँ उनके साथ अपने सम्बन्धों पर विचार नहीं किया है क्योंकि यह संसार सुखद नहीं है। इसमें असफलताएँ हैं, यातना है, न रच पाने का असंतोष है, अस्वीकृति का बोध है, असफलता के दंश हैं।

जीवन अभी गतिशील है, चेतना में संवेदन है। स्मृतियाँ, स्वप्न, आवेग, अनुभव, विचार प्रज्ज्वलित हैं। मकड़ी जैसे अपने अंदर के रस से अपना जाल बुनती है, उसी तरह अपने 'स्व' से मैं अभी कहानियाँ बुनूंगा। एकांत के आत्मालाप से, अव्यक्त की चीख से। हमारे बीच कोई नहीं होगा। न कोई माया न कोई काया। कहानियों से यह संबंध जीवन भर तो शरण देता ही है, मृत्यु के बाद भी यह मुझे सहेजे रहेगा। यह एक विलक्षण उपलब्धि और अकल्पनीय स्थिति है। जीवन के अन्य किसी संबंध में यह संभव नहीं है। काया ख़त्म होते ही संबंध भी ख़त्म हो जाते हैं। पर कहानी के साथ यह नहीं होता। यदि कहानी बाद में जीवित रह जाती है, तो काया विहीन मैं भी उसमें जीवित रहता हूँ। उसका अस्तित्व मेरा अस्तित्व भी होता है। किसी भी संबंध की गरिमा, निष्ठा, सार्थकता, उपलब्धि और अमरता का यह सर्वोत्कृष्ट आख्यान है जो मेरे और मेरी कहानी के सम्बन्धों में अनंत ऊर्जा और उल्लास के साथ उद्घोषित है कि मृत्यु तक मैं कहानी रचता हूँ, मृत्यु के बाद कहानी मुझे रचेगी।

15/269, सिविल लाइंस
कानपुर-208001
मो.:09839215236
ई.मेल. : priyamvadd@gmail.com

राकेश मिश्र

अपेक्षा तो सामाजिक बदलाव की ही है

बड़ा ही कठिन सवाल पूछा है आपने कि मैं अपनी कहानियों से क्या अपेक्षा रखता हूँ? मेरे ख़्याल से इस सवाल का जवाब तो बेहतर तरीके से पाठक और आलोचक ही दे सकते हैं कि वे मेरी और मेरे जैसे अन्य साथी कथाकारों की कहानियों से क्या अपेक्षा रखते हैं?

लेकिन चूँकि आपने मुझसे पूछा है तो बहुत सी चीज़ें जेहन में आ रही हैं। एक तो अपना वह शुरूआती परिवेश जिसमें कहानी लिखने के कीड़े ने पहली बार काटा था। मैंने अत्यन्त्र भी लिखा है कि मेरा शहर जमशेदपुर कहानीकारों का शहर था और जिस समय अपने रचनात्मक परिवेश में मैं अपनी आँख खोलने की कोशिश कर रहा था कहानीकार जयनंदन हमारे शहर में निर्विवाद स्टार थे। शहर में वामपंथी धड़े के दो लेखक संगठन थे– प्रलेस और जलेस। ख़ूब कार्यक्रम होते थे और तमाम लेखकों की एक दूसरे में आवाजाही थी। जयनंदन उस समय किसी ख़ास संगठन के सदस्य नहीं थे लेकिन उनका सम्मान कुछ कुछ प्रगतिशील लेखक संघ की ओर था। यह उतना वैचारिक नहीं था जितना तात्कालिक परिस्थितियाँ और समीकरण इसके कारक थे। दरअसल इन दो लेखक संगठनों के अलावा एक और संस्था साहित्यिक हलचल का केन्द्र हुआ करती थी– सिंहभूम जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन/तुलसी भवन। जयनंदन इस संस्था के साहित्यिक कार्यक्रमों के मास्टरमाइंड थे और उन्होंने 'कथा मंचन' जैसा भव्य और उल्लेखनीय कार्यक्रम करवा कर शहर में जैसे धूम मचा दी थी। कई कारणों से जनवादी लेखक संघ इस संस्था में आने-जाने से परहेज करता था और प्रगतिशील लेखक संघ के साथी जयनंदन के आयोजनों के सहभागी थे। स्थानीय स्तर पर उस समय प्रगतिशील लेखक संघ के चाहे जो भी कर्ता-धर्ता रहे हों यह संगठन कथाकार शंकर से अपनी ऊर्जा ग्रहण करता था। शंकर उस समय सासाराम से अपने दो कथाकार मित्रों– अभय और नर्मदेश्वर के साथ 'अब' जैसी महत्त्वपूर्ण लघुपत्रिका

निकालते थे जो मूलत: कहानियों की ही पत्रिका थी। उनके प्रोत्साहन और सहयोग से एक दुर्धष संस्कृतिकर्मी 'राघव आलोक' न सिर्फ जमशेदपुर से 'दस्तक' जैसी पत्रिका निकालने लगे बल्कि उस ढलती उम्र में 'कहानी' की दुनिया में भी दस्तक देने का हौसला जुटाने लगे। (यह अफसोसनाक रहा कि राघव आलोक असमय ही हमें छोड़ गये और कहानीकार के तौर पर उनका निखरा स्वरूप हमारे सामने आने से रह गया।) कुल मिलाकर जयनंदन का स्टारडम और शंकर का कहानियों के प्रति एक मिशनरी भाव ही वह प्रारंभिक आकर्षण और जुनून का कारण बना कि लिखना तो 'कहानी' ही है। शायद 'कहानी' के छपने, दूर तक इसके पहुँचने और देर तक इसकी चर्चा होते रहने के प्रारंभिक असर ने भी 'कहानीकार' के तौर पर ही जीवन बिताने के लिये उकसाया हो। यहाँ यह प्रसंग तनिक विस्तार से लिखने का आशय यही है कि शुरूआत में 'कहानी' से कोई बड़ी अपेक्षा नहीं थी सिवाय इसके कि मेरी भी कहानी कहीं छपे, लोग उसे पढ़ें और पढ़कर मुझे चिट्ठियाँ लिखें। वैसे ही जैसे जयनंदन को लिखते थे। यहाँ यह बता दूँ कि जयनंदन को उस समय उनकी कहानियों पर इतने पत्र आते थे कि उन्होंने बाकायदा एक पोस्टबॉक्स ही अपने नाम पर ले रखा था। कभी-कभी मैं भी उनके साथ उनके पोस्ट बाक्स तक जाता था और हर बार वह लगभग भरा ही मिलता था। लेकिन जयनंदन की अपेक्षा कहानियों को लेकर एक अतिरिक्त सजगता और चिंता शंकर जी के पास थी। शंकर स्वयं तो कहानीकार थे ही। कहानियों की पत्रिका भी निकालते थे, और इस लिहाज से कहानियों से 'अपेक्षा' वाला भाव उनके पास ज्यादा था। शंकर अपने आरंभिक दिनों से ही प्रगतिशील लेखक संघ के सक्रिय कार्यकर्ता थे और अपने बड़े सरकारी ओहदे और रुतबे को कभी-भी उन्होंने अपने साहित्यिक व्यक्तित्व पर हावी नहीं होने दिया था। कहानियों की गोष्ठियों सम्मेलनों में वे संजीदगी से उपस्थित होते, स्टारडम से बचते लेकिन बहुत ही सुचिंतित और तर्कपूर्ण व्याख्या उनके पास कहानियों की थी। कहानियाँ या कोई भी रचना उनकी दृष्टि में, सामाजिक सोद्देश्यता का वायस थी और इस लिहाज से कहानी के 'रूप' पर वे अक्सर कहानी की 'अन्तर्वस्तु' को महत्त्व देते थे। कहानी कहाँ खत्म होती है और वह क्या संदेश देती है, वह किसके पक्ष में खड़ी होती है, कहानीकार अपनी कहानी में किस विषयवस्तु का चुनाव कर रहा है, यह सब उनकी चिन्ता के केन्द्र में होते थे। 'रूप' और 'अन्तर्वस्तु' का द्वंद्व उनके पास इतना ज्यादा था कि संभवत: अभी भी कहानियों को वे इसी आग्रह से देखते हैं। 'परिकथा' जैसी चर्चित पत्रिका के संपादक के तौर पर उन्होंने हाल-हाल तक इसी बहस को आगे बढ़ाया और अपने जिद और जुनून में उन्होंने मजबूत अन्तर्वस्तु की अनगिनित कहानियाँ छापीं और उन पर अपने तरीके से चर्चा भी करवाई। कहानियों को लेकर 'फुलझड़ी' और 'दीपक' का उनका रूपक भी खासा चर्चित रहा कि वे फुलझड़ी की तरह ही चमक- दमक वाली कहानियों की तरफ नहीं देखते, बल्कि कहानियों से उनका मकसद 'दीपक' की तरह से है, जो अँधेरे के खिलाफ देर तक निर्णायक लड़ाई करता हुआ दिखता है।

उनके संग और सोहबत में प्रगतिशील लेखक संघ की गोष्ठियों में हिस्सेदारी करता हुआ 'दीपक' की तरह निर्णायक असर की कहानियाँ लिखने की सोचता हुआ मैं कहानी की दुनिया में आया। पच्चीसों प्रयास करने के बाद उस समय मेरी दो कहानियाँ छप भी गईं। एक तो राघव आलोक की पत्रिका 'दस्तक' में और दूसरी शंकर जी की 'अब' में। मेरी अपनी कहानियाँ से पहली अपेक्षा कि वे किसी पत्रिका में छपे, पूरी हुई। अन्य अपेक्षाएँ कि लोग उस पर चर्चा करें और मुझे चिट्ठियाँ लिखें, अधूरी ही रही। क्योंकि उन कहानियों को संभवत: उन्हीं लोगों ने पढ़ा जिसे मैंने स्वयं जबर्दस्ती पढ़वाया होगा। लेकिन शंकर जी सचमुच 'गंधी' की संगत थे, उनसे बात करके कलेजा चौड़ा हो जाता था। उन्होंने उन दो साधारण कहानियाँ से ही मेरे मन में यह विश्वास जमा दिया था कि मैं अब जल्दी ही साहित्य की दुनिया में जाना पहचाना नाम हो जाऊँगा और जब मैं 'इंटर' पास करके आगे की पढ़ाई के लिये बी.एच.यू., बनारस आया तो अपने आपको 'बाकायदा' कहानीकार मानते हुए ही आया। मई-जून की तपती दोपहरी में प्रवेश परीक्षा का इम्तहान देकर बी.एच.यू. में जब मैं ढूढ़ता हुआ गुरुदेव काशीनाथ सिंह के आवास पर पहुँचा और उनके सवाल कि 'मुझे कैसे जानते हो?' जवाब में यही कह गया कि 'मैं भी कहानियाँ लिखता हूँ।' हिन्दी कहानी में 'वटवृक्ष' की हैसियत रखने वाले विरल और विलक्षण कहानीकार काशीनाथ सिंह के सामने एक इंटर पास निमुच्छा लड़का अपने कहानीकार होने

का दावा कर रहा था, यह बात आज भी किसी के लिये भयानक हँसी का दौरा ला सकता है, लेकिन पता नहीं क्यों 'गुरुदेव' यह सुनकर संजीदा हो गये। उन्होंने कुछ एक मामूली सवाल किये और पता नहीं क्यों इतने आश्वस्त और चिंतित हो गये कि मैं बनारस में बिना किसी और को जाने हुए भी ठीक से एक दो दिन रह लूँगा। पूरी तरह से आश्वस्त होने के बाद ही उन्होंने जाने दिया और सख्त ताकीद की यदि मेरा चयन इस विश्वविद्यालय में हो जाता है, तो नामांकन से पहले उनसे जरूर मिलूँ। और परिणाम आने के बाद जब मैं हिन्दी साहित्य पढ़ने की बलवती इच्छा से साथ उनके सामने उपस्थित था तो उन्होंने बहुत जोर देकर मुझे किसी अन्य विषय का चुनाव करने को कहा। मैं रुआँसा होकर लगभग गिड़गिड़ाने लगा, तो उन्होंने पूछा कि आखिर हिन्दी पढ़ने को लेकर मैं इतना जिद्दी क्यों हूँ? मैंने बताना चाहा कि आप हिन्दी के विभागाध्यक्ष हैं, इतने बड़े कथाकार हैं, आपसे पढ़ना चाहता हूँ, आपकी तरह बनना चाहता हूँ। तो उन्होंने अपने अंदाज में समझाते हुए कहा कि बी.ए. वालों को विभागाध्यक्ष नहीं पढ़ाते हैं और कथाकार हिन्दी साहित्य पढ़े बिना भी बना जा सकता है, बल्कि उन्होंने आगे जोर देकर यही कहा कि जरूरी है कि अच्छा कथाकार हिन्दी साहित्य न ही पढ़े। उन्होंने तमाम कहानीकारों के उदाहरण दिये, जो कोई अन्य विषय पढ़कर 'कहानी' के क्षेत्र में आये, और उनके अनुसार, उन्होंने ही ठीक-ठाक कहानियाँ लिखीं। उन्होंने यह आश्वस्त किया कि सीखने समझने के लिये मैं कभी भी उनके पास आता जाता रह सकता हूँ। इस तरह मैं इतिहास का विद्यार्थी होकर कहानीकार होने का भ्रम पाले बनारस में रम गया।

कोई-कोई शहर होता है, जहाँ जाकर आपको लगता है, जैसे आप इसी शहर के लिये बने हैं। बनारस मेरे लिये ऐसा ही था, मैं अपने अंदाज, अपने व्यवहार, अपने लगन और ठसक मैं किसी भी बनारसी से ज्यादा बनारसी बनता गया और बनारस आपसे सबसे पहले आपकी महत्त्वाकांक्षा ले लेता है। इस शहर में महत्त्वाकांक्षियों के लिये, अपेक्षा पालने वालों के लिये कोई जगह नहीं थी। बड़े-बड़े समाजशास्त्री गणितज्ञ, वैज्ञानिक, कलाकार, चित्रकार सब अपनी उपलब्धियों को एक 'बाल' पर तौलने के लिये तैयार बैठे थे। ऐसे में बनारस को जीते हुए मैं सब कर रहा था। नेतागिरी, गुंडागर्दी, इश्क, मोहब्बत, फाकामस्ती, शराबनोशी। केवल कहानी नहीं लिख पा रहा था, लेकिन एक मन को बहलाने जैसी आश्वस्ति जरूर थी कि इन सब बरबाद होते समय की विलक्षण और बेजोड़ कहानियाँ मैं ही लिखूँगा। ये सब मेरे भविष्य के कहानीकार को विस्तार देने के ही 'कर्म' हैं। जब कहानी की 'क्रिया' में उतरूँगा तो ये कर्म ही काम आएँगे। कभी-कभी क्रिया की 'हवस' जोर मारती थी, लेकिन 'कर्म' के आकर्षण से निकलना इतना आसान नहीं था।

यह हमारे समय का सबसे तेज बदलाव का समय था। हम मनुष्यता के इतिहास में उन चुनिंदा खुशनसीब लोगों में थे, जो अपनी भरी जवानी में शताब्दी बदलते हुए देखते हैं, लेकिन शायद सबसे अभागे लोगों में भी थे जो भविष्य के लिये किसी 'यूटोपिया' से हमेशा के लिये हाथ धो लेने वाले थे। हम सबसे तेज बदलते हुए समय में सबसे स्थिर किन्तु बहुत ही विचलित जीवन जी रहे थे। इस समय को पकड़ना, उसे अपने अनुभवों में ढालना और उसे अपनी भाषा में सँवारना, हमारे समय की संभवत:, सबसे बड़ी चुनौती थी। रूप और अन्तर्वस्तु का सवाल बहुत ही स्थूल और उथला किस्म का सवाल हो गया था। कहानियों की दुनिया भी तेजी से बदलती हुई दुनिया के साथ बदल रही थी। 'पाल गोमरा का स्कूटर' और 'वारेन हेंस्टिंग्स का साँड़' इन दो कहानियों ने हिन्दी कहानियों का पारंपरिक ढाँचा बदलकर रख दिया था। संजीव, जयनंदन, शंकर सब की कहानियाँ जैसे गये ज़माने की बातें हो गई थीं। तो सिर्फ उदयप्रकाश की एक सम्मोहक उपस्थिति। मुझे याद है कि जब मैं 'वारेन हेंस्टिंग्स का साँड़' पढ़कर गुरुदेव के पास गया, तो उन्होंने लगभग बुदबुदाते हुए कहा था– 'जरूर उदयप्रकाश के मस्तिष्क पर पूर्णिमा के चाँद की तरह समुद्र का ज्वार भाटा का प्रभाव पड़ता होगा। साधारण मस्तिष्क से ऐसी कहानियाँ नहीं लिखी जा सकतीं।

अपनी ज़िन्दगी, परिवेश और लगातार बदलती दुनिया को देखने की 'उदयप्रकाशीय' दृष्टि से मैंने भी एक लंबी छलांग लगाई और उस समय की अपनी सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षी कहानी 'तुमने जहाँ लिखा है प्यार, वहाँ सड़क लिख दो' लिख डाली। मेरे अपने हिसाब से यह विलक्षण कहानी थी और मैं इसे कहीं भेजकर छपने का इंतजार नहीं कर सकता था। मेरी अपेक्षा थी, अपेक्षा क्या ज़िद थी कि यह कहानी 'हंस' में छपे, और रातों रात मुझे भी अग्रिम पंक्ति के युवा कथाकारों में शामिल कर लिया जाय। यह कारनामा देवेन्द्र

'क्षमा करो हे वत्स' लिखकर हमारे ही समय में कर चुके थे।

मौका लगते ही मैं दिल्ली में था। 'हंस' के दफ्तर में राजेन्द्र यादव के सामने था, इस जिद और जल्दबाजी में कि मेरी कहानी पढ़कर तुरंत उस पर निर्णय दे दिया जाए।

राजेन्द्र जी असमर्थ थे, चूँकि उनके आँखों का ऑपरेशन हुआ था लेकिन मुझमें इतना धैर्य नहीं कि मैं उनके पास कहानी छोड़ जाऊँ। मैंने किसी तरह उन्हें राजी किया कि वे मेरी कहानी सुन लें। मैंने बेझिझक उन्हें कहानी सुनानी शुरू की, इस बात से बिल्कुल बेखबर कि हंस का वह दफ्तर राजेन्द्र जी के मुलाकातियों की आवाजाही से हमेशा गुलजार रहता था। जाहिर है, ऐसे में लंबी कहानी सुनने-सुनाने का कोई अनुकूल माहौल वहाँ नहीं बनना था, नहीं बना। राजेन्द्र जी लगभग बोर हो चुके थे। कहानी सुनकर उन्होंने कहा तुमने कहा था, कि यह एक प्रेम कहानी है, इसमें प्रेम कहाँ है?

मैंने भी उसी अंदाज में कहा- आजकल इसी को प्रेम कहते हैं। राजेन्द्र जी सहमत नहीं हुए। मुझे याद है उस समय दफ्तर में कविता जी (हमारी पीढ़ी की महत्त्वपूर्ण कहानीकार) भी चुपचाप उस कहानी को सुन रही थीं। उन्होंने मेरी तरफ से कहानी पर बहस की और जबरस्त तरीके से कहानी का पक्ष लिया। इस पर राजेन्द्र जी का मन थोड़ा बदला और वे इस बात पर सहमत हुए कि यदि मैं इस कहानी का लगभग आधा हिस्सा कम कर दूँ तो वे इसे छापने पर विचार कर सकते हैं। अब मैं सहमत नहीं था। मैं अपनी कहानी लिये दिये वापस आ गया। बाद में यह कहानी भी 'अब' में ही छपी। लेकिन अपनी लंबाई की वजह से वह भी 'अब' के शताब्दी अंक में नहीं जा पाई। संभवत: एक नये लेखक को इतने ज्यादा पृष्ठ दे पाना किसी लघुपत्रिका के संपादक के लिये तब संभव न रहा हो।

समकालीन कथा-परिदृश्य में अपना जरूरी नाम बना लेने की मेरी महत्त्वाकांक्षा तो खैर इस कहानी से पूरी नहीं हुई, लेकिन इस कहानी ने अपने दोस्तों परिचितों के बीच एक कहानीकार के रूप में मेरी साख बना दी और तब से पाँच सात साल तक चाहे मैंने कोई और कहानी न लिखी हो, मेरे दोस्तों के बीच मेरी साख अच्छे कहानीकार की ही रही। वे मुझे कहानीकार जैसा ही तवज्जो देते, मेरे नखरे उठाते और मेरे वाहियात शायराना आदतों को बरदाश्त करते। यह सिलसिला आज तक बदस्तूर जारी है।बनारस के अपने आखिरी दिनों में जब वह शहर हमें बुरी तरह डराने लगा था और उम्मीद की किरण कहीं थी नहीं, हम सबको वहाँ से कहीं न कहीं चले ही जाना था। अधिकांश की तरह दिल्ली ही और दिल्ली में भी अपने भय और हताशा को छुपा कर अपनी ज़िन्दगी को एक शक्ल देनी थी, तब भी मेरे दोस्तों का यकीन मुझ पर कभी कम नहीं हुआ। वो यदि बेरोजगार थे तो वे सिर्फ बेरोजगार थे, उनकी नज़र में मैं कहानीकार था और इस लिहाज से बेरोजगार नहीं था। अपने दोस्तों का यह यकीन ही रहा कि मैंने अभी भी अदृश्य पाठकों के लिये कहानियाँ नहीं लिखीं। और न ही कभी इस बात की भी जरूरत महसूस हुई कि मैं कहानियों से प्लॉट और चरित्र के लिये कभी दूर की कौड़ी लाऊँ। 'कला के सिद्धांत' के जानकार इस तथ्य से भली भांति परिचित होंगे कि इसी अदृश्य कला मर्मज्ञ और पारखी के चक्कर में 'कला कला के लिय' सिद्धांत का जन्म हुआ था। मेरे साथ हमेशा सहूलियत रही कि मैं जिनके लिये कहानियाँ लिखता था या लिखता हूँ, लिखने की प्रक्रिया में ही उनकी प्रतिक्रिया भी जानता चलता हूँ। बाद में मैंने जाना कि विलक्षण कहानीकार और उपन्यासकार मार्खेज का भी यही मानना था कि वे भी सिर्फ अपने दोस्तों के लिये ही कहानियाँ लिखते हैं, यदि उनको पसंद हो तो सबको पसंद आएगी ही।

लेकिन अभी ज़िंदगी में 2004 आना बाकी था। यूँ तो यह जरूरत तमाम पत्रिकाएँ महसूस कर रही थीं कि कहानियों के परिदृश्य से हाशिये पर एक बड़ी संख्या जमा हो रही थी जो पारंपरिक कथा प्रतिमानों से भिन्न संवेदना और सोच रखते थे। 'नवलेखन' अंक के बहाने पहले हंस और बाद में कथादेश ने इनको मुख्यधारा में लाने की कोशिश की थी परंतु जिसे एक घटना की तरह हिन्दी साहित्य में महसूस किया गया वह 2005 के **वागर्थ** का युवा कहानी विशेषांक था। इस विशेषांक में अधिकांश वे लोग ही थे जो 2004 के वागर्थ के ही नवलेखन अंक में शामिल थे। दूसरी पत्रिकाएँ जहाँ 'नवलेखन अंक' निकालकर ही संतुष्ट थीं कालिया जी (रवीन्द्र कालिया) और वागर्थ ने जैसे इसे आंदोलन का स्वरूप दे दिया और हिन्दी कहानी में 'समकालीन' कहानी या युवा कहानी का एक दौर ही प्रारंभ

हो गया। आज इस घटना परिघटना की चाहे जितनी प्रशंसा या निंदा की जाय इस बात से इंकार तो कोई नहीं कर सकता कि समकालीन कहानी का एक बड़ा परिदृश्य वागर्थ के उस युवा कहानी अंक और बाद में नया ज्ञानोदय के रवीन्द्र कालिया संपादित विशेषांक के कहानीकारों से ही बनता है।

इस दौर में 'कहानी' ने जैसे विधागत केन्द्रीयता हासिल कर ली थी। हमें हमारे पूर्ववर्ती कथाकारों में उदयप्रकाश, अखिलेश, संजीव, सृंजय, मनोज रूपड़ा, योगेन्द्र आहूजा जैसे मजबूत कथाकार मिले हैं, इसलिये हमारे सामने चुनौतियाँ भी बड़ी हैं। आप देखेंगे कि इस समय कई स्थापित कवियों ने भी कहानियाँ लिखनी शुरू कीं और कुछ एक ने तो कुछ महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिखी थीं। 'कहानी' इस दौर की सबसे महत्त्वाकांक्षी विधा हुई और इसे 'आरंभ मध्य अंत' की कसौटी पर कसकर इसकी उपेक्षा करने वालों की लगभग बोलती बंद हो गई। इस दौर में मेरे साथ कहानीकारों को अपनी कहानियों की ताकत का बखूबी अंदाजा था। कहानियाँ अब एक पण्य वस्तु की तरह नफा-नुकसान के साथ किसी पत्रिका को दी जा सकती थी, या उसे मना किया जा सकता था। जब प्रगतिशील वसुधा के युवा कहानी अंक के लिये जयनंदन ने मुझे अपना सहयोगी बनाया, और मैंने अपने मित्रों से रचनात्मक सहयोग माँगा, तो उनमें से एक ने स्पष्ट कहा कि यदि इस संयोजन में आपकी केन्द्रीयता हो तो हम विचार कर सकते हैं, वर्ना हमारी कोई रुचि नहीं है। हालाँकि उस संयोजन में हमारे सभी साथी शामिल हुए, लेकिन स्व. कमला प्रसाद की अपनी 'साख' के कारण ही।

मैं यह स्पष्ट मानता हूँ कि मेरे साथ के कुछ कहानीकारों में कहानियों को लेकर मारी अपेक्षाएँ हैं। इन अपेक्षाओं की टकराहट में कुछेक दुर्घटनाएँ भी हुईं। हमारे साथी आलोचक कृष्ण मोहन तो इन घटनाओं से तंग आकर समकालीन कहानियों पर लिखने से परहेज ही करने लगे। चंदन पांडेय की पहली किताब के छपने के समय हुआ विवाद जिसमें कुणाल सिंह पर घनघोर आरोप थे और जिसमें करीब-करीब कालिया जी को भी दुखी होना पड़ा, ये अति अपेक्षाओं के ही अनुत्पाद माने जा सकते हैं। संयोग या सोद्देश्य जो भी कहें मेरे भीतर ऐसी कोई आकांक्षा या अपेक्षा, नहीं रही। मैंने अपने तईं कई कोशिशों से अपने समय की कहानियों के विलक्षण चरित्र की पहचान करने की कोशिशें कीं। इसमें 'हिन्दी का दूसरा समय' 'कथा परिसंवाद' जैसे आयोजन थे जो हमारे विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति उपन्यासकार विभूतिनारायण राय के प्रोत्साहन से संभव हो सके। इन आयोजनों में मैंने अपने समय की चिन्ताओं और कहानियों को ही केन्द्र में रखकर बात करने-करवाने की कोशिशें कीं। ऐसे ही एक आयोजन में गुरुदेव ने हँसते हुए टोक ही दिया कि मैं भी अपनी पीढ़ी में अपने मित्रों को आगे बढ़ाकर वही गलती कर रहा हूँ जो उन्होंने अपनी पीढ़ी में अपने एक साथी कथाकार को लेकर की थी। मैं मुस्करा कर रह गया। लेकन उनकी आँखों में चिंता की स्पष्ट लकीरें थीं कि कहीं मैं भी नेपथ्य में रहकर छला न जाऊँ। वे गुरु हैं, उन्हीं के सामने पहली बार कहानी का ककहरा तुतला कर पढ़ा था। उनकी चिंता वाजिब ही रही होगी।

लेकिन क्या नेपथ्य और क्या रंगमंच जो बनारस में रह कर आया हो, जिसकी ट्रेनिंग वामपंथी संगठन के स्कूलों में हुई हो, जो खुद भी एक वामपंथी पार्टी का बाकायदा कार्ड होल्डर सदस्य हो उसके लिये ये सब बातें शायद बहुत मायने नहीं रखतीं। मैं सोशल मीडिया से वाकिफ़ हूँ और इसकी ताकत की जानकारी भी मुझे है, लेकिन इसका उपयोग जिस तरीके से आत्मप्रचार और आत्ममुग्धता के दायरे में हो रहा है उसने इस माध्यम से तो मेरा भरोसा ही डिगा दिया है। मैं किसी आभासी यथार्थ में शायद बहुत यकीन नहीं कर पाता। अपनी कहानियों को मैं बहुत विशिष्ट भी नहीं मानता और न ही यह मानता हूँ कि कहानी लिखकर मैं कोई विलक्षण काम कर रहा हूँ। शंकर जी से आज मैं चाहे जितना असहमत होऊँ, लेकिन अपने प्रारंभिक सरोकारों से जानता हूँ कि 'कला के ये सारे उपक्रम समाज की बेहतरी के लिये ही होने चाहिये। सिर्फ कहानी लिखकर ही कोई बड़ा बदलाव नहीं लाया जा सकता। मुख्य कोशिश है एक ईमानदार पारदर्शी और न्याय पर आधारित समाज बनाने की। इसके लिये जिस भी तरीकों से हो कोशिश की जानी चाहिये। इन कोशिशों में यदि बतौर रचनाकार शामिल होते हों, तो एक ईमानदार साहस का होना बहुत जरूरी है। हमारे पूर्ववर्ती रचनाकार सिर्फ इसलिये हमारे हीरो नहीं हैं कि उन्होंने सिर्फ बहुत उम्दा कहानियों लिखी बल्कि इसलिये भी हैं कि उन्होंने अपनी शर्तों जीवन जीने के लिए टुच्चे समझौतों से परहेज किया, उन्होंने झुकने की शर्त

पर टूटना पसंद किया। मुझे लगता है कि मेरे कई साथी कथाकारों में थी यही कूवत और हनक है।

मैंने अपनी कहानियों में इस तेज बदलाव के अंधड़ में पीछे छूट गये नायकों को तलाशने की कोशिश की है। वे परेशान हैं, स्तब्ध हैं, और लगभग पराजित से दिखते हैं, लेकिन उनके पास वो आग है, वो तेज है, जो तमाम सफल और विजेता जैसे दिखने वालों के पास एक असंभव कल्पना है। जब कोई पाठक कोई आलोचक उन पात्रों से प्यार करता है, उससे अपना जुड़ाव महसूस करता है और धीरे से व्यक्तिगत बातचीत में ही सही जब कहता है– 'गुरु, क्या जबर्दस्त कहानी लिखे हो, तो आप ही बताइये, ऐसी और क्या अपेक्षा रखूँ, जो पूरी न हो गई हो। एक बात जो पहले कहने से शायद रह गई कि मेरी कहानियों के पात्र बहुत बौद्धिक लगते हैं और मेरी भाषा भी थोड़ी अकादमिक और उद्धरणों से भरी लगती है। तो किसन पटनायक से एक बात मैंने सुनी थी कि कोई भी सिद्धांत तब तक असली नहीं हो सकता जब तक उसे ज़िन्दगी में घटा कर न देख लिया जाय। अपनी अधिकांश कहानियों से मेरी यही अपेक्षा रही है। कुछ लोग जरूर इसे सेरेब्रल कहते होंगे, लेकिन अधिकांश पाठकों ने इसे वैसे ही स्वीकारा है, जैसी की मेरी अपेक्षा थी।

फिलहाल तो यही सब बातें ध्यान में आईं वैसे हिन्दी साहित्य इतना विराट है। और इतना कुछ करने के लिये है कि अभी लगता है कि जैसे शुरू ही किया है। योगेन्द्र आहूजा अपनी कहानी में कहते हैं न कि साहित्य के इतने विशान और भव्य प्रांगण में यदि अपना कोई स्टूल लेकर बैठने की भी इजाजत दे दे तो यह जीवन धन्य, सारी अपेक्षाएँ पूरी। कोई शिकायत नहीं और कोई पछतावा भी नहीं।

अहिंसा एवं शांति अध्ययन विभाग,
महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय
हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा – (महाराष्ट्र)
मो. 9970251140

कथा-कसौटी (संपादक)

रमेश उपाध्याय

संपादक डाकिया नहीं होता

''आपने मेरी कहानी लौटा दी। क्या आपको अच्छी नहीं लगी? क्यों अच्छी नहीं लगी? अमुकजी को तो वह बहुत अच्छी लगी। उन्होंने तत्काल छाप भी दी। और जब से छपी है, उस पर पाठकों, आलोचकों और दूसरे संपादकों की बहुत अच्छी प्रतिक्रियाएँ मिल रही हैं।''

मुझे ऐसी शिकायतें बहुत सुनने को मिली हैं। मैंने अपने संपादन में 'कथन' के जो साठ अंक निकाले हैं, उनमें लगभग तीन सौ कहानियाँ प्रकाशित की हैं। उन तीन सौ कहानियों को चुनने के लिए मुझे कम से कम तीन हजार कहानियाँ खारिज करनी पड़ी होंगी। वे अन्यत्र छपी भी होंगी, शायद सराही भी गयी होंगी। इसलिए मैं यह नहीं कह सकता कि वे कहानियाँ अच्छी नहीं थीं। अत: ऐसी शिकायतें करने वालों से क्षमा माँगते हुए मैं अक्सर कहता रहा हूँ, : अपनी-अपनी पसंद है।

पूछा जा सकता है, और पूछा जाना अनुचित भी नहीं होगा, कि संपादक की अपनी पसंद का भी कोई न कोई आधार तो होता होगा?

मेरे विचार से संपादक डाकिया नहीं होता कि लेखकों से उसे जो मिले, पाठकों तक पहुँचा दे। लेखन की भाँति संपादन भी एक प्रकार का सृजन है। पत्रिका के एक अंक में कई लेखकों की विभिन्न प्रकार की रचनाएँ होती हैं, किंतु वह अंक संपादक की अपनी रचना होता है। जैसे विभिन्न प्रकार के फूलों से बनाया गया एक गुलदस्ता। प्रत्येक फूल अपने-आप में सुंदर है, लेकिन असंख्य प्रकार के फूलों में से कुछ को चुनकर गुलदस्ते में सजाये जाने पर जो एक नया सौंदर्य पैदा होता है, वह गुलदस्ते का सौंदर्य होता है।

सौंदर्य के सृजन की प्रक्रिया में चुनने और छोड़ने की क्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं। लेखक अपने ढंग से यह काम करते हैं, संपादक अपने ढंग से यह काम करता है। लेकिन यह सिर्फ निजी पसंद-नापसंद का मामला नहीं है। इसके पीछे सर्जक का विवेक काम करता है, जो उसकी जीवन-दृष्टि, विश्व- दृष्टि, सौंदर्य-दृष्टि और नैतिक दृष्टि से मिलकर बनता है। इसी विवेक के आधार पर जैसे लेखक यह निर्णय करता है कि उसे क्या लिखना है और क्या नहीं लिखना है, वैसे ही संपादक यह निर्णय करता है कि उसे अपनी पत्रिका में क्या छापना है और क्या नहीं छापना है।

मेरा विवेक कहता है कि साहित्य का उद्देश्य दुनिया को बेहतर बनाना है और यह काम वही साहित्य कर सकता है, जो यथार्थवादी हो; जो अतीत के अनुभवों की रोशनी में वर्तमान यथार्थ को देखता-दिखाता हो और भविष्य को ध्यान में रखकर वर्तमान को बेहतर बनाने के लिए पाठक को प्रेरित करता हो। ऐसा साहित्य आजादी, बराबरी और भाईचारे जैसे मानवीय मूल्यों को अपनाकर चलता है और उन्हें आगे बढ़ाता है। लेकिन यह काम वह नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र या सौंदर्यशास्त्र बनकर नहीं, साहित्य बने रहकर ही कर सकता है।

अत: कहानी को सबसे पहले कहानी होना चाहिए। एक मुकम्मल कहानी। यानी उसमें ऐसा कहानीपन होना चाहिए कि वह पढ़ना शुरू करते ही पाठक को बाँध ले और स्वयं को आदि से अंत तक पढ़वा ले जाये। कहानी के मुकम्मल होने पर मैं बहुत जोर देता हूँ। मैंने अपने लेख 'सवाल मुकम्मल कहानी का' में लिखा भी है कि कहानी आधी-अधूरी नहीं, पूरी होनी चाहिए। कहीं न कहीं उसका अंत होना ही चाहिए, और अंत भी ऐसा कि शीर्षक सहित शुरू से जो कुछ कहा गया है, वह सब उससे जुड़ जाये।

लेकिन मुकम्मल कहानियाँ तो गैर-यथार्थवादी भी हो सकती हैं, जैसे ज्यादातर हिंदी फिल्मों की कहानियाँ। इसलिए कहानी से मेरी दूसरी माँग यह होती है कि वह यथार्थवादी हो। यथार्थवादी कहानी में कल्पना के लिए पूरी गुंजाइश है, इसलिए फैंटेसी या एलेगरी वाली, नीतिकथा या बोधकथा के शिल्प वाली, जादुई या चमत्कारपूर्ण वर्णनों वाली कहानी से मुझे परहेज नहीं। अर्थात, अच्छी कहानी वह है, जो चाहे किसी भी रूप या शिल्प में लिखी गयी हो, लेकिन अतीत के अनुभवों की रोशनी में वर्तमान यथार्थ को देखती-दिखाती हो और भविष्य को ध्यान में रखकर वर्तमान को बेहतर बनाने के लिए प्रेरित करती हो।

कई कहानियाँ आदि-मध्य-अंत की दृष्टि से पूरी तरह मुकम्मल और लेखन की यथार्थवादी पद्धति अपनाकर लिखी हुई होने पर भी यथार्थवादी नहीं हो सकती हैं। मैं यह मानता हूँ कि यथार्थवाद लेखन की विभिन्न पद्धतियों में से एक पद्धति नहीं, बल्कि लेखक की जीवन-दृष्टि है। कहानीकारों में यथार्थ को देखने की विभिन्न दृष्टियाँ पायी जाती हैं, जिन्हें विभिन्न प्रकार के यथार्थवादों के नाम से पुकारा जाता है। जैसे अनुभववाद, प्रकृतवाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद इत्यादि। अत: मैं कहानी में यह देखता हूँ कि उसमें कौन-सा यथार्थवाद है। मैं अनुभववाद और प्रकृतवाद पर आलोचनात्मक यथार्थवाद को तरजीह देता हूँ। 'कथन' का संपादन करते-करते ऐसी कई देशी-विदेशी कहानियाँ मेरे पढ़ने में आयीं, जिनमें मुझे एक नये ढंग का यथार्थवाद दिखा। मैंने उसे भूमंडलीय यथार्थवाद का नाम दिया और अपनी कहानियों में तो उसे अपनाया ही, उसके बारे में दो पुस्तकें भी लिखीं—'साहित्य और भूमंडलीय यथार्थ' तथा 'भूमंडलीय यथार्थवाद की पृष्ठभूमि।' मगर कहानी स्थानीय यथार्थ को सामने लाये चाहे भूमंडलीय यथार्थ को, वह ऐसी अवश्य होनी चाहिए, जो आजादी, बराबरी और भाईचारे जैसे मूल्यों को सामने लाने, उनकी अभिपुष्टि करने और उन्हें आगे बढ़ाने का काम करती हो।

कहानी में भाषा और शिल्प संबंधी नये प्रयोगों से मुझे परहेज नहीं। कहानीकार के रूप में मैं स्वयं अपनी कहानियों में इस तरह के अनेक प्रयोग करता रहा हूँ। लेकिन कहानी में प्रयोग के लिए प्रयोग करना या कहानी की अंतर्वस्तु की उपेक्षा करके, या उसकी कीमत पर, किये जाने वाले प्रयोग मुझे पसंद नहीं। साहित्य में नवोन्मेष के प्रयास मुझे पसंद हैं, लेकिन साहित्यिक फैशनों के नाम पर की जाने वाली नकल मुझे पसंद नहीं। मैं देशी-विदेशी कहानियाँ पढ़ता रहता हूँ, इसलिए नकल का पता मुझे फौरन चल जाता है और मैं यह बता सकता हूँ कि यह शिल्प या शैली कहाँ से नकल की गयी है। ऐसी बहुत-सी कहानियाँ, कई बहुचर्चित लेखकों की कहानियाँ भी, मैंने इसी कारण लौटायी हैं।

अंतत: संपादक पत्रिका अपने लिए या दूसरे लेखकों और संपादकों के लिए नहीं, बलिक पाठकों के लिए निकालता है। इसलिए उसकी पहली जिम्मेदारी पाठकों के प्रति होती है। संपादक के रूप में मुझे ऐसी कहानियाँ पसंद नहीं, जो पाठकों को भुलाकर संपादकों और आलोचकों को खुश करने के लिए लिखी गयी हों। और मैं अपने कहानी-लेखन तथा संपादन दोनों के अनुभव से जानता हूँ कि हमारा पाठक बहुत सजग, सचेत और प्रबुद्ध है। कुछ संपादक कहानीकारों को उठाने-गिराने का जो खेल खेलते हैं, उससे पाठक थोड़े दिनों के लिए भ्रमित भले ही हो जाये, लेकिन जल्दी ही वह उस खेल को समझ जाता है और कहानीकारों को ही नहीं, ऐसे संपादकों को भी उनकी सही जगह दिखा देता है।

107, साक्षरा अपार्टमेंटस,
ए-3, पशिचम विहार,
नयी दिल्ली-110063
मो : 09818244708

अर्चना वर्मा

काल सापेक्ष और काल निरपेक्ष की हदों के पार

प्रिय राकेश,

ऐसा अगड़म-बगड़म सवाल पूछ कर तुमने यह किस झंझट में फँसा दिया है मुझे ? सम्पादक की हैसियत से कहानी में क्या खोजती हूँ मैं ? इससे तो अच्छा कि गड्डी भर कहानियाँ दे दो मुझे, चुनकर निकाल दूँगी, ये वाली। लेकिन अब अगर सवाल भी पूछो, ये वाली ही क्यों ? तो यही तो झंझट है जिसमें फँसाई गयी हूँ।

पाठक की हैसियत से मुझे मालूम है कि इस सवाल का जवाब मुझे नहीं मालूम। जब अपनी रुचि और समझ को पहले से किसी वाद या विचार या परिभाषा के चौखटे में बाँध कर नहीं बैठी हूँ तब तो और भी खास तौर से। और इस किस्म के किन्हीं औपचारिक निर्धारित मुहाविरों का प्रयोग करके उसे परिभाषित करना भी नहीं चाहती; जैसे परिवर्धित पूँजीवाद के जगत में उपभोक्तावाद की लम्पट लीलाओं पर आक्रमण करने वाली कहानियाँ; या कि ग्लोबल दबावों से चरमराते लोकल जीवन के आख्यान; याकि सार्वभौमिक सत्य को बीज की तरह अपनी मिट्टी में दबाये समसामयिक सामाजिक यथार्थ की तलाश करने वाली कहानियाँ वगैरह वगैरह; हालाँकि जो कहानियाँ मैंने चुनी होंगी उनमें यह सब होगा भी लेकिन इनका वहाँ मौजूद होना भर यह बताने के लिये काफ़ी नहीं होगा कि ये वाली ही क्यों ? क्योंकि इस तरह परिभाषित हो सकने वाली अन्य अनेक कहानियाँ चुनाव के क्रम में बाहर निकाल कर भी रख दी गयी होंगी।

हाँ, पाठक की हैसियत से पढ़कर अपनी पसन्द की कहानियाँ चुन देना आसान है मेरे लिये; और चूँकि अपनी रुचि और समझ को पहले से किसी वाद या विचार या परिभाषा के चौखटे में बाँध कर नहीं बैठी हूँ, हर बार गड्डी भर कहानियाँ पढ़ने और चुनने के क्रम मैं उसे पहले की अपेक्षा और अधिक विकसित और निरूपित होते हुए देखना चाहती हूँ, अप्रत्याशित 'कुछ' को पहचान कर विस्मित हो उठना चाहती हूँ इसलिये ऐसे भी कोई लक्षण या नियम नहीं बता सकती जिसके बाहर पड़ने वाली कहानियाँ मुझे शर्तिया नापसन्द होंगी।

फिर भी सच है कि सारी कोशिश के बावजूद अपनी रुचि या समझ को पूरी तरह से तरल, अनिर्धारित या अपरिभाषित नहीं रखा जा सकता। कि चाह कर भी कहानी के नाम पर लिखित भाषा के हर टुकड़े को मैं पहली बार के आविष्कार का अनुभव नहीं बना सकती। बरसों-बरस कहानियाँ पढ़ने और पढ़ते रहने का काम खोपड़ी को पका कर ठोस और अभ्यस्त कर ही देता है फिर भी, यथासम्भव में कहानी को यह सोच कर पढ़ना शुरू नहीं करती कि में इसमें क्या खोजने जा रही हूँ। असल में तो कहानी ही मुझे खोजती है, कि वह कहाँ मुझे छुए, कैसे मुझे पकड़े। में तो कुल इतना ही करती हूँ कि अपनी तरफ़ से उसकी इस खोज में कोई बाधा नहीं डालती। पढ़ने का मतलब मेरे लिये इतना ही होता है कि देखती चलूँ कि इस कहानी ने अपनी परतों में मेरे लिये क्या तहाकर रखा है, कहीं कोई परत – अगर वह है तो – पलटे बिना तो नहीं छूट गयी?

लेकिन यहाँ तक पहुँचने के पहले भी कुछ हो चुका होता है। कहानी मुझे इतना तो पकड़ ही चुकी होती है कि में उसके सामने अपनी तरफ़ से निर्बाध प्रस्तुत हो पाऊँ। कैसे? कहना मुश्किल है। वह शायद कहानी के आरंभिक पृष्ठों में उसकी भाषा और योजना का कर्म होता है। इसीलिये कहानी का 'आरंभ' महत्त्वपूर्ण है, बहुत!

पाठक की हैसियत से कोई हद नहीं मेरे लिये। वस्तु की नहीं। दिशा की नहीं। नैतिकता की नहीं। संस्कार की नहीं। सोच की कोई सीमा नहीं। और रचना को, तदनुसार कहानी को भी, सोच की मुक्ति की तलाश / संभावना / आविष्कार / प्रमाण मानते हुए मैँ कहती हूँ, भाषा जहाँ तक भी ले जा सके, वहाँ तक। भाषा ही है जो वस्तु-जगत को मनुष्य-जगत में बदलती है। उसे अर्थ और मूल्य प्रदान करती है। भाषा के साथ किसी व्यक्ति का रिश्ता जितना गहरा और व्यापक होता है, भाषा पर उसका अधिकार जितना मज़बूत होता है, भाषा पर उसकी पकड़ जितनी पेचीदा होती है, जीवन और जगत की उसकी समझ भी उतनी ही गहरी, व्यापक, मज़बूत और पेचीदा होती है। आलोचक और रचनाकार की हैसियत से भी मेरी हदें इसी 'बेहद्द' की संभावनाओं से तय होती हैं। उस मानसिक वितान में किसी भी निषेध या मर्यादा या वर्जना या नैतिकता या मूल्य को प्रश्न और परीक्षा का, चीर-फाड़ और उल्लंघन का विषय बनाया जा सकता है। इस संक्रमण-समय में खास तौर से हमारे सांस्कृतिक निषेधों को निरस्त होते हुए, परिचित वर्जनाओं को निर्मूल्य होते हुए देखा जा सकता है और अगर अपने सदियों के मानसिक अभ्यास से तनिक परे जा खड़े हो सकें तो, शायद एक हद तक औचित्यपूर्वक भी। लेकिन वह पाठक की हैसियत से मेरी निजी रुचि और समझ की बात है।

लेकिन सम्पादन!

क्या होती है सम्पादक की जिम्मेदारी? या हैसियत? मुझे अहसास था तो नहीं लेकिन कराया गया तो हुआ कि इसका मतलब ताकत है; साहित्य-जगत की सरकार में हिस्सेदार होने की ताकत है; आप में अगर बूता और मंशा है तो न सिर्फ़ हिस्सेदार बल्कि अधीश्वर भी होने की ताकत है, तब इसका मतलब साहित्यकारों को बनाने बिगाड़ने की ताकत हो जाता है, न सिर्फ़ इतना, बल्कि अपने समय के रचना-प्रवाह की दिशा, रचनाकार की दृष्टि, विषय-वस्तु को तय करने की, मोड़ देने की ताकत भी।

ताकत तो होती ही होगी, आप सजग भाव से उसका इस्तेमाल न कर रहे हों तो भी, आपके काम की प्रकृति की वजह से होती होगी, या समझी जाती होगी कि है। इस मामले में अपने एक अनुभव का किस्सा सुनाऊँ वरना बात शायद बेवजह गंभीर हुई जा रही होगी। हुआ यूँ कि 'हंस' से अलग होकर 'कथादेश' में शामिल हो जाने के बावजूद राजेन्द्र जी के आग्रह बल्कि ज़िद से 'हंस' के 'क्रेडिट्स' में सम्पादन सहयोग के लिये मेरा नाम दिया जाता रहा। 'कथादेश' में तो दिया ही जा रहा था। कोई दोस्ती, कोई साथ, कोई रिश्ताा कायदे से न निबाहने की राजेन्द्र यादव की ख्याति तब तक बाकायदा स्थापित हो चुकी थी और लोग-बाग अपनी लोगबागोचित कौतूहलवृत्ति के मारे भीतर का किस्सा निकलवाने को तत्पर थे जो कि वहाँ था ही नहीं। लेकिन हंस के साथ तब तक चूँकि 22 बरस बीत चुके थे इसलिये जाहिर सा लगता था कि वजह तो कोई न कोई होनी ही चाहिये। वजह थी, लेकिन किस्सा नहीं था। किस्सा कहीं और घटित हो रहा था – बाकी के हिन्दी जगत में लेकिन मेरी जो पकड़-पहुँच के बाहर की सुदूर एकान्त सी प्रकृति है उसके फ़ासले को पार कर मुझ तक पहुँच नहीं पा रहा था। चार पाँच महीने बीत चुके तो सप्रयास मुझ तक पहुँचाया भी गया। पहले तो हरिनारायण जी ने ही अपने संकोची स्वभाव के बावजूद पता नहीं किस दबाव के तहत अपना संकोच तोड़ते हुए अनुरोध किया कि अब मैं 'हंस' और 'कथादेश' के बीच कोई चुनाव और फ़ैसला कर ही लूँ तो बेहतर! जाहिर है, उनसे किन्हीं

लोगों ने कुछ कहा ही होगा। 'किसने' ? 'क्या' ? वह बात मेरी और हरिनारायण जी दोनों की ही प्रकृति के अनुरूप न पूछी गयी, न बताई गयी। राजेन्द्र यादव से मैंने हंस के क्रेडिट्स में से अपना नाम हटाने के लिये कहा तो उन्होंने सुनने से इंकार कर दिया। बल्कि बैठे बैठे चार पाँच लोगों के नाम गिनवा दिये जिनके नाम पाँच सात पत्रिकाओं के परामर्श-मण्डल पर एक साथ मौजूद थे तो फिर मेरी नानी दो ही पत्रिकाओं में क्यों मरी जा रही थी? राजेन्द्र यादव उन दिनों चारों तरफ़ से इतना घिरे हुए थे कि अपनी ख्याति का उल्लंघन करके यह स्थापित करना उनके लिये जरूरी था कि अर्चना के हंस छोड़ने के पीछे कोई झगड़ा या मन-मुटाव नहीं है। था भी नहीं। लेकिन जैसा पहले कहा, लोगबागोचित कौतूहल और किस्साप्रेम! या फिर जिस वजह से 'हंस' छोड़ा गया था, वह मेरा नाम वहाँ रहने से भी बाधित हो रही हो, या बहरहाल जिस भी वजह से जो भी हो रहा हो, मेरे सिरे तक तो बस इस किस्म के संदेश ही आ पहुँचते रहे कि हंस और कथादेश दोनों जगह बने रह कर अर्चना वर्मा अपनी कुटिलता और धूर्तता का प्रमाण दे रही हैं। लहर चलाई जाती रही और राजेन्द्र यादव की ज़िद बदस्तूर, अर्चना वर्मा का नाम भी हंस के क्रेडिट्स में जाता रहा। चार पाँच महीने और बीते। यहाँ तक कि उन संदेशों से मेरे कान बजने लगे। नाक में दम हो गया। इससे ज्यादा और इसके अलावा तो मेरा कुछ जाना था नहीं। कनबहरई से भी काम चल ही जाता। पर जो भी इस काण्ड के पीछे था उस किसी बेचारे जीव या जीवों को दुख देकर रखने से मुझे मिलना भी क्या था? चूँकि हंस में मेरा नाम दफ़्तर में कुर्सी की पीठ पर कोट टाँग कर हाजिरी लगाने और खुद गायब हो जाने वाले बाबू की तरह मौजूद था और मुझे वह ख़याल असहज भी बना रहा था इसलिये आखिरकार राजेन्द्र जी को उनकी पूर्वलब्ध ख्याति के खतरे में छोड़कर मैंने हंस से विदा लेने की ज़िद ठान ही ली।

लगभग तेइस बरस 'हंस' के सम्पादन से जुड़े रहने के बाद इस घटना से पहली बार मुझे अहसास हुआ था कि यह एक 'पावर-पोज़िशन' है और इसको हथियाने के लिये लोग तख्त पलटने की युक्तियाँ बनाते और नीतियाँ आजमाते हैं। राजेन्द्र यादव को भी खुद अपने 'हंस' में अपने आखिरी दिनों में बेहद अकेला, परेशान और घिरा हुआ देखा था। अब पूरा पूरा अहसास है, कि यह एक 'पावर पोज़िशन' है। लेकिन पता नहीं क्यों, ताकत की तरह उसका इस्तेमाल करने में एक तरह की वितृष्णा, लगभग जुगुप्सा का अनुभव होता है। डाक में और ईमेल में अपने आप आई हुई कहानियाँ खोलना, उनमें से चुनना, छापना और उन्हें पाठक-जन से प्रशंसा पाना अच्छा लगता है। 'कथादेश' की कहानियों के चुनाव में मेरी रुचि और समझ शायद एक तरह के 'पावर-स्टेटमेण्ट' की हैसियत अख्त्यार भी कर लेती है। अच्छा लगता है।

कथादेश में कहानी छपने में देर लगती है, स्वीकृत होने के बाद अक्सर साल भर तो लग ही जाता है वरना आठ दस महीने की तो कोई बात ही नहीं। कहानी स्वीकृत होने पर हरिनारायण नम्बर डाल कर उसको फ़ाइल में रख देते हैं और वह क्यू में अपने नम्बर के हिसाब से ही छपती है। यह 'कथादेश' का जनतंत्र है, इस ख़याल से उपजा है कि जिस की भी कहानी यहाँ स्वीकृत रखी है, वह हर व्यक्ति अपनी रचना को छपा हुआ देखने के लिये बेताब होगा। एक की बेताबी दूसरे की बेताबी से ज्यादा बेताब कैसे? इसके बावजूद लोग कम से कम एक बार कथादेश में छपने के लिये उत्सुक होते हैं और साल भर इन्तजार करने को तैयार रहते हैं। अच्छा लगता है। बाकी सम्पादन करते हुए भी मैं खुद को समसामयिक रचनात्मक परिदृश्य के पर्यवेक्षक और विश्लेषक की हैसियत में ही पाती हूँ और शिक्षा, निर्देश या पथ प्रदर्शक जैसी हैसियत अख्त्यार नहीं करना चाहती। रचनाकार की स्वच्छंदता का विचार - चाहें तो उसे 'रोमाण्टिसिज़्म' के काव्यान्दोलन की अवशिष्ट देन कह लें या फिर अपने परम्परागत कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः की अनुगूँज मान लें, मुझे प्रिय है। चेतना के सीमान्तों को थाहती भाषा उसी क्षमता की उपज है।

तो पिछले तकरीबन तीस वर्षों में मैं हिन्दी की दो पत्रिकाओं के सम्पादन में सहयोगी की हैसियत से जुड़ी। पहले 'हंस' के साथ, लगभग बाईस वर्ष। फिर पिछले सात आठ वर्ष से 'कथादेश' के साथ। दोनों दो अलग मिजाज़ की पत्रिकाएँ हैं। 'हंस' का मोटो है " जनचेतना का प्रगतिशील कथामासिक"। हंस ने अपनी इस परिभाषा में अपनी विचारधारा के जनवाद और प्रगतिशील धड़ों में विभाजन को पाटने की मंशा प्रकट की है। सन 1986 में हंस की शुरुआत से लेकर अबतक 30 बरस बीत चुके हैं। ''डाइवर्सिटीज़'' नाम के अमरीकी (या कह दें संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यक्रम से प्रेरित) सामाजिक न्याय के वितरण का विचार अस्मिता-विमर्शों के सूत्रपात का कारण बना। जनवाद और प्रगतिवाद की पुरानी बहसें सम्पूर्णता तक जा पहुँचने के बाद अप्रासंगिक

हुईं। 'हंस' ने अपना मोटो कायम रखते हुए ही अपने कलेवर में विमर्शों को समेटा। 'चेतना' और 'शील' वाद के दायरों में अँटाकर नहीं रखे जाते, चाहे जन का वाद हो, चाहे प्रगति का, और आसानी से उनको लाँघ भी जाते हैं। 1995 का बाद का हंस प्रमुख रूप से विमर्श केन्द्रित बना।

'कथादेश' के मुखपृष्ठ पर छपा होता है "साहित्य संस्कृति और कला का समग्र मासिक"। यह मोटो अपने "समग्र" विशेषण में लगभग वैसा ही खुलापन और तरलता धारण करता है जैसा कि मुझको अपनी समझ और चयन की दृष्टि के बारे में सोचना अच्छा लगता है। विमर्श उसमें भी मौजूद रहते आये हैं। बजरंग के निरीक्षण में दलित-विमर्श का स्तंभ निरन्तर जारी और सुधा अरोड़ा की देख-रेख में 'औरत की दुनिया' भी वर्षों तक नियमित चला। अब भी चलता है पर थोड़ा अनियमित। और प्रगतिशीलता का वह वाला ब्राण्ड जो वादों-विवादों की परिभाषा के बाहर भी रचना में मौजूद रहता ही है। लेकिन 'कथादेश' को उस अर्थ में विमर्श केन्द्रित नहीं कहा जा सकता, जिस अर्थ में हंस को।

मोटो की चर्चा इसलिये कर रही हूँ कि इससे दोनों पत्रिकाओं के अलग अलग मिजाज़ परिभाषित होते हैं। उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कौन सी पत्रिका किस पाठक समुदाय को सम्बोधित है। पहले मैं दोनों पत्रिकाओं के विमर्शों की चर्चा कर आई हूँ। दोनों का अन्तर 'विमर्श में साहित्य' और 'साहित्य में विमर्श' की तरह सूत्रबद्ध किया जा सकता है। उसके उदाहरण से शायद समझा जा सके कि एक व्यक्ति की पाठकीय रुचि और सम्पादकीय दायित्व कई बार कैसे एक दूसरे से अलग अलग दिशाओं में भी जा सकते हैं और शायद व्यक्तित्व में एक विभाजन भी पैदा कर सकते हैं।

साहित्य में अस्मिता-विमर्श सामाजिक न्याय की राजनीतिक लड़ाई का अनुषंग मात्र है। अगर पूछा जाय कि साहित्य में विमर्श होता है या कि विमर्श में साहित्य तो उत्तर होगा कि होते तो दोनों ही हैं लेकिन दोनों की तलाश अलग अलग होती है। खोल कर कहें तो विमर्श में साहित्य का अर्थ यह है कि विमर्श एक राजनीतिक कार्रवाई है और साहित्य की ज़रूरत उसे अपने उद्देश्यों के एक माध्यम के रूप में पड़ती है। इसके विपरीत साहित्य में विमर्श का अर्थ यह है कि विमर्शगत सवालों को विषयवस्तु की तरह लेते हुए भी रचना की दृष्टि विमर्श के उद्देश्यों तक सीमित नहीं रहती, वह रचनात्मक अनिवार्यताओं से संचालित होती है। मैं जब 'हंस' में थी तब की वह घटना याद आती है कि दूधनाथ सिंह और अखिलेश की दलित कथानक की कहानियाँ वहाँ से वापस की गयी थीं। दलित-विमर्श जानबूझ कर नहीं कह रही हूँ। लेकिन फिर दोनों 'कथादेश' के एक ही अंक में साथ साथ छापी गयी थीं। कारण दोनों पत्रिकाओं की विमर्श-दृष्टियों को इसी अन्तर में खोजा जा सकता है – 'विमर्श में साहित्य' या कि 'साहित्य में विमर्श'।

हंस 'विमर्श-में-साहित्य' की पत्रिका का अवतार ले चुकी थी। एक तो उन दिनों की विमर्शीय बहस में यह मुद्दा गरम था कि दलित की पीड़ा दलित ही लिख सकता है। अब इतने दिनों बाद बहुत ठीक से तो याद नहीं, शायद उन दोनों कहानियों को आरोपित सवर्ण-दृष्टि का दोष दिया जा सकता था। अखिलेश की कहानी का नाम शायद ग्रहण था। वह एक बच्चे के बारे में थी। किसी शारीरिक अपर्याप्तता या रोग की वजह से उसका मलद्वार अवरुद्ध था और एक आपरेशन द्वारा शायद पेट में ही एक उत्सर्जन-द्वार निर्मित करके एक नली से जोड़ा गया था और उत्सर्जित मल को हर समय शरीर पर ढोते रहना होता था। शायद। आज बच रही स्मृति के हिसाब से समझूँ तो वह मलोत्सर्जन-द्वार के अवरोध से रुग्ण समाज की रूपकीय अभिव्यक्ति थी। दलित जीवन समाज के उसी रोग का नतीजा समझा जा सकता था शायद! कथानक में आगे क्या हुआ था यह याद नहीं। पढ़ने का अनुभव, रोग के उसी रूपक की वजह से, जुगुप्साजनक था, यह याद है। वह ऐसी दीवार सा बन गया था जिसे पार करके कहानी के असली संवेदन तक पहुँचना कठिन लगा था।

और दूधनाथ सिंह की कहानी एक होस्टेल में रहने वाली दलित छात्रा के बारे में थी। उसकी भी स्मृति धुँधली पड़ चुकी है। होस्टेल की वार्डेन और शायद उसके पति तथा अन्य पदाधिकारियों वगैरह के दुष्चक्र में शायद उसके सहयोग से, या शायद अन्यथा ही, उसका शारीरिक शोषण होता है और अन्त में शायद हत्या भी। जहाँ तक याद पड़ता है, शायद वह उस शोषण प्रक्रिया में अपना लाभ ले लेने की मंशा से कुछ सौदेबाज़ी करना चाह रही थी। लेकिन बिल्कुल संभव है कि मैं किसी और कहानी के साथ उसका घाल-मेल कर गयी होऊँ। लेकिन किसी तरह का ऐसा खुरदुरापन उस चरित्र में गूंथा गया था जिसकी वजह से ऐसा नहीं लगता था कि लेखक ने उसे प्रश्नहीन सहानुभूति के साथ देखा है;

जबकि उन दिनों की ''पोलिटिकली करेक्ट'' बात यही हुई होती। अन्त में वह सवर्ण-दुष्चक्र की शिकार होकर मारी जाती है। लेकिन कहानी इतनी सीधी सपाट नहीं थी। वह दूधनाथ सिंह मार्का जटिल यथार्थ की जटिल कहानी ही थी।

शायद की शब्दावली में बात कर रही हूँ, तुम्हारी डेडलाइन की वजह से इतना वक्त नहीं है कि कहानियाँ खोज कर सत्यापित कर लूँ और सच कहूँ तो मंशा भी नहीं है। लेकिन कहानियों की कथानक को लेकर भले ही यहाँ शायद-शायद हो रहा हो, इतना पक्का याद है कि लेकिन इन दोनों कहानियों को लौटा देने के बारे में राजेन्द्र जी से मेरा कोई मतभेद नहीं था।

उन दिनों में अगर मैं कथादेश में हुई होती तो मैंने क्या किया होता ? छपने के लिये कहानियों को चुना होता या नहीं ? शायद नहीं, लेकिन उन कारणों से तो बेशक नहीं जिनके आधार पर राजेन्द्र यादव ने उनको वापस किया था। उनका एक कारण तो यही था कि दलित की पीड़ा सिर्फ दलित ही लिख सकता है। इस बात को लेकर तब भी मेरी उनसे बहस हुआ करती थी, यह जानने के बावजूद कि अपना अपना पक्ष तय कर चुके होने के बाद बहस का कोई तुक नहीं हो। पक्ष-विपक्ष का मतलब यहाँ कृपया दलित संवेदना का पक्ष-विपक्ष न समझें। दोनों ही उसके पक्ष में थे। बहस में मेरा पक्ष अक्सर यह होता था कि दलित की पीड़ा अगर सिर्फ़ दलित ही लिख सकता है तो इसकी क्या गारण्टी है कि दूसरा कोई उसको पढ़ कर उसे समझ भी सकता है। तब तो आखिरी हद यही हो सकती है कि खुद लिखो और खुद ही समझो ! दूसरा कारण उभरते हुए दलित सौन्दर्यशास्त्र के तर्क थे जिनके हिसाब से रचना में व्यंजना-सौन्दर्य, प्रतीकात्मकता, रूपकीयता, संरचना की जटिलता वगैरह को यथार्थ के साथ धोखाधड़ी के अलावा और कुछ नहीं माना जा सकता था। उन तर्कों में सदियों की अभ्यस्त और जड़ीभूत सवर्ण-सौन्दर्य चेतना को चुनौती का भाव और शायद कुरूपता, फ़ूहड़पन और सपाटबयानी जैसी चीजों के प्रति नकार और अरुचि को केवल सवर्ण संवेदना की अभ्यस्तता और ज़िद का मामला मानने का आग्रह था। लेकिन हदों को ही अन्तिम परिभाषा मानकर उसी दायरे में अपना सौन्दर्यशास्त्र रच रखने के उपक्रम से मैं आज भी खुद को सहमत नहीं पाती। उन कहानियों से मेरी असहमति की वजह भी शायद उस किस्म के सौन्दर्यशास्त्र की कार्यान्विति को लेकर ही थी। मुझे लग रहा था कि दलित कथानकों में वितृष्णा और जुगुप्सा के पाठकीय अनुभव के समावेश से दलित-विमर्श का उद्देश्य ही पराजित होता है।

राजेन्द्र यादव मेरे लिये कलावादी-सौन्दर्यवादी विशेषणों का प्रयोग गाली की तरह किया करते थे। ''कलावाद'' की उनकी समझ वामपंथी परिभाषाओं से सीमित थी और पहले से चली आती सैद्धान्तिक धारणाओं को अपने लिये, अपनी रचनात्मक शर्तों पर पुन:परिभाषित कर लेने की क्षमता से लैस होने के बावजूद वे रुझान से इसके लिये तत्पर नहीं थे। लेकिन कलावाद और सौन्दर्यवाद का मतलब भाषा की अलंकृति और नयन-मनोरम वाला सौन्दर्य भर नहीं है। कलावाद का मतलब यथार्थ को उसकी यथार्थवादी जकड़न से छुड़ा पाना है, उसके भीतर मौजूद रह कर भी उसे बाहर से देखना और उसके अदब-कायदों, शासनों-अनुशासनों से मुक्त हो जाना है ताकि उसको दर्पणवादी दृष्टि की व्याख्या और अनुकृति वाली पद्धति के अलावा भी अपनी रचना में समीक्षा, संशोधन, विरोध, विलोम, रूपकीय और प्रतीकात्मक पुन:सृजन वगैरह वगैरह अनेक समीकरणों में उसको आविष्कृत और अभिव्यक्त किया जा सके। सौन्दर्यवाद का मतलब सामाजिक अन्याय और विषमता की अनैतिकता और कुरूपता के विरुद्ध न्याय और नैतिकता की पक्षधरता है। जहाँ नैतिकता की रूढ़ मर्यादाएँ अन्याय में बदल चुकी हों वहाँ उनका उल्लंघन करने की अनैतिकता में नैतिकता के उद्भव का दर्शन कर पाना सौन्दर्यवाद है। वही साहित्य का स्वायत्त-प्रदेश भी है।

शायद हमारी उस बहस के मुद्दों से मेरे सम्पादकीय चयन के आधारों को परिभाषित करने में कोई मदद मिले - मैं इस बात को लेकर शर्त बदने को तैयार थी कि अगले दस बरसों में इसी दलित साहित्य में आप भाषा का मँजाव, संवेदना की प्रौढ़ता, व्यंजना, संरचना में गुँथे प्रतीक, रूपक सब कुछ सिरजता हुआ देखेंगे। तब यह तथाकथित सौन्दर्यशास्त्र अपने आप अप्रासंगिक होता पाया जायेगा। और जैसे जैसे दलित-साहित्य राशिभूत होगा, वैसे वैसे उसके अन्दर भी तुलनात्मक मूल्यांकन के लिये कसौटियों की ज़रूरत खड़ी होती जायेगी। ठीक है कि फ़िलहाल दलित साहित्य के लिये कसौटियों में ढील दी जाये लेकिन उसके सामने अपनी हदों का अतिक्रमण करने की चुनौती को कायम रखा जाय। साहित्य-जगत में दाखिल होने के लिये ऐसी कोई चौहद्दियाँ नहीं हैं जिनके उल्लंघन के लिये किसी को अनुकम्पा के आधार पर अनुमति की जरूरत हो, दाखिले के बाद प्रकाशन के लिये चयन और

प्रकाशित होने के बाद मूल्यांकन में जरूर अनुकम्पा की जरूरत हो सकती है लेकिन इस नये दलित सौन्दर्यशास्त्र का उपक्रम तो बैसाखी को ही पाँव बना देने का प्रतीत होता है।

अपनी इस बात में "सवर्ण-दंभ" की गंध के आरोप की आशंका और उसके "सियासी अनौचित्य" से परिचित होने के बावजूद मैं मानती हूँ कि अस्मिता-विमर्शों की वास्तविक सफलता अप्रासंगिक हो जाने में, उस जगह तक पहुँच जाने में है जहाँ इस किस्म के विशेषीकरण की ज़रूरत ही न रहे। और आज सचमुच कैलाश वानखेड़े, अजय नावरिया, टेकचंद, रजनी सिसोदिया, अंजली काजल, सुमित्रा महरौल इत्यादि जैसे अगली पीढ़ी के युवा रचनाकारों को देखती हूँ तो गर्व होता है कि साहित्य के मूल्यांकन के लिये अब उनके नाम के साथ किसी विशेषीकरण की जरूरत नहीं, अन्यान्य कारणों से भले ही यह विशेषीकरण बनाये रखा जाय।

अपनी सम्पादकीय नीति और पाठकीय रुझान के तनावों को परिभाषित करने बैठी ही हूँ तो पुनः ''सियासी अनौचित्य" की परवाह न करके मैं सौन्दर्यशास्त्र की बात उठाना चाहूँगी। परम्परागत सबकुछ के नाम चुनौती और ध्वंस के इस समय में शायद यह बात कुछ अजीब लगे लेकिन निस्संदेह, विमर्शों का माध्यम होने के अलावा साहित्य स्वयं भी विमर्श की एक कोटि है और उसकी समझ व पकड़ के लिये सौन्दर्यशास्त्र की शरण जरूरी है। मेरा सौन्दर्यशास्त्र किसी सैद्धान्तिक और शास्त्रीय अर्थ में सौन्दर्यशास्त्र नहीं है। वह मेरी संवेदना के संस्कार का नाम है। और वह इस सिलसिले के मेरे समस्त जाने-बूझे का ऐसा सम्पृक्त घोल है कि उसमें सिद्धान्त-सम्प्रदाय, पूरब-पच्छिम, भाव-विचार सब अपना अपना पारस्परिक विरोध खोकर समा गये हैं। जिस भी विचार की मदद से जो कुछ समझ आये, मेरे लिये वह सब मूल्यवान है। अब तो मैं भी नहीं जानती कि उसमें क्या कहाँ से आया है हालाँकि चुनाव में अन्ततः अपनी रुचि के अलावा और ज्यादा कुछ बचता है नहीं क्योंकि उसीके निर्माण में सबकुछ खप चुका है।

मान लेती हूँ कि मेरी संवेदना और रुचि की रचना में भारतीय काव्यशास्त्र के सौन्दर्य-पक्ष का कोई न कोई हाथ है, हालाँकि हमारे पढ़ने और बढ़ने के दिनों में उसके साथ विधिवत बहस के बिना ही उसे खारिज कर देने का चलन था। तो खारिज वह पहले ही किया जा चुका था लेकिन बाद में फिर कभी इस समझ के साथ प्रासंगिक हो उठने के लिये कि काव्यशास्त्र का कुल निचोड़ केवल "सद्वंशजात क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण" जैसे नायक-लक्षणों और " मुग्धा-मध्या-प्रौढ़ा" जैसे नायिका-भेदों तक में सीमित/ समाया हुआ नहीं है जिसके आधार पर उसे सामन्तशाही का अवशेष घोषित करके खारिज किया जाता रहा था। वह तो उसके छिलके का भी छिलका है। और आज उसे भर चुके घाव के गिर चुके खुरण्ड की तरह जलाया और भुलाया जा सकता है।

जहाँ तक देख पाती हूँ, मुख्य बात लगती है कालबोध की साहित्यिक संरचना, साधारणीकरण, और भाषा की भूमिका। इस बात की हालाँकि यहाँ कोई प्रासंगिकता तो नहीं लेकिन ज़िक्र करने का लोभ छोड़ नहीं पा रही हूँ। जानती हूँ कि इस तरह के जिक्र भारत-व्याकुलता का आरोप आमंत्रित करते हैं, फिर भी, और जोकि मैं शायद हूँ भी! आर्थर क्वेस्लर ने अपनी किताब 'ऐक्ट ऑफ़ क्रियेशन' में सौन्दर्यानुभूति की विस्तार से व्याख्या करने के बाद बिना कोई फुट-नोट या सन्दर्भ दिये हुए, "सम ऑफ़ द ओरियण्टल थ्योरीज़" का चलताऊ सा ज़िक्र भर किया है जिनमें "उनकी उस धारणा से मिलती-जुलती" कोई बात कही गयी है। और उनकी वह धारणा "सौन्दर्यानुभूति" वही है जिसे हम साधारणीकरण के नाम से जानते आये हैं। सॉस्यूर ने ऐसा ही कुछ भाषिकी के बारे में अपनी धारणाओं के विषय में किया है। फ़ुटनोट में व्यंजना और ध्वनि का सन्दर्भ देने की ग़लती नहीं की है।

कालबोध की साहित्यिक संरचना यानी लेकिन काल और तत्काल को एक साथ देखना। देख पाना कि इतिहास और राजनीति के दाँतों और नाखूनों के निशानों से क्षत विक्षत तत्काल प्रतिक्षण काल में डूबता है। वह अवधि और निरवधि का गुम्फ है। वह साहित्य का स्वायत्त प्रदेश है लेकिन वह 'कला कला के लिये' जैसा कोई स्वतःसम्पूर्ण जगत-निरपेक्ष अर्थ नहीं है। वह सापेक्ष होते हुए भी स्वायत्त है। इसमें सामाजिक-सांस्कृतिक सापेक्षता भी शामिल है और राजनीतिक सापेक्षता भी।

'स्वायत्त' और 'सापेक्ष' को एक दूसरे से अलग कर काल-सापेक्ष और काल-निरपेक्ष के खानों में बाँट देना बहुत आसान है लेकिन मेरी रुचि की कहानी इन सारी अपेक्षाओं को अपने भीतर धारण करते हुए भी इनकी हदों के पार, इनसे अधिक और अतिरिक्त और भिन्न किन्हीं अपेक्षाओं के कारण स्वायत्त बनती है। कहानी एक छोटी विधा है, उसके लिये कई बार इसे निभा पाना मुश्किल हो सकता है। लेकिन वह छोटे छोटे किरदारों में थोड़ा थोड़ा

करके उसे प्राप्त और स्वायत्त करती है। साहित्य अपनी उस स्वायत्त सत्ता को छूकर ही सच्चे अर्थ में कोई प्रतिपक्ष या विकल्प बन सकता है अन्यथा वह शेष सापेक्षताओं के दायरे के भीतर उनका ही विस्तार अथवा रूपान्तर बन कर रह जायेगा। काल, यथार्थ और मूल्य के एक भिन्न और वैकल्पिक बोध से वह अपना प्रतिपक्ष रचता है और वही उसकी राजनीति है।

स्वायत्त और सापेक्ष को दो खानों में बाँट रखने से अपनी संवेदना में भी एक विभाजन पैदा होता है। मुझे याद आता है कि राजेन्द्र यादव अलका सरावगी के प्रथम उपन्यास 'कलिकथा वाया बाइपास' के घनघोर प्रशंसक थे। उन्होंने न केवल खुद उसे बेहद पसन्द किया बल्कि आग्रह कर-कर के पता नहीं कितने लोगों को उसे पढ़वाया भी। और उसे केन्द्रित करके अपना एक सम्पादकीय भी लिखा। लेकिन वह सम्पादकीय उनकी प्रशंसा की प्रत्याशा के अनुरूप नहीं था। मैत्रेयी पुष्पा का भी एक उपन्यास अलका सरावगी के उपन्यास के साथ ही आया था। राजेन्द्र जी का सम्पादकीय दोनों उपन्यासों को साथ साथ रखकर तुलना-भाव से लिखा गया था और मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास को ऊपर ठहराते हुए कलिकथा के सौष्ठव को उसकी खामी बताया गया था। मैत्रेयी का उपन्यास भी अपनी जगह पर अच्छा ही था लेकिन दोनों में तुलना की कोई गुंजाइश नहीं थी। राजेन्द्र यादव ने अपना प्रशस्ति-पत्र इतने सारे लोगों के आगे बाँचा था कि आगामी परिहास और उपहास से बच निकलने की कोई खास गुंजाइश थी नहीं। लेकिन वहाँ से शुरू हुई बात आखिर संवेदनात्मक विभक्ति की इस हद तक गई कि अन्ततः उन्होंने अपने समूचे कथा-सृजन को ही खारिज कर दिया। ऐसी ही एक घटना हंस की एक कहानी प्रतियोगिता के परिणाम को लेकर भी हुई थी जिसके निर्णायक-मण्डल में एक मैं भी थी। कहानियाँ याद नहीं लेकिन यह याद है कि राजेन्द्र यादव ने निर्णायक मण्डल का हिस्सा न होने के बावजूद और पुरस्कार की विधिवत घोषणा हो चुकने के बाद भी अपने पता नहीं किस अधिकार के हवाले से, या शायद बिना हवाले के ही, निर्णय को बदल कर द्वितीय कहानी को प्रथम और प्रथम को द्वितीय कर दिया था। तर्क वही कि दूसरी कहानी का विषय सामाजिक था। जबकि जहाँ तक मुझे याद पड़ता है वह दूसरी कहानी भी वैयक्तिक स्वर में सामाजिक यथार्थ की कहानी ही थी और राजेन्द्र यादव की राय में भी; एक बेहतर कहानी थी।

शायद यह स्वायत्तता का भ्रम है, या मेरा अहंकार या मेरे दिमाग़ की अराजकता, मुझको इस किस्म की विभक्ति "सियासी औचित्य" के दबाव में "प्लेयिंग टु द गैलरी" का अभिनटन सरीखा प्रतीत होता है। मुझे पता नहीं क्यों मैं खुद को इसके विपरीत खड़ा पाती हूँ। सन्तुष्ट नहीं होती पर निरपेक्ष हो जाती हूँ। व्यक्तिगत से मेरे लिये कुछ भी दाँव पर नहीं लगा है। कुल मिलाकर रुचि ही तो है। कल शायद न रहे। साहित्य के बदले और किसी चीज़ में जाग उठे। राजनीति के आगे मशाल लेकर चलने, दुनिया को बदलने वगैरह जैसे बड़े बड़े उद्देश्यों के पीछे चलने की बजाय अपनी कक्षा में पहली पंक्ति में बैठी छात्राओं तक चार पंक्तियों का अर्थ पहुँचा पाना संप्रेषण का बड़ा चमत्कार महसूस होता है। बाकी कार्यक्रम तो एक निश्चित विचारधारा के निश्चित पंथ के भीतर भी अपने विशेष गुट या गिरोह की सदस्यता के मानदण्डों से चलता दिखाई देता है। उस दायरे के बाहर के किसी कवि की समाज-राजनीति-सापेक्षता वगैरह भी छद्म अतः सन्दिग्ध घोषित की जा सकती है।

पाठक की हैसियत से मुझे खासा गुमान है कि विकट से विकट कहानी भी मैं अपनी संवेदना को क्षत-विक्षत पाये बिना झेल सकती हूँ। हरिनारायण ने 'कथादेश' को ऐसा व्यक्तित्व दिया भी है और इस सन्दर्भ में वे कोई जोखिम उठाने से कभी पीछे नहीं हटते। हंस से लौटाई गयी दो कहानियों का जिक्र ऊपर किया गया है जो 'कथादेश' में छापी गई थी। प्रियम्वद की 'बूढ़े आदमी का उत्सव' नामक एक कहानी याद आ रही है। वह भी कथादेश में ही छपी थी। तब मैं यहाँ नहीं थी लेकिन पत्रिका के स्वभाव को समझाने के लिये उसका ज़िक्र कर रही हूँ। वह एक बहुत ही गहरी नैतिक दुविधा और संकट की कहानी थी और उतने ही गहरे और नाजुक सन्तुलन के साथ निभाई गयी थी। कहानी एक शत-प्रतिशत अपाहिज बच्चे और उसकी माँ के बारे में थी। बच्चा पूरी तरह से माँ पर निर्भर है और उसकी पूरी देखभाल माँ को ही करनी है। बच्चा धीरे धीरे युवा होता है और उसमें यौनाकांक्षा जागती है। उसकी तकलीफ़ असहनीय है। वह अपनी आकांक्षा का अर्थ नहीं जानता। सिर्फ तड़पना जानता है। भूख, प्यास, नींद, मल-मूत्र-विसर्जन जैसी नितान्त प्राकृतिक आवश्यकता जिसे आकांक्षा कहना भी शायद ठीक नहीं। माँ अब क्या करे? इसके पहले तक बच्चे की हर जरूरत उसने पूरी की है और बच्चे के लिये यह जरूरत भी बाकी जरूरतों की कोटि की ही है। कहानी को पूरा पढ़े बिना उस सन्तुलन को समझा

ही नहीं जा सकता जिसे प्रियम्वद ने इस कहानी में विकट तरीके से साधा है।

यथार्थवादी कला के मुकाबले में खड़े कैमरा-कौशल के सामने साहित्य दोयम होने को ही अभिशप्त है। क्षणांश को आकर गुजर जाने वाले बिम्ब में कैमरे से जो यथार्थ जितने प्रभावी ढंग से मूर्त किया जा सकता है, कलम उसकी बराबरी कहाँ तक करेगी? वह तो उस क्षेत्र में कैमरे के बयान के लिये बस एक ब्लू-प्रिण्ट तैयार करने के काम ही आ सकती है। टेक्नालॉजी का हर अगला विकास कला के पिछले रूप-विधान के सामने एक चुनौती छोड़ जाता है कि अपना कायाकल्प करे। कैमरे ने आकर एक चुनौती प्रभाववादी चित्रकला के सामने रखी और अभिव्यंजनावादी चित्रकला आन्दोलन का जन्म हुआ, दूसरी चुनौती कलम के सामने रखी जिसने कलम का मुँह बहिरंग यथार्थ से अन्तरंग जगत की ओर मोड़ दिया जहाँ तक कैमरा पहुँच ही नहीं सकता और जिसे कथाकार अपनी कलम से कुरेद कर बाहर लाता और एक वस्तुगत अस्तित्व प्रदान करता है। युवा पीढ़ी याद नहीं होगा, शायद मालूम भी नहीं होगा कि भाववाद, रूपवाद, कलावाद, व्यक्तिवाद और तत्त्ववाद बहुत दिनों तक शत्रुपक्ष की विचारधाराएँ बना कर रखी गई थीं और साहित्य में जीवन के प्रतिनिधित्व को अधूरा और एकांगी करके उनके यथार्थ की अभिव्यक्ति को साहित्य के लिये अवांछित भी मान लिया गया था।

लेकिन शुक्र है कि आज वे हालात बाकी नहीं हैं। कहानी के दिखाने से आज अचेतन के तहखानों में वर्जित लालसाओं का प्रेतनृत्य और कामकुण्ठाओं का उत्पात देखा जा सकता है जिन्हें हम प्राय: नहीं देखना चाहते। न देखकर उनके वहाँ न होने का बहाना करते हैं। और बहाना करके सुरक्षा का भ्रम पाल बैठते हैं। कहानी के दिखाने से भी नहीं देख पाते कि हमारे भीतर के ये तहखाने विस्फोटक सामग्री का गोदाम बन चुके हैं और भोले, मूर्ख अपर्याप्त विधि-निषेधों से संचालित सामाजिक सुरक्षा-तंत्र कब का ध्वस्त हो चुका है। उसे साफ़ सीधे आमने सामने देखने से इंकार करके उसे पर्याप्त बनाने का कोई उपाय संभव नहीं है। ये एक गहन 'अवैध नैतिकता' के सवाल हैं जबकि ज़िन्दग़ी को हम 'वैध अनैतिकता' के आधार पर चलाते हैं और उनको नैतिकता का आधार भी मानते हैं। ये सवाल आदमी की ज़िन्दग़ी को उद्दाम प्रलोभन और कठिन तटबन्ध का, आवेग और निषेध का, सदा ही कगारों के आस पास की जान जोख़िम का मामला बना देते हैं। इस विशिष्ट यथार्थ और उसके निरूपण के फ़ासलों और फाँकों के बीच खोलने या ढाँपने, देखने दिखाने या छिपाने, जताने या न बताने की लेखकीय मंशा दरअस्ल उस कोटि के लेखकों के लिये नैतिक मूल्यों और चुनावों का दर्जा रखती है। कहानी ने अगर मुझे पकड़ लिया तो घोर अनैतिक सी दिखती कहानी के रेशे सुलझा कर भी मैं उसकी नसों में बहती नैतिकता को छानकर निकाल सकती हूँ, कहानी के भीतर के उस नसतोड़ आवेग और तनाव को अपनी नसों पर झेल भी सकती हूँ जिसके सामने सन्तुलन और मर्यादा के सवालअपर्याप्त और अप्रासंगिक हो जाते हैं और ध्वंस अपना औचित्य स्वयं अर्जित कर लेता है।

ऊपर कहीं अपनी पाठकीय रुचि को परिभाषित करते हुए टिप्पणी कर के छोड़ दिया गया है- ''लेकिन सम्पादकीय!'' विमर्शों के साथ हंस और कथादेश के रिश्तों की परिभाषा के जरिये दोनों के अभीष्ट पाठक समुदायों को पहचानने की कोशिश भी की गयी है क्योंकि सम्पादक का काम अपनी पत्रिका को अनजाने पाठक और रचना के बीच पुल बनाने का होता है। यह कामना ही की जा सकती है कि वह पाठक स्वयं अपने को इस पत्रिका के पाठक और ग्राहक की तरह पहचान लेगा।

और भी बहुत सारी कहानियों के बहुत सारे उदाहरण देकर बात को और भी बहुत सारे आयामों में खोला जा सकता है लेकिन बात फिर अनन्त रूप से बढ़ती जायेगी। इसलिये यहीं रोकती हूँ।

'कथादेश' का अभीष्ट और सम्बोधित पाठक वही है जिसकी रुचि और क्षमता मुझे अपने जैसी लगती है। लेकिन कभी कभी किसी पाठक का पत्र या फ़ोन मुझे सजग भी कर देता है। पिछले किसी अंक के बाद पटना से विद्या लाल ने फ़ोन करके पूछा था कि लक्ष्मीधर मालवीय की जो कहानी आपने छापी है, वह मेरी कुछ समझ में नहीं आई, उसकी नायिका को क्या दुख है? 'हंस' में थी तो राँची से एकबार कलावन्ती ने फ़ोन करके उस बार के मुखपृष्ठ से आपत्ति जताई थी। वहाँ गोगी सरोजपाल का एक चित्र छापा गया था। वह एक चिड़िया का चित्र था, उसका मुख स्त्री का था, बहुत बड़ी बड़ी भास्वर आँखों में स्वप्नों का नीलापन था लेकिन उसकी देह के अंगों पर स्त्रीत्व का भारीपन था जो उसको उड़ने नहीं देगा। यह सब उनसे कहा था तो वे बोली थीं कि वह सब तो ठीक है मैडम लेकिन पत्रिका को घर ले जाना होता है, घर में सब लोग देखते हैं, बच्चे देखते हैं, क्या

सोचते होंगे, मैं क्या पढ़ती हूँ। राजेन्द्र जी ने यह आपत्ति ठहाके में उड़ा दी थी। वे कभी कभी किसी किसी रचना के शीर्षक के नीचे ब्रैकेट में इस किस्म की टिप्पणी भी लगा देते थे, (बहू बेटियों के लिये निषिद्ध)। लेकिन मैं जानती हूँ कि कलावन्ती रचनात्मक दृष्टि और सृजनक्षमता से सम्पन्न एक गंभीर पाठिका और रचनाकार हैं। किसी भी पत्रिका को ऐसे पाठक की दरकार होगी, पाने पर गर्व होगा। विद्या लाल भी साहित्य के लिये समर्पित गंभीर पाठिका हैं। और भी होंगे जो इस तरह की आपत्ति दर्ज करने के लिये फ़ोन नहीं उठाते होंगे। इसलिये पहले चुनाव के बाद और अन्तिम चुनाव के पहले ज्यादा विकट कहानियों में एकबार इस ख़याल से भी नज़र डालती हूँ इन्हें अर्चना वर्मा की नज़र से न पढ़ने वाले लोग भी होंगे। वे अगर पत्र लिख कर अपनी बात कहें तो हम रचना को विमर्श में ले जाते हैं। और 'कथादेश' में बहसें मुद्दों पर ही चलाई जाती हैं।

लेकिन इसके बावजूद अभी तक छापने का ख़तरा न उठाने की नौबत नहीं आई है। बात यह है कि सम्पादन भी मेरे और हरिनारायण के लिये एक तरह की रचनात्मक अभिव्यक्ति भी है।

जे-901 हाइ-बर्ड,
निहो स्कॉटिश गार्डेन,
अहिंसा खण्ड -2, इन्दिरापुरम,
ग़ाज़ियाबाद, 201014

अरुण देव

इब्दिता फिर उस कहानी की

यह समय कहानी से कुछ और मांगता समय है। वह शिष्ट रहे, संतुलित रहे पर वह कहीं अंगुली न धरे तो आज किस काम की। उसे आगे बढ़कर अपनी विवेकी भूमिका निभानी है। यह समय प्रेमचंद से बहुत आगे का समय है। यहाँ विवरण इतने सघन और बहुवर्णी हैं कि हठात ठिठक जाना पड़ता है। मनुष्यविरोधी और प्रतिगामी शक्तियाँ इतने चेहरे और इतनी आवाजों के साथ मौजूद हैं कि उन्हें अलग-अलग विलगाना और पहचानना दुरूह है। इतने मोर्चे हैं कि आज कहानी किसी एक सीमा पर भी मुठभेड़ कर ले तो मैं उसे सार्थक समझूंगा। आज विवरण में गुम जाने का अवकाश नहीं किसी पाठक के पास। उसे शब्दों की किसी सृजनात्मक यात्रा से ही संतोष नहीं होता है वह तो इस बनैले समय में कुछ कठिन चाहता है।

समाज के पारम्परिक मोर्चे आज और भी धारदार हुए हैं- जातिवाद दिमाग में घुसकर नसों में बहने लगा है। साम्प्रदायिकता की नंगई समक्ष है। स्त्री-पुरुष के रिश्ते और जटिल हुए हैं। प्रताड़ना के दैनंदिन प्रयोग संवेदना को कुंद कर रहे हैं। राजनीति और गिरी है तथा पूंजीवाद अपने सर्वग्रासी रूप में हमारे सामने हैं। वह लगातार अपने मुनाफे के हिसाब से हमारी आवश्यकताएं निर्मित कर रहा है। शहर में कई संसार एक साथ बसे हुए हैं एक दूसरे की कीमत पर। भाषा से लगातार मनोरंजन की मांग की जा रही है। उसे बस सजावट के लिए सहेजा जा रहा है। उसे सिर्फ कामकाजी बनाकर छोड़ दिया गया है।

ऐसे में कहानी अपने सुथरेपन से अब आश्वस्त नहीं करती। उसे खौलते, खदबदाते कथानकों से जूझना है। अगर वह कई स्तरों पर एक साथ जूझते हुए कहीं पहुचे तो और अच्छी बात।

कथानक जब कहानी में ढले तो उसे अपनी बुनावट में एकतान होना पड़ता है, नहीं तो पाठक बीच में रुक जाएगा और फिर दुबारा पढ़ना या पढ़ने की कोशिश करना कमजोरी ही कही जायेगी. अगर कथाकार किसी रूपक को लेकर चलता है तो वह

रूपक पूरी कथा में एकसार दिखना चाहिए. कई बार कुछ अच्छी कहानियां रूपकों के निर्वाह न हो पाने पर अधूरी रह जाती हैं और उनका अर्थात खंडित हो जाता है। आज अगर कोई कहानी सम्पूर्णता में पढ़ा ले जाती है तो कहानीकार के प्रति मैं मन ही मन आभार व्यक्त करता हूँ। कहानी को कहानी की शर्त पर ही सबकुछ पाना है।

दृश्य इतनी तेज़ी से हमारे समाने से गुजर रहे हैं और इतने प्रकार की आकृतियों में अब हम रह रहे हैं कि कहानी से भी इस बदलते दृश्यों को देखने की मांग की जाती है। उसके समक्ष तरह-तरह की चुनैतियां हैं। कहानियों में अब सिर्फ समानांतर रेखाएं नहीं चाहिये। एक दूसरे को काटते तिरछे संसार हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अनेक गतिशील बिम्बों से भरी हुई कहानियाँ लिखी भी जा रही हैं।

कहानी से अब रोचक होने की मांग बेमतलब की मांग है। वह टीवी पर चलते अंतहीन कथाभासों से अधिक रोचक (सतही) कभी नहीं हो सकती। सिनेमा के लगातार प्रयोगों के सामने भी नहीं टिक सकती। उसे जिन्दा रखेगी नैतिकता और बोध। वह जीने की नैतिकता अगर नहीं सीख रही है तो उसकी अद्वितीयता भी नहीं टिक पाएगी। उसमें व्यक्ति की गरिमा का बोध और निजता का सम्मान होना चाहिए। व्यक्ति ही क्यों- इस खगोल में जो कुछ भी है उसके प्रति संवेदनशील बोध वह पैदा करे। उसे प्रतिपक्ष की अपनी भूमिका से ही जीवनदान मिलेगा।

कहानी हर पाठक के लिए अद्वितीय है क्योंकि उसका आधा अर्थ वह अपने जीवनानुभव से भरता है। इस लिहाज़ से प्रत्येक कहानी जब तक आपने उसे पढ़ा नहीं है आपके लिए नई है। सहित्य इसलिए पुराना नहीं पड़ता। अगर इसी कहानी पर फ़िल्म बन जाए तो वह एक उभयनिष्ठ सिनेमाई बिम्ब श्रृंखला में बदल जाएगी और अनन्यता नष्ट हो जाएगी. अर्थों की बहुलता खत्म हो जाएगी।

विषय भले ही पुराने हों या जिसे शाश्वत कहते हैं जैसे - सौन्दर्य, प्रेम, काम, मृत्यु, मोह, विद्रोह, ईर्ष्या, अलगाव आदि, देखना यह है कि उसमें नया अर्थ भरा गया है कि नहीं। जबसे भाषा में लिखना शुरू हुआ - प्रेम पर भी लिखना शुरू हुआ। फ्रायड तो यहाँ तक कहते हैं कि सभी रचनात्मकतायें हमारी काम -चेतना की प्रस्फुटन हैं। फिर भी हर कथाकार प्रेम को अपने लिए अलग से स्वायत्त करता है, खोजता है और रचता है। इसलिए हर समय की अपनी प्रेम कथा है। उसकी नव्यता झरती नहीं है। फ़िराक ने ठीक ही लिखा है - 'हज़ार बार ज़माना इधर से गुज़रा है/ नई नई सी है तेरी रहगुजर फिर भी।'

प्रयोगों और कला के 'जादू -टोनों' के दलदल से उसे बचना है. हालाँकि अनर्स्ट फिशर कला को जादू ही कहते हैं- जो यथार्थ में संभव नहीं है उसे आप कला से सर्वसुलभ करते हैं। दूसरों के अनुभव बिना जोखिम के आप के हो जाते हैं। पर यह तभी संभव है जब आपका कथानक मजबूत हो। जादूगर अगर यह अहसास करा दे कि आप जादू देख रहे हैं तो फिर जादू का तिलिस्म टूट जाता है।

उसे अब मॉल और बाज़ार के सामने दिये बेचते कुम्हारों की कथा लिखनी है जो जाने अनजाने एक विराट सत्ता के सामने निहत्ता खड़ा है। हज़ारों रुपये के सजावटी चीज खरीदने वाले उस पुश्तैनी कारीगर से एक रुपये में दो दीये के लिए भी मोलभाव करते आपको मिल जायेंगे। बाज़ार का वशीकरण मन्त्र केवल मॉल में चलता है जहाँ खरीदते वक्त न आप रकम देखते हैं न उसकी जरूरत।

उसे नगरों में बिखर गयीं उन स्त्रियों की कथा लिखनी है जो अपनी खानदानी सामन्ती मर्दवादी दुनिया में नहीं लौटना चाहतीं पर उस नगर में भी उनके गर्दन पर एक छुरा लटका है जो कभी भी गिर सकता है। वह अपनी देह पर अपनी सत्ता की सतत लड़ाई लड़ रही हैं। वहां उनपर हिंसक हमलें हो रहे है पर फिर भी अब वे वापस लौट नहीं सकतीं।

अगर कोई लिख सके तो लिखे प्रधानी के लिए खड़ी उस स्त्री के लिए एक कथा जिसे प्रधान पति से बाहर निकलकर अपनी सत्ता पहचाननी है वह भी मर्दवादी सत्ता की शैतानी आंत से गुजरते हुए। अनुभव और सरोकार के इतने प्रसंग हैं कि एक लिहाज़ से यह कथा के लिए सबसे उर्वर समय है। कथानक से जुड़ना और जूझना जरूरी है। अगर नकली कहानी लिखंगे तो उसका सतहीपन दिख जाएगा। कथानक खुद अपनी आवाज़ खोजता है। अगर वह आवाज़ आपने सुनी है तो वह आवाज़ सजेगी। अगर शब्द आपने सुने न होंगे तो आवाज़ पाठकों को खटकेगी और संपादक भी पाठक ही होता है प्रथमत:।

एक संपादक बस इतना ही कर सकता है कि वह किसी कथा को पढ़ने से पहले अपने पूर्वग्रह से मुक्त होकर पाठ शुरू करे। किसी लेखक को दस बार लौटाया गया हो पर जरूरी नहीं कि ग्यारवीं बार भी वह लौटे। ठीक उसी तरह

से आपके नामी लेखक भी किसी कमजोर रचना के साथ इस बार आपके सामने हो सकते हैं।

अगर सुधार की कहीं कोई गुंजाइश दिखती है तो मैं लेखक को इंगित करना बुरा नहीं समझता। आख़िरकार संपादक की भी अपने पाठकों के प्रति ज़िम्मेदारी होती है। चिली के मशहूर उपन्यासकार रोबेर्तो बोलानियो ने एक बार कथाकारों को सलाह देते हुए कहा था कि कभी भी एक समय में एक कहानी पर काम नहीं करना चाहिए इनकी संख्या तीन से पांच तक आदर्श है। और खूब पढ़ना चाहिए।

कहानी की शुरुआत महत्त्वपूर्ण है। गैब्रिएल गार्सिया मार्केज कहानी के पहले वाक्य को बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार वह शैली और स्वरूप को जांचने की प्रयोगशाला जैसा है।

हिंदी का बल उसकी बोलियों (अब इसे भाषाएँ कहें) का बल है। देशज भंगिमा की कहानियां बड़ी ही रवानगी भरी होती हैं। लोक-भाषा का जो लचीलापन है वह उल्लास और मलिनता दोनों को सघन बनाता है। रेणु प्रेमचंद की औपनिवेशिक हताशा को देशज उम्मीद तक ले आये, भाषा के उल्लास की रक्षा करते हुए। एक तरह से यह आजादी का महोत्सव है पर गौर करने वाली बात यह है कि उनका ध्यान जातियों के बीच होने वाली स्थानीय राजनीति से कभी हटता नहीं है। एक तरह से यह हिंदी कहानी के विस्तृत और बहुवर्णी होने का दौर था। हिंदी की कुछ अच्छी कहानियाँ देशज कहानियां हैं। ऐसी कहानी में देखना यह होता है कि लेखक देशज में सम्पृक्त सामन्त को अलगा पाता है कि नहीं।

जिन कहनियों में शिल्प पर जोर है, वे भी दरअसल अपने जटिल अनुभव को व्यक्त करने के लिए आकार खोजती कहानियाँ हैं। भाषा माध्यम होने के साथ ही एक स्वायत्त शक्ति भी है। भाषा के प्रति असावधानी कहानी के प्रति भी असावधानी है। अकेलापन, अलगाव, आत्मनिर्वासन, आत्महत्या, अतिरेक और अनन्यता जैसे अनुभवों को व्यक्त करने वाली शिल्प अन्तस् की यात्रा करने वाली भाषाओं का ही पैटर्न है। अपने को बाहर से देखने की चुनौती जब कथाकार स्वीकार करता है तब उससे कुछ अच्छी कहानियों की उम्मीद बनती है। भाषा का उदात्त और शिल्प का उन्मेष आपको बांधता है, आपको निमंत्रित करता है पर कहानी तो कहानी ही है, उसकी जान तो कथानक में बसती हैं।

5, हिमालयन कालोनी (नहर कालोनी),
नजीबाबाद, बिजनौर - 246763 (उ.प्र.)
मो. 09412656938

रोहिणी अग्रवाल

कौतूहल से आत्मसाक्षात्कार तक फैला कहानी का वितान

कहानी की चटोर पाठक के रूप में अपनी पहली पहचान बनाती हूं तो हमेशा की तरह धप्प से एक सवाल टपक उठता है - 'क्यों ? कहानियों की ही पाठक क्यों ? साहित्य की अन्य विधाओं की क्यों नहीं ? मसलन कविता ?' लेकिन संपादकीय आग्रह के कारण हर बार की तरह इस बार मैं सवाल को परे ठेल कर मुंह ढांपकर सोने की स्थिति में नहीं हूं। लगता है, अलिफ-लैला और तोता-मैना के किस्सों से होते हुए मुझे अरेबियन नाइट्स, ईसप की कहानियों, पंचतंत्र और जातक कथाओं के साथ-साथ सिंदबाद जहाजी और बहादुर बलराज के साथ अपनी वीरता का परिचय देते हुए सारे समंदरों और पहाड़ों को लांघ कर किसी गुफा में आराम फरमाते सटीक जवाब को ढूंढ कर लाना ही होगा। शायद भारत या ग्रीक कथाओं के देवी-देवता अपनी चमत्कारी मुद्राओं के साथ मेरी मदद को बैकुंठ से नीचे उतर ही आएं। मैं कोलंबस की तरह फेंटा कस कर तैयार हूं। जहाजियों, रसद और अन्य जरूरी सामानों के साथ मेरे हाथ में यात्रा का अनुमानित रूट-मैप है और हौसलों में 'इंडिया' को खोज निकालने का दमकता विश्वास। भीषण समुद्र से क्या डरना ! वह तो अपने अकेलेपन को तोड़ने के लिए रचा गया खोखला शोर है, या उग्र लहरों के हाथ भेजा गया निमंत्रण-पत्र। फिर मेरी स्मृतियों में एक बच्चे के साथ समुद्र की रौरव लहरों और खौफनाक शार्क मछलियों से दो-दो हाथ कर सकुशल तट पर लौटता बूढ़ा मछेरा भी तो है। मैं दूने वेग से अपने विश्वास को दोहराने लगी हूं कि जब तक प्राणों में हौसला है, और हौसले में लकदक आत्मविश्वास - असंभव कुछ भी नहीं।

अरे ! मैं चिहुंक उठती हूं। जवाब तो यहीं मौजूद है, मेरे आसपास ! टप से टपके 'गर्म' जामुन की तरह नहीं, किसी तिलिस्म की ओर खुलती सीढ़ियों की तरह ! नीम अंधेरे में सोई इन गुप्त सीढ़ियों पर मुझे एक-एक कर पैर जमाते हुए नीचे तक उतरना होगा। पहली ही सीढ़ी पर जवाब की एक कड़ी मिलती है - कौतूहल ! 'न जाने नक्षत्रों में कौन, निमंत्रण देता मुझको मौन' - कोई मेरे कान में फुसफुसा गया है, और दिग्-दिगंत तक फैली उत्सुकता के घटाटोप में घिर कर मैं विस्मय करती रह जाती हूं कि क्या मैं जर्मन

पुराकथा के बांसुरीवादक की धुन पर सुध-बुध खोकर चूहे की तरह नाचती-कूदती चलती इतनी अदना शख्सियत हूं कि मेरे इंसानी वजूद को कुचल कर कोई भी उस पर सवारी गांठ ले? नहीं, कौतूहल कहानी का प्रस्थान बिंदु है, आत्मघाती डुबकी नहीं कि सांस पर काबू खोकर लौटने की दिशा, गति और ऊर्जा ही नष्ट कर दे। मैं नहीं जानती, कहानी पढ़ना कब मेरे लिए कौतूहल में पगा मनोरंजक कार्य न रह कर जीवन से जूझने की चुनौती बन जाता है और मैं 'स्वयं एक सुरक्षित दूरी के साथ निष्क्रियता के तमाम तामझाम के बीच कोलंबस या राजा भगीरथ को अपने-अपने प्रयाणों में लिप्त नहीं देखती रहती; स्वयं कोलंबस और भगीरथ बन कर उनकी अनिश्चितताओं और दुश्चिंताओं को, संघर्ष के रोमांच और सफलता के उछाह को जीने लगती हूं। यही वह स्थल है जहां मैं पाठक-रचयिता और आलोचक तीनों भूमिकाओं को एक साथ जीकर कहानी भी बन जाती हूं और कहानी के समानांतर अपने चारों ओर वेग से बहते जीवन को सर्जक-आलोचक की नई नजर से देखने भी लगती हूं।

तिलिस्मी लोक की यात्रा से लौट कर अपने अनुभव दर्ज कराने के लिए शायद अब तक कोई नहीं आया है। आता तो जरूर बताता कि बस, तिलिस्मी लोक का द्वार ही तिलिस्मी है, भ्रम और प्रवंचनाओं से रचा हुआ। उसे खोल कर खौलती सीढ़ी पर पैर रखने का हौसला आ जाए तो वह खुद ब खुद अपने भीतर पसरे अकूत ऐश्वर्य को दिखाने के लिए मतवाला हुआ जाता है। ठीक मुक्तिबोध की कहानी 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' की तरह। मेरे साथ भी तो यही किया उसने। हथेली में बीज-वाक्य ही धर दिया कि मेरे तईं वही कहानी श्रेष्ठ है जो मेरे भीतर तीन अलग-अलग स्तरों पर जीते पाठक-आलोचक-रचयिता को एक साथ गूंध कर मुझे कहानी की एक स्वत: संपूर्ण इकाई भी बना दती है, और साथ ही उस कहानी के समानांतर धड़कते जीवन की पुनर्पड़ताल की संवेदना भी देती है।

सैलानीपन पाठक की अनिवार्य शर्त है और अच्छी कहानी उसके इसी गुण की सवारी गांठते हुए उसे भीतर-बाहर की अजनबी दुनिया की सैर को लिए चलती है। पल की एक नोक में ही बहुआयामी सृष्टि के इतने रहस्य छिपे हैं कि बहुविज्ञ पाठक भी उन्हें नहीं जान पाता। तिस पर दृष्टि और कोण बदलते ही एक ही स्थिति में छिपी अनेक संभावनाओं के उत्खनन की संभाव्यता! अच्छी कहानी पाठक को 'अस्सी दिन में दुनिया की सैर' कराके पुन: अपने कुंएं में मेंढक की तरह टर्राने की नित्यक्रमिकता में विघटित नहीं होने देती, बल्कि सैर को पाठक के बौद्धिक-मानसिक अहसास का बिंदु बना कर वहीं से उसे विचार की आगामी यात्रा पर अकेले चल निकलने की अकुलाहट देती है। वह भावनाओं को उद्बुद्ध नहीं करती, संचरित भावनाओं को ऊर्ध्व दिशा देकर भला-बुरा तय करने की कसौटियों को निर्मित करने का विवेक देती है। कहानी यथार्थ का उत्खनन मात्र नहीं, यथार्थ का उत्खनन करने की प्रक्रिया में यथार्थ के साथ अपने संबंध को पहचानने की दृष्टि अन्वेषित-परिमार्जित करती चलती है। इसलिए मेरे तईं लेखक की भूमिका कमंद सरीखी है, या एक मंजे हुए मांझी जैसी जो पाठक को किसी वीराने टापू पर ले तो आए, लेकिन फिर उसकी उंगली छोड़ कर उसे उस अनजान प्रदेश के चप्पे-चप्पे को एक्स्प्लोर करने और उसके साथ एक रागात्मक संबंध विकसित करने की संवेदना पैदा करे। यह रागात्मकता द्वेष के विपरीतार्थक शब्द की गुण-महिमा के साथ जुड़ कर नहीं आती, स्थितियों के नि:संग विवेकपूर्ण मूल्यांकन के रूप में उभरनी चाहिए। जाहिर है बाह्य स्थितियों का आकलन तब तक संभव नहीं जब तक मन के आईने में अपने ही विवेक की सूरत का रेशा-रेशा उधेड़ कर जांच-पड़ताल न कर ली जाए। एक छोटा सा वाक्य ही तो कहती है 'आकाशदीप' कहानी की चंपा बुद्धगुप्त से कि ''मैं तुम्हें घृणा करती हूं, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूं। अंधेर है जलदस्यु! तुम्हें प्यार करती हूं।'' क्या यह एक वाक्य सिर्फ एक स्त्री के द्वंद्व की नाटकीय अभिव्यक्ति का अभियोजन भर है? यह पंक्ति स्वीकारोक्ति इसलिए बन पाई कि पांच बरस से प्रेम और घृणा की लहरों पर सवार ऊहापोह के एक-एक रग-रेशे को अपनी-अपनी ताकत और दुर्बलता के साथ चंपा साफ-साफ देख सकी है। इस स्पष्ट दृष्टि में भूत की छाया से आविष्ट वर्तमान का सच तो है ही, उससे कहीं ज्यादा सघन और स्पष्ट है भविष्य में बुने जाने वाले संबंधों का स्वरूप, और दो संयुक्त जिंदगियों के कारण वजूद में आने वाली जाने कितनी और जिंदगियों के सवाल। निर्णय पर पहुंचना क्षण या स्थितियों के तात्कालिक दबाव का स्फोट नहीं होता; चिंतन-मनन की सुदीर्घ परंपरा का परिणाम होता है जिसकी अनुगूंज जिंदगी से लेकर समय तक दूर तक सुनी जा सकती है। अच्छी कहानी में सैलानी की लुभावनी अदाओं से कहीं आगे जाकर वक्त को आप्लावित कर देने की ताकत छिपी होती है।

कहानी अपने से आंख मिलाने की ईमानदार कोशिश है – लेखन के स्तर पर भी, और आलोचना के स्तर पर भी। अपनी हर छलांग में यह मुक्ति की महागाथा रचती है। मुक्ति अपनी वैचारिक जड़ताओं से भी, और अमूर्त मनोग्रंथियों से भी; मुक्ति समय से भी और भौतिक लिप्साओं से भी। स्व की संकुचित कंदराओं से मुक्त कर अच्छी कहानी पाठक को अपने 'मैं' का विलोपीकरण करने का हुनर भी देती है और अपने 'मैं' में समूचे चर-अचर जगत के 'मैं' को सुनने की सूक्ष्म संवेदना भी। यही वह बिंदु है जहां मुक्ति में उपभोग की आत्मकेद्रिंत रतिग्रस्तता नहीं, सृजन का उल्लास आ जुड़ता है। कहानी बेशक यथार्थ जगत के बरक्स रचा गया एक समानांतर यथार्थ लोक है, लेकिन इसकी गति और दिशा यथार्थ जगत से उलटी है। भौतिक जगत मनुष्य के 'मैं' का प्रसार करते हुए उसके समूचे वजूद को अहं के एक छोटे से बिंदु में कैद कर देता है, लेकिन कहानी का समानांतर यथार्थ लोक उसे 'मैं' की जानलेवा ग्रंथियों, कुंठाओं, नकारात्मकताओं और खोखली टकराहटों से मुक्त कर अन्य जगत की हलचलों, आर्त्तनादों, संकटों और चुनौतियों को सुनने का धीरज, संयम, अवकाश और संवेदना देता है। यह निरे सैलानीपन का पुरस्कार नहीं, ऑब्जर्वेशन को संवाद तक ले आने की अकुलाहट का परिणाम है।

कहानी की सार्थकता संवाद का मजबूत पुल बनाने में है। कई बार इस पुल से गुजर कर यथार्थ जगत की यथार्थ ठोस वास्तविकताएं या संवेगों से रची गईं अमूर्त संकल्पनाएं कहानी के समानांतर यथार्थ जगत में प्रविष्ट होते ही रंग और चोला बदल लेती हैं। लगता है, व्यवस्था को तार-तार कर वे ऊलजलूल अस्तव्यस्तताओं में विघटित हो गई हैं। घड़ी की सुइयां घड़ी की कैद से निकल कर मनमाने ढंग से दसों दिशाओं और सातों लोकों में चलने लगी हैं। सूर्य जैसा स्थावर ऊर्जा-स्रोत सदियों से आसमान में टंगे-टंगे इतना थक गया है कि चांदनी से नहाई चांद की शीतल गोद में झपकी लेने को दुबक गया है। शैतान मछलियां तालाब से निकल कर रेत के ढूहों में ऊँटों के खुरों के निशान ढूंढने दौड़ पड़ी हैं। हजारों सालों से लेप और पट्टियों के बीच पिरामिडों में सोये फरोह (मिस्र के राजा) अपनी सेना का नेतृत्व करते हुए बाजार नामक अमूर्त शत्रु की धरपकड़ में कैरेबियन देशों की ओर निकल पड़े हैं। कहानी मरीचिकाओं की सृष्टि नहीं करती, मरीचिका बन कर विवेक को नियंत्रित करती मानवीय दुर्बलताओं को पहचानने की दृष्टि देती है। वह एलिस की तरह पाठक को फैंटेसी के वंडरलैंड में ले तो जाती है, लेकिन निरा दर्शक बना कर मिट्टी के निस्पंद लोंदे में विघटित होने के लिए नहीं छोड़ती। जो कहानी पाठक के भीतर किसी वैचारिक-भावनात्मक झंझावात की सृष्टि किए बिना मनोहारी आत्ममुग्धता का प्रसार करे, वह उपभोग की क्षणजीवी वस्तु हो सकती है, काल को जय करके अपनी अस्मिता को निरंतर बनाए रखने वाली कोई साहित्यिक कृति नहीं। दरअसल यथार्थ जगत के गुरुत्वाकर्षण को तोड़ कर पागलपन, चमत्कार या असंभाव्यता को मूल्य बना कर रची जाने वाली कहानियों में अपने समय की विभीषिकाओं को अधिक सघनता से उजागर करने की क्षमता होती है, लेकिन तभी जब लेखक सृजन को अपना पैरामीटर बनाए, अभिव्यक्ति को नहीं।

बात दूर की कौड़ी लग सकती है, क्योंकि एक मोटा प्रतिवाद तो यहीं मौजूद है कि साहित्य सृजनात्मक अभिव्यक्ति का दूसरा नाम ही तो है। लेकिन मेरी मान्यता है कि युगीन सत्य की अभिव्यक्ति करने के प्रयास में बहुधा लेखक उसकी भावनात्मक पुनर्प्रस्तुति भर करता है, यथार्थ को बिडंबना और विभीषिका बनाने वाले घटकों की शिनाख्त करके उनके प्रति एक स्पष्ट खदबदाता आक्रोश पाठक के भीतर नहीं भर पाता, जैसे मुक्तिबोध 'क्लॉड ईथरली' कहानी में और मंटो 'टोबा टेकसिंह' कहानी में कर पाए हैं। या फिर 'नदी के तहखाने में' कहानी में भालचंद्र जोशी। विकास चौड़ी चमकती सड़कों, फ्लाईओवरों, मॉल-मल्टीप्लैक्सों, बांधों-गगनचुंबी इमारतों, स्मार्ट सिटी या बुलेट ट्रेन को दौड़ा देने की इन्फ्रास्ट्रकचरल जुगत नहीं है, जहां पत्थर-सीमेंट-लोहा ही साधन और साध्य बन जाता है। विकास मनुष्य और समय के भीतर और बाहर के सामंजस्यपूर्ण और पारस्परिक चतुर्दिक उन्नयन का नाम है जो हाशिए के आखिरी छोर पर जीते मनुष्य की चिंताओं और सपनों को केंद्र में लाए बिना संभव नहीं। वह विकास जो मनुष्यहंता बन कर विध्वंस को ही ध्येय बना दे, किस सृजन की ओर इंगित कर सकता है? नदी के तहखाने में जाकर अपनी कुछ बरस पुरानी स्मृतियों के अवशेषों को ढूंढना विकास और गौरव की बात नहीं, क्योंकि वर्तमान का पुरातात्विक अन्वेषण 'वर्तमान' नहीं करता, भविष्य के गर्भ में पलती अगली कई सदियां करती हैं, ठीक वैसे ही जैसे आज हम हजारों वर्ष पीछे की यात्रा कर मुअनजोदड़ो सभ्यता के अनुसंधान के बहाने अपनी 'उर्वर' संस्कृति के सबूत जुटाने की कोशिश करते हैं। अच्छी कहानी लोभ और लिप्साओं के पागलखाने में कैद 'आत्मबोध' को मुक्त कराने

की जद्दोजहद है। बेशक कहानीकार से दार्शनिक होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती, लेकिन संवेदनपरक चिंतन जब मनुष्य की मनोभूमि में उतर कर इहलोक के भौतिक अस्तित्व और पारलौकिक जगत के सत्य के साथ समन्वय बैठाने, और एक-दूसरे के संदर्भ में मनुष्य की महत्ता को परिभाषित करने की कोशिश करता है, तब उसकी दृष्टि में दार्शनिक चिंतन की गहराइयां और ऊँचाइयां आप ही आप उपस्थित होकर भौतिकताओं और तात्कालिकताओं का कुहासा छांटने लगती हैं। दार्शनिक चिंतन जीवन के गूढ़ जटिल रहस्यों को सुलझाने का उपक्रम है जिसके बिना ग्लैमरस उपलब्धियों से दमकते युग में वस्तु, उत्पाद और पशु तो बना जा सकता है, मुकम्मल इंसान नहीं।

जाहिर है दार्शनिक निष्पत्तियों से गुंथी कहानी सरल तो होगी नहीं। दरअसल कहानी को लेकर सरल या 'जटिल' सरीखे विशेषणों का प्रयोग मुझे बेमानी लगता है। कहानी संश्लिष्ट होगी, या सतही। वह जीवन का अक्स होगी या फिर जीवन की उलझी गड्डमड्ड डोरों को गहराइयों में जाकर सुलझाने की एक कोशिश; वह शोध/ऑब्जर्वेशन पर आधारित रिपोर्ताज होगी या दशरथ मांझी की तरह पहाड़ को काट देने का सिरफिरा जुनून। सतही कहानी वक्त के खाली-बोझिल लम्हों को भर कर दिमाग को सुलाने का काम बखूबी करती है, जैसे भोजन भूख से बिलबिलाते पेट को भरने के उपरांत नींद का आह्वान करने लगता है। सृजन की दुर्निवार आकांक्षाओं से बुनी संश्लिष्ट कहानी कथागत पात्रों को पहले चरित्र रूप में बुनती है, फिर चरित्र को मनोवृत्ति का रूप देकर उसे अशरीरी भी करती है और एक ठोस देश-काल में प्रतिष्ठित भी। जैसे जयशंकर प्रसाद की कहानियां 'गुंडा', 'मधुआ' और 'छोटा जादूगर' और रेणु की कहानियों 'तीसरी कसम' और 'ठेस' के हिरामन और सिरचन। कई बार स्थिति ही पूरा का पूरा युग-चरित्र बन जाती है और गुमनाम चेहराविहीन मामूली से पात्र के जरिए वर्चस्ववादी ताकतों की अमानुषिकता का विखंडन करने लगती है, जैसे मंटो की कहानी 'खोल दो'। किरण सिंह की कहानी 'द्रौपदी पीक' एक स्मरणीय संश्लिष्ट कहानी का उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में मेरे जेहन में बार-बार उभर रही है। यह कहानी भीतर सोई तमाम निष्क्रियता को झाड़-पोंछ कर मुझे पाठक से दर्शक में तब्दील कर रही है। मैं साक्षी भाव से वेश्यापुत्री घुंघरु और नागा बाबा पुरुषोत्तम की आत्मदमनकारी पीड़ा से बाहर झांक-झांक पड़ते उनके जीवन के छोटे-छोटे रहस्यों को एक लड़ी में पिरोने लगती हूं कि मेरे भीतर का आलोचक द्रष्टा बन कर स्त्रियों और उनकी अवैध संतानों (?) की बलि लेकर अपने स्वार्थों की पूर्ति करते धर्म-तंत्र और समाज व्यवस्था की साजिशों की पड़ताल करने लगता है। मैं देखती हूं, घुंघरु (और पुरुषोत्तम) की तरह आत्मपीड़न और आत्मघृणा को अपना मूल्य बना कर जीती शख्सियतें जैनेंद्रकुमार के ज़माने से चली आ रही हैं और पाठक से सहानुभूति (जो निष्क्रियता की प्राथमिक अवस्था है जहां बराबरी के धरातल पर संवाद नहीं, श्रेष्ठ-हीन होने की स्थितियों से उपजा दंभ-दया होते हैं) लेकर कहीं बिला भी जाती हैं। जैनेंद्रकुमार 'जाह्नवी' कहानी में जाह्नवी की विडंबनाओं को ताजा कर मुझे आंदोलित करने की चेष्टा करते हैं, लेकिन उदासीन भाव से न्यूनतम सहानुभूति उनकी झोली में डाल कर मैं कहानी को भुला देती हूं। जाह्नवी की अकर्मण्यता के ठीक विपरीत है पलायन की कोशिश में छुपी घुंघरु और पुरुषोत्तम की कर्मठता। यह कर्मठता जैसे ही मेरे उत्साह को संघर्ष की ऊर्जा से स्पंदित करने लगती है, मैं अपना कम्फर्ट ज़ोन छोड़ खुशी-खुशी उनके साथ एवरेस्ट पर चढ़ना स्वीकार कर लेती हूं। आरोहण के दौरान दोनों चरित्रों के संग बतियाते हुए पाती हूं कि कहानी पर्वतारोहण के रोमांच या एवरेस्ट विजय की उल्लास-गाथा नहीं, अपनी-अपनी ग्रंथियों और जटिल जीवन-परिस्थितियों से जूझते हुए सामाजिक प्रतिष्ठा और आत्मसम्मान को अपने बूते पाने की दुर्दम्य साध है। विराट को एकस्प्लोर करने के उपक्रम में कहानी व्यस्वस्था के बौनेपन और टुच्चेपन को उधेड़ती चलती है जो धर्म और सत्ता -व्यवस्था का गठबंधन कर हाशिए पर पड़ी अस्मिताओं - स्त्रियों, वेश्याओं, अवैध संतानों- का उत्पीड़न कर उन्हें समर्थ वर्ग के उपयोग और उपभोग में आने वाली वस्तु बना देती है। घृणा उनका स्थायी भाव है- उपयोग करते समय भी, और उपयोग के बाद घूरे पर फेंकते समय भी। ताज्जुब यह कि घृणा और अवमानना को अपना दाय मान कर अपने वजूद के प्रति घृणा और आत्मदया से भर उठी हाशिए की ये अस्मिताएं स्वयं नहीं जानतीं कि वे अनायास धर्म और सत्ता के उत्पीड़नकारी स्वरूप को ही मजबूत कर रही हैं। पृथ्वी की तंगदिल भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण कर विराट के सान्निध्य में अपने को खोजना दरअसल चीजों और अवधारणाओं को तमाम पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर उनके नैसर्गिक रूप में देखना है जहां उसी का प्रतिपक्ष मुखर होकर स्थिति का संपूर्ण भाष्य बन जाता है। घुंघरू और पुरुषोत्तम सभ्य समाज के लिए घृणा के पात्र हो सकते हैं, लेकिन

अपने भीतर दमन का अनंत इतिहास छुपाए ये अपने लिए न्याय मांगते हैं। कहानी की ताकत जितनी प्रखरता से व्यवस्था के चेहरे को बेनकाब करना है, उतनी ही हार्दिकता के साथ क्षत-विक्षत खंडित अस्मिताओं के भीतर के मानवीय ऐश्वर्य और सौन्दर्य को सर्जित करना भी है।

कहानी शब्दों का खोखला शोर भर नहीं है, न ही लेखक के नेतृत्व में की जाने वाली फौजी ड्रिल जो पाठक को भी अनुशासित फौजी बना कर मनवांछित प्रतिक्रियाएं पाने का आयोजन रचे। कहानी की आंतरिक संघटना के रूप में शिल्प पर काफी बात की जाती है, लेकिन शिल्प पक्ष की सुघड़ता के कारण मुझे कभी कोई कहानी आकृष्ट नहीं करती। बल्कि ऐसा कोई सम्मोहन कभी हुआ भी है तो इस तथ्य की याद दिलाने के लिए कि कंटेंट के स्तर पर कहानी में एक बड़ी चूक कहीं घटित हो रही है। शिल्प कहानी की आंतरिक लय है जो कंटेंट और चरित्र के पैरों चल कर आता है, और अंगद की तरह अपना पैर जमा कर आत्मविस्मृत सा स्वयं कहानी में डूबता-उतराता चलता है। इसलिए अपने विविध घटकों के साथ एक ही लय में एकाकार वही कहानी मुझे बांधती है जो हर एक नए उद्‌घाटन के साथ मेरे भीतर बेचैनी पैदा करे, संशयों को गहराए, मर्मांतक आघात दे, या रुक कर पीप-मवाद-लहू से सने जख्मों पर मरहम लगाए और मनुष्य की बुनियादी अच्छाई के प्रति मेरे नष्ट होते विश्वास को फिर से सींच दे; लेकिन इस सारी प्रक्रिया में मुझे न डिक्टेट करे, न मंत्रमुग्ध। वह मेरे भीतर पाठक की शक्ल में बैठे सर्जक को जगाए, उत्साह और संघर्ष की आंच से दीप्त कर उसे कर्मठ बनाए, और नया पाठ सृजित करने के लिए सृजन की अनंत यात्रा पर ले जाए। इसलिए कहानी मेरे लिए रोटी की तरह एक बार खा (पढ़) कर समाप्त हो जाने वाली भोज्य-सामग्री नहीं है। अच्छी कहानी में अखंड समय की निधियां और स्मृतियां आबद्‌ध रहती हैं। कहानी परंपरागत रूढ़ियों के साथ अपने को प्रकट भी करती है और उनका प्रतिरोध रचते हुए नए क्षितिजों का संधान भी करती है। लेखक द्वारा सीमाबद्‌धता का अतिक्रमण कर छुपी हुई संभावनाओं का उत्खनन दरअसल कहानी की उर्वर जमीन में व्यंजनाओं के बीज बिखेर देना है जिन्हें पाठ के दौरान पाठक/आलोचक को न केवल पकड़ना है, बल्कि रच कर दो भिन्न कालखंडों में बंटे समय पर संवेदना और पहुंच का सेतु भी बना देना है। विधा के तौर पर आलोचना कहानी से भिन्न है, किंतु प्रकृतिगत स्तर पर अभिन्न। दोनों ही अपनी मूलभूत प्रकृति में जीवन का आलोचनात्मक सृजन हैं। दोनों की रचना-प्रक्रिया भी एक सी! वही, जीवन का अध्ययन, विश्लेषण और फिर अपने समूचे व्यक्तित्व को अंतर्दृष्टि में घुला-मिला कर विश्लेषणगत निष्कर्षों और वैयक्तिक प्राथतिकताओं के अनुरूप जीवन का एक नया परिवर्द्धित संस्करण रच देने की व्यग्रता। इसलिए अच्छी कहानी या अच्छी आलोचना अपने रचयिता के व्यक्तित्व से अछूती नहीं रह सकती। मैं मानती हूं कि कहानी में रचनाकार के सृजन की इंटेंसिटी जितनी अधिक होगी, पाठक के भीतर अपनी जड़ताओं और सीमाओं का अतिक्रमण करने की बेताबी उतनी ही तीव्रतर होगी। कहानी, सृजन-प्रक्रिया के प्रथम चरण से लेकर लिखे जाने तक कुम्हार के चाक की तरह लगातार रचनाकार के मानस में तनाव की सृष्टि करते हुए चक्कर काटती रहती है। लिखे जाने के बाद रचनाकार भले ही तनावमुक्त होकर श्रम-शिथिल अवस्था में सुस्ता ले, कहानी भारतीय लोककथा के उस अभिशप्त नायक की तरह है जो अपने सिर पर घूमते चक्र को स्वयं ढोते रहने को नियतिबद्‌ध है। इसलिए कहानी रची जाकर भी समाप्त नहीं होती, समय और परिस्थितियों की संकुल लहरियों को लांघ कर हर दौर में अपने मूल्य, प्रभाव और प्रासंगिकता की जांच में लगी रहती है। बार-बार रचे जाने की उत्कंठा में कहानी न केवल अपने अर्थ का विस्तार करती है, बल्कि दो युगों को जोड़ने वाले समय की पीठ पर सवार होकर वह हर देश-काल में जी रहे मनुष्य की एक-सी प्रकृति और एक-सी आकांक्षाओं के सनातन सत्य को भी उभारने लगती है।

यहां आकर मेरी स्मृति में कितनी ही कहानियां बेचैनी से बाहर आने को उछलकूद मचाने लगी हैं। जयशंकर प्रसाद की 'पुरस्कार' कहानी की मधूलिका अपने बंदी प्रेमी अरुण की बगल में आ खड़ी हुई है। आंखों में गर्व का भाव है कि राजा को यथासमय देशद्रोही अरुण के विद्रोह की सूचना देकर उसने अपना नागरिक कर्त्तव्य निभाया है, लेकिन प्रेम की टीस अपनी जगह है। इसलिए अपनी देशभक्ति का पुरस्कार मांग रही है - "... तो मुझे भी प्राणदंड मिले।" मैं चाह कर भी कहानी को कक्षा में पढ़ाए जाने वाले इस अर्थ में ग्रहण नहीं कर पा रही हूं। कहानी पढ़ते-पढ़ते बराबर देख रही हूं प्रसाद के परिवेश और सृजन-प्रक्रिया के समानांतर अपना परिवेश और सृजन-प्रक्रिया। इतिहास के किसी कल्पित कालखंड में जाकर प्रसाद इंसान की बुनियादी जरूरतों और आत्मसम्मान को छीन कर राज्यानुकंपा का मोहताज बना

देने वाले राज्य-दर्प को देख रहे हैं, और गुलाम देश के नागरिक के रूप में छल-बल, राज-दंड से वंचित कर दिए गए अपने युग की असहायता को उसमें पिरो रहे हैं। मधूलिका प्रेयसी नहीं, कृषक-कन्या के रूप में मेरे सामने आ खड़ी हुई है जो बरस दर बरस खेत में सोने की लहलहाती फसल देख भीतर तक संतोष और आह्लाद से भीग जाती है। मधूलिका को धकिया कर मीडिया और समाज से अदृश्य कर दिया गया मेरे अपने समय का अदना सा किसान मेरे सामने आ खड़ा होता है, मानो कह रहा हो, विकास का ढिंढोरा पीट कर किसी की जमीन का अधिग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि जमीन महज धरती का टुकड़ा नहीं, कई-कई पीढ़ियों का पेट, हाथ की लकीर और माथे का मान भी है। तब इस कहानी के साथ माधवराव सप्रे की कहानी 'टोकरी भर मिट्टी' और कोई सौ बरस बाद रची गई सत्यनारायण पटेल की कहानी 'लाल छींट वाली लूगड़ी का सपना' को जोड़ कर मैं अपने वक्त की कृषि-समस्याओं को समझने लगती हूं। अच्छी कहानी आलोचना के एक पाठ द्वारा सुनिश्चित कर दिए गए रूप के साथ कभी स्थिर नहीं रहती। उसकी सार्थकता अपने को सफलतापूर्वक पढ़वा ले जाने में नहीं, पाठक के भीतर रचनाकार की ताब भर कर जीवन की शिनाख्त और सृजन करने की प्रेरणा बनने में है।

अजीब अंतर्विरोध है कि कहानी में तनाव का घनीभूत क्षण ही मुक्ति की संभावनाओं को रचता है, और जिस स्थल पर पाठक को मुक्त करता है, वहीं उसके आक्रोश को तीव्रतर कर उसे मनुष्य-बोध और नागरिक बोध से संपन्न भी करता है। जैसे परिवार में अवांछित हो जाने की प्रतीति 'वापसी' (उषा प्रियंवदा) कहानी के गजाधर बाबू के भीतर मोहभंग और अजनबियत की पीड़ा देकर आत्मसार्थकता की अन्य दिशाओं के संधान की बृहद् प्रेरणा देती है, लेकिन रिटायरमेंट के बाद पुन: चीनी मिल में नौकरी के लिए जाते गजाधर बाबू को देख पाठक ठगा सा महसूस करता है। क्या यह स्वयं उसकी अपनी नियति है? संस्कृति के तमाम आवरणों के बावजूद क्या मनुष्य अभी भी आदिम है, भूख और स्वार्थ से लिपटा? युगीन दबाव सतह पर दीखती विकृतियों को बनाते हैं या मनुष्य की बनैली वृत्तियां ही संगठित होकर विकृतियों को मूल्य का दर्जा देने लगती हैं? कहानी का लक्ष्य चैन और सुकून देकर पाठक को सुलाना नहीं, जगाना है। यह जगाना उसके स्नायु तंत्र को उत्तेजित करना नहीं है, बल्कि भावनाओं का परिष्कार करके उदात्तीकरण की उस अवस्था को ले जाना है जहां वर्ग, वर्ण, धर्म, लिंग, जाति, भाषा आदि सब भेद तिरोहित हो जाते हैं। परिष्कार की इस प्रक्रिया में भावनाएं अपना अनगढ़ स्थूल सतही रूप छोड़ पहले संवेदना की परिपक्वता में ढलती हैं, फिर विवेक से अनुशासित हो स्थितियों पर नि:संग चिंतन-मनन का अवकाश पाती हैं। कहानी बेशक एक आत्मपरक जगत की सृष्टि करके पाठक के निजी संवेगों के सहारे उसके भीतर उतरती है, लेकिन अर्थ-ग्रहण और अर्थ-विश्लेषण की प्रक्रिया में वह निर्वैयक्तिक हो जाने का संस्कार देती है। ठीक वही निर्वैयक्तिकता जो रचते हुए रचनाकार के निजत्व और ममत्व का क्षय कर उसे सृष्टि के साथ जुड़ने की संवेदना देती है। यह तय है कि सृजन के दौरान जब-जब रचनाकार निर्वैयक्तिकता को साधने में असमर्थ रहता है, तब-तब पाठक के भीतर वस्तुपरक तटस्थ विश्लेषण का बोध पैदा नहीं हो पाता। कहानी का प्रभाव दरअसल और कुछ नहीं, लेखक की अपनी अंतर्दृष्टि है जो पाठक की संवेदना के साथ संवाद कर दोनों के बीच संबंध के तंतु निर्मित करती है। इसलिए कहानी के लिए समाज का दर्पण होना जरूरी नहीं, रचयिता की मानस-पुत्री होना जरूरी है। स्त्री विमर्श के सरोकारों का देह विमर्श की स्थूलता में और दलित विमर्श की मानवीय पुकार का प्रतिशोध की टंकार में रिड्यूस हो जाना कहीं न कहीं लेखन के दौरान लेखक का वर्ग/वर्ण/धर्म/लिंग बने रहना है।

हिंदी विभाग,
महर्षि दयानंद विश्व विद्यालय,
रोहतक, हरियाणा
मो. 9416053847

वैभव सिंह

'स्टिंग आपरेशन' का गुण भी होना चाहिए कहानियों में

कहानी पढ़ना और उसपर विचार करना जितना आसान काम है, उतना ही मुश्किल काम है कहानी के बारे में अपनी अपेक्षाएं प्रकट करना। यह वैसे ही है जैसे हम फूल की सुगंध तो ले सकते हैं पर फूल में सुगंध क्यों हो, कैसी हो, कैसी न हो आदि के बारे में कोई निबंधनुमा टिप्पणी लिखना। मेरे ख्याल से तो कहानियों का दिलचस्प होना उनका सबसे बड़ा गुण है और फिर उसके बाद विचार, यथार्थ या सामाजिक सरोकार आदि चीजें आती हैं। खुद को पढ़वा ले जाना उसकी सबसे बड़ी शक्ति हो सकती है। कई बार कुछ कहानीकार कला-चेतना को ही कथा के लिए सबसे जरूरी मानते हैं। वे अपनी कहानी को चित्रकला, मूर्तिकला या संगीत बनने का लोभ पाल लेते हैं और कहानी जैसी विधा की बुनियादी बनावट से दूर जाने लगते हैं। कहानी को संगीत-चित्रकला का दयनीय डुप्लीकेट बनने के स्थान पर ठेठ तरीके से कहानी होना चाहिए, भले ही कुछ अन्य कलाओं के लक्षणों का वह अपनी शर्तों पर उपयोग कर ले जाए। उनमें समाज के साथ सच्ची सहानुभूति मौजूद रहनी चाहिए। हमारे दिलों में सो रही मोहब्बत, प्यार, त्याग और समझदारी की भावनाओं को जगाने की शक्ति होनी चाहिए। कहानियों में मनुष्य के उल्लास, रुदन और संकट व्यक्त होते हैं जो वास्तव में इंसान की धूसर-पीली ज़िंदगी को सहने लायक बना देते हैं। इंसान की ज़िंदगी में न जाने कितनी पराजय और संघर्ष हैं, जिन्हें व्यक्त करने के लिए कहानी से अच्छी विधा कोई नहीं हो सकती। पर यह सब करते हुए वे किसी नीरस उपदेश में नहीं घटित होनी चाहिए। कारण यह कि चारों ओर सिद्धांतकार, सत्य का उपदेश देने वाले महात्मा और चिंतक व ज्ञानीजन काफी बड़ी मात्रा में रहते हैं जो हमेशा इंसान को सही मार्ग पर लाने का दावा करते रहते हैं। पता नहीं क्यों सभी ज्ञानीजनों को लगता है कि इंसान में बड़ी ख़राबियां हैं और उन्हें नहीं ठीक किया गया तो दुनिया चलेगी नहीं। इसलिए वे दिन-रात मनुष्य को सुधारने के लिए बेचैन रहते हैं। वे खुद को 'सामाजिक नियंत्रण' की किसी एजेंसी में बदले बिना जीवन को व्यर्थ मानते हैं।

यानी, दुनिया की आधी मुसीबतों की जड़ तो यह विश्वास है कि हमारा काम दूसरों को सही रास्ते पर लाना है। कोई किसी के इश्क में पड़ जाए तो लोग बताने आते हैं कि इश्क कितनी बुरी चीज है और इससे कैसे बचें। कोई किसी की मदद करे तो भी बताने वाले आकर बताने लगते हैं कि किसी की मदद करने का ज़माना नहीं रहा अब। कोई लगातार अपठनीय होते अख़बारों की जगह कविता-कहानी पढ़ने लगे तो उसमें भी बुराई के लक्षण ढूंढ लिए जाते हैं। यानी, हर तरफ स्वनामधन्य उद्धारकर्ताओं की फौज घूम रही है। दुनिया को जरूरत से ज्यादा उद्धारक मिल चुके हैं जो दुनिया के लिए नई तरह की परेशानी है। लेकिन कहानीकार का काम इन सभी से जुदा है। वह इंसान को सही मार्ग पर लाने का दावा नहीं करता बल्कि वह इंसान को तसल्ली, आराम और सहजता के साथ जीवन जीना भी सिखाता है जो बड़ी मुश्किल से अब नसीब होते हैं। इस सभ्यता ने इंसान के आराम को सबसे ज्यादा नुकसान पहुंचाया है और आगे भी नुकसान पहुंचाने के लिए तैयार बैठी है। लोग गधे का सबसे ज्यादा मजाक उड़ाते थे पर शायद उस गधे की आह लगी कि अब अधिकांश लोग गधे की तरह खटने के लिए मजबूर हो गए हैं। पुराने धर्माचार्यों व पंडितों ने भी इंसान के आराम में खलल डाला है जो लगातार यही प्रवचन देते थे कि ईश्वर या गॉड को प्राप्त किए बगैर मिलने वाला सुख-चैन किसी काम का नहीं है। इस तरह सुखी लोगों के घर में धर्म ने भी काफी आग लगाई है। ज्यादातर पुराने किस्से मनुष्य के आराम व फुर्सत के पलों से जुड़े हैं। मुल्ला नसीरुद्दीन के किस्से काफी मशहूर हैं। उन्हीं में से एक किस्सा है कि एक दरवेश एक सूनी जगह पर ध्यान लगाए बैठा था। अचानक उसे लगा कि कोई और भी आसपास मौजूद है। उसके पास दिव्य दृष्टि थी। उसने उसी दृष्टि के सहारे देखा कि एक शैतान पास ही में एक पेड़ के नीचे आराम से लेटा है। दरवेश को आश्चर्य हुआ। उसने शैतान से पूछा- 'दुनिया में लड़ाई-झगड़े, पाप और खुराफात फैलाने के बजाय तुम यहां आराम से क्यों लेटे हो। शैतान ने ठंडी सांस भरकर कहा- इंसान तरक्की कर रहा है, नई-नई बातें सीख रहा है। सत्य की बात करने वाले चिंतक-उपदेशक चारों ओर घूम रहे हैं। अब मुझे कुछ करने की क्या जरूरत है।' वो शैतान काफी चालाक था और उसने बगैर ज्यादा बहस किए दरवेश को इशारे में ही समझा दिया कि इंसान जिस तरह की तरक्की और सच्चाई के लिए पागल हो रहा है, वह अपने आप शैतान के हिस्से का काम कर देगी। इसलिए अब उसे आराम से सो जाना चाहिए। कहानियां भी उसी शैतान की तरह होती हैं जो हमें बताती हैं कि इंसान को ज्यादा झंझट, उपदेश या सचाई की खुराक की जरूरत नहीं है बल्कि फुर्सत के पलों की जरूरत है। तरक्की के ज्यादातर फार्मूले इंसान से उसके सुख को छीनने के लिए ईजाद कर दिए गए हैं।

अच्छी कहानियां आज भी वही हैं जिन्हें पढ़ना स्कूल का होमवर्क करने या जिम्मेदारी की तरह न लगे बल्कि जिनमें भरपूर किस्सागोई हो। कहानी पढ़ना स्वयं में काम न हो बल्कि हम लोग जिन ढेरों दूसरे कामों में मसरूफ रहते हैं, कहानी पढ़ने के बाद उन्हें पूरा करने में आसानी हो। उनमें गप, विट, मौजमस्ती और रूमानियत के गुण मौजूद हों। जो हमारे जीवन में बचे-खुचे आराम के पलों को भी बोझिल न बना दें। जो हमें समाज के बारे में इस मुश्किल ढंग से सचेत न करें कि हम यह मान लें कि समाज के बारे में सचेत होने की प्रक्रिया बड़ी जटिल होती है। उन्हें पढ़कर ऐसा नहीं लगना चाहिए कि हमारा समाज अबूझ पहेली है और हमारी कहानियां उसे सुलझाने के ऐतिहासिक मिशन पर निकली हैं और हमारा काम उस मिशन में योगदान देना है। एक सफल कहानी वह भी है जो हमारे भीतर चरित्र का बोध पैदा करती है। आम ज़िदंगी में हम लोगों से मिलते हैं, बात करते हैं और उनके बारे में कुछ न कुछ जान लेते हैं। पर कहानी चरित्र-बोध को इस तरह से पैदा करती है कि वह चरित्र किसी खास परिस्थिति या यथार्थ को पूरी तरह से आलोकित कर देता है। उस चरित्र के जरिए एक ही समय में लिपटे-गुथे बहुत सारे कालखंडों की झलक मिल जाती है। न वे इस दंभ से लिखी जानी चाहिए कि वे किसी सुधारवादी मिशन के माध्यम के रूप में प्रयोग की जा सकती हैं और न इस आत्मतोष के साथ कि कहानीकार के अपने अनुभव स्वयं में संपूर्ण हैं और उसे विचारधारा व विजन स्पर्श से खुद को बचाना चाहिए।

चेख़व की कहानी 'वार्ड नंबर छह' मेरी सबसे पसंदीदा कहानियों में से है। वही कहानी जिसे पढ़कर लेनिन क्रांतिकारी हो गए थे और उन्होंने कहा था कि जारशाही के अधीन पूरा रूस ही वार्ड नंबर छह में बदल गया है। यह कहानी पढ़ने के बाद किसी को भी ट्रैजडी का भरपूर अहसास हो सकता है। एक ऐसे समाज की सारी नीचताओं का अहसास हो सकता है जहां पागलों के साथ बेरहमी से पेश आया जाता है और छल-कपट में किसी सामान्य इंसान को भी पागलों के वार्ड में डालकर उससे छुटकारा पाया जा सकता है।

कहानी के नायक डाक्टर आंद्रेई येफी मिच को दवाई खिलाकर लकवाग्रस्त बना दिया जाता है और उसकी मौत हो जाती है। उसका अपाहिजपन और मौत समाज के उदात्त और ईमानदारी के प्रति आकृष्ट लोगों की समाप्ति का सूचक बन जाता है। पागलखाने और कैदखाने प्रतिभाशाली लोगों से छुटकारा पाने का सबसे आसान जरिया बन जाते हैं। रूस की हालत का बयान इन शब्दों में आता है- 'रूस में किसी तरह की दर्शन प्रणाली नहीं है, फिर भी यहां हर कोई दार्शनिकतापूर्ण बातें करता है, यहां तक कि सर्वसाधारण भी।' यानी एक बुरी तरह लुटा-पिटा, दरिद्र समाज झूठी दार्शनिकता जताकर अपनी सारी क्रूरताओं से आंख चुरा रहा है। यह कहानी इसलिए याद रह जाती है क्योंकि यह इंसानियत की कसमें खाने वाले समाज में इंसानियत की रूटीन मौतों को दर्शाती है। सारे चर्च, वैराग्य के उपदेश या धर्म-कथाएं उसकी रक्षा करने में नाकाम हो रही हैं। यह उन लोगों की मक्कारी को सामने लाती है जो प्राय: बड़े पदों पर बैठकर जिम्मेदारियां पूरी करने का ढोंग कर रहे हैं लेकिन असल में वे समाज की सबसे सुंदर चीजों को शालीन और कानूनसम्मत तरीकों से नष्ट कर रहे हैं। यहां अपराधी केवल अपराधियों के वर्ग से नहीं आते हैं बल्कि सफेदपोश लोगों के वर्ग से निकल रहे हैं। यानी, कहानी की कसौटी यह भी हो सकती है कि वह इंसान की सारी धूर्तता और नीचता को सामने ला दे। उसे पढ़कर यह लगना चाहिए कि इंसान के देवत्व के दावे कितने झूठे हैं और उसका पतन किसी 'कमजोर क्षण' का मामला नहीं बल्कि पूरी सभ्यता में निहित चक्र-कुचक्र की देन है। वे कहानियां सबसे रद्दी और बोझिल होती हैं जो इंसान की अच्छाई के बारे में हमें विश्वास दिलाती हैं। उनमें इंसान को साधु-संत बना डाला जाता है और वह साधु-संत से ज्यादा निरीह इंसान प्रतीत होने लगता है। इंसान अच्छा है, उसमें अच्छा होने की संभावना भी है पर असल में वह अपनी बुराइयों पर पर्दा भी डालता रहता है। चौबीस घंटे में हमारे भीतर कितने ही बुरे विचार उठते हैं। कितने ही समाजविरोधी काम करने की इच्छाएं जन्म लेती हैं। लालच, हवस, वासना, हिंसा की न जाने कितनी ही गोपनीय भावनाओं को हम भीतर ही भीतर प्रतिबंधित (सेंसर) कर डालते हैं। धर्म और रीति-रिवाज तो पहले ही उसकी बुराइयों पर पर्दा डालते रहते हैं, साहित्य का काम उन पर्दों को नोचकर निकाल देना है। इस तरह हर अच्छी कहानी में 'स्टिंग आपरेशन' की तकनीक नहीं तो कम से कम उसका गुण जरूर होना चाहिए। उसमें रंगे हाथों पकड़ने का कौशल दिखना चाहिए। उसमें लिपे-पुते चेहरों को धो डालने का चालाक हुनर भी होना चाहिए।

हिंदी में जो हाल में दो कहानियां मस्तिष्क में देर तक रहीं वे थीं अनिल यादव की कहानी 'दंगा भेज्यो मौला' और शिवमूर्ति की 'तिरियाचरित्तर'। अनिल यादव की कहानी में बाढ़-बर्बादी के बीच घिरे लोगों की भयावह दशा सामने आती है तो शिवमूर्ति की कहानी में दलित स्त्री का शोषण व्यक्त होता है। दोनों ही कहानियां अल्पसंख्यकों व दलित स्त्री के उत्पीड़न व धीमे-धीमे चलती उनकी तबाही को व्यक्त करती है पर ख़ास बात है तो दोनों ही कहानियां अस्मिता विमर्श के नाम पर कला-शिल्प या कथ्य के स्तर पर किसी आलोचकीय रियायत की मांग नहीं करती हैं। इन कहानियों को पढ़कर आपको कहानियों की ताक़त का आभास हो सकता है। आप यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते हैं कि अच्छे अस्मितावादी विचारों के फ्रेमवर्क में कमजोर कहानी लिख दी गई है। कहने का मतलब है कि सामाजिक रूपांतरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ दलित, स्त्री, किसान, मुस्लिम, जनवाद आदि की जो साहित्यिक श्रेणियां स्पष्ट तौर पर निर्मित हुई हैं उनमें कथाओं को भी संजीदा ढंग से प्रस्तुत होना चाहिए और कहानियों को श्रेष्ठ विचार का प्रतीक नहीं बल्कि श्रेष्ठ कला का प्रतीक भी बनाने का प्रयास करना चाहिए। हम यह नहीं कह सकते कि किसी महान आंदोलन के लिए लंबे समय तक बुरे साहित्य को भी बर्दाश्त कर लेना चाहिए। साहित्य वही सफल होता है जिसमें सामाजिक-चेतना और कला-चेतना का मेल उपस्थित रहता है।

इसी प्रकार कहानी से हमें बहुत ज्यादा डिमांड भी नहीं करनी चाहिए कि वह एक साथ ही दृश्यात्मक, बिंबात्मक, रोमांटिक, चरित्र प्रधान, नैतिकतावादी, मनोविश्लेषणवादी या यथार्थवादी आदि हो। जो कमजोर कहानीकार हैं, वे सबसे ज्यादा यह बताते हैं कि उनकी कहानियों में कौन-कौन से गुण हैं। वे खुद ही आलोचकों को फोन कर बताते हैं कि हमारी कहानी के इन गुणों पर ध्यान दीजिए। जबकि जो परिपक्व कहानीकार हैं उन्हें बस यह पता होता है कि उन्होंने एक कहानी लिखी है, इससे ज्यादा कुछ नहीं। उन्हें कहानियों को चीर-फाड़ विभाग में ले जाए जाने और फिर 'मनोवैज्ञानिक अन्वेषण', 'ऐतिहासिक उत्कृष्टता' और 'समाजशास्त्रीय गुणवत्ता' आदि के लेबल के साथ बाहर लाने की कार्रवाई अश्लील लगती है। कहानी की उत्कृष्टता इससे नहीं पहचानी जाती कि वह कितना

हमारे समाज को प्रतिबिंबित करती है, बल्कि इससे पहचानी जाती है कि वह हमारे भीतर छिपे समाज के बिंब को किस प्रकार से समृद्धकारी विस्तार, नई ऊंचाई और नई गहराई प्रदान करती है। साहित्य से बढ़ती हुई मांगें साहित्य-कला की सत्ता की उपेक्षा कर उन्हें केवल सामाजिक चेतना के माध्यम के रूप में देखने की प्रवृत्ति की भी परिचायक है। साहित्य का समाजशास्त्र लिखने वालों ने इस समस्या का हल सुझाने के स्थान पर इसे बढ़ावा दिया। कविता लिखने वाले से हम मांग करते हैं कि वह हमें पूरे विश्व की झलक दिखा दे। कहानी लिखने वाले से मांग करते हैं कि वह कुछ क्रांति, सुधार आदि के रास्ते के बारे में भी हमें बताता चले। निबंध लिखने वाले से मांग करते हैं कि वह भारी ज्ञान हमें जल्द से जल्द प्रदान कर दे। काव्यशास्त्र के सारे नवरस हमें किसी एक ही कहानी या कविता से चाहिए, तो इसका मतलब है कि हमारी अपेक्षाओं में ही कुछ खोट है। इस चक्कर में न तो विधा कुछ ज्यादा प्रदान कर पाती है और न हमारी अपेक्षाएं ही पूरी हो पाती हैं। इन अतिरिक्त अपेक्षाओं के लिए केवल पाठक नहीं बल्कि लेखक भी दोषी हैं जो विमोचनों या परिचर्चाएं आयोजित कराकर इस बात को सिद्ध कराना चाहता है कि उसने जो लिख दिया है, उसमें समूचा अनुभव जगत समा गया है। रचना ब्रह्म है जिसमें पूरी सृष्टि का वास है। हिंदी के एक ऐसे ही बदनाम किस्म के विमोचनी समारोह में मैंने हाल में ही एक आलोचक को कहते सुना था कि कहानी वह विधा है जिसमें समाज का संपूर्ण सत्य समा जाता है। ऐसे पवित्र मुखोद्गार व्यक्त करने वाले उन आलोचक महोदय से पूछा जा सकता था कि यह 'संपूर्ण सत्य' अभी खोजा नहीं गया है तो कहानी में कैसे समा गया? संपूर्ण सत्य की चिंता पुरी के शंकराचार्य जी करें तो समझ में आता है, साहित्यकार करे तो चिंतित होने की जरूरत होती है। इसलिए कमजोर कथाकार व कमजोर आलोचक, दोनों ही अक्सर संपूर्ण सत्य के पीछे भागते हैं, जबकि जेन्युइन कथाकार अपने संपर्क में, सहजता से समझे जाने वाले और संवेदित किए जाने वाले सत्य को कहानी में व्यक्त करते हैं, न कि किसी संपूर्ण सत्य को खोजने की चेष्टा करते हैं। ऐसे करते हुए जटिल तर्क नहीं बल्कि सरलता का भी साधक हो सकता है।

यह सही है कि पिछली पूरी एक सदी में विकसित हुआ 'व्यक्ति' ज्यादा तर्क करने वाला व्यक्ति है और वह दुनिया के निर्माण के पीछे काम करने वाली सारी तार्किक योजनाओं को समझने की कोशिश करता है। यह बात भी सही है कि उसकी बौद्धिकता का लगातार विकास हो रहा है। पर ये सारी सही बातें भी इस तथ्य को झुठला नहीं सकती हैं कि वह बौद्धिकता, सरलता व तार्किकता को भी सरल बनाने का प्रयास करता रहता है। हमारे साधारण जन ही नहीं बल्कि सर्वश्रेष्ठ मेधाएं भी जटिलता को ग्रहण करने के लिए सरलता की मांग कर सकती हैं। इसलिए कहानी बहुत पेचीदा विधा बनने के स्थान पर सरल विधा बनने की तरफ बढ़े, तो उसका भविष्य ज्यादा प्रकाशमय रहेगा। लेकिन सरलता का गुण कहानी के रूपगत पक्ष में होना चाहिए, दृष्टि में नहीं। सरलता का अर्थ उथलेपन, मूर्खता या सपाटपन में नहीं ढूंढा जाना चाहिए। वह अल्पज्ञता या मानसिक श्रम के अभाव को भी व्यंजित करने वाली नहीं होनी चाहिए। सरलता संप्रेषण की समस्या से जुड़ा मसला है, न कि दृष्टि या समझदारी से जुड़ा हुआ। एक गहरी बेधक, यथार्थ को तार-तार कर देने वाली, उसकी सारी जटिलता को उभार देने वाली सरल संप्रेषणीयता की हमें जरूरत होती है और इसीलिए हम सरलता को आवश्यक समझते हैं। हमें उल्टा नहीं चलना है कि दृष्टि तो सरल है, पर संप्रेषण में जटिलता है। एक मँजी हुई बौद्धिकता के बगैर हम न अपने शहरी समाज का ठीक से चित्रण कर सकते हैं, न गांवों का। जैसे कि इधर गांव पर लिखी कुछ कहानियों को पढ़ा तो लगा कि गांव के किसान का चित्रण केवल इतने तक सीमित रह जाता है कि वह कितना भला है और अपने जानवरों को कितना सच्चा प्यार करता है। उसे अपने हल-बैल या जमीन से कितना लगाव है। वह अपने मरकहे बैलों को कसाई से बचाता है। पर ये किसान की बेहद मासूमियत से भरी छवि है और इससे किसान जीवन या गांव की असल चुनौतियां नहीं उभरती हैं। प्रेमचंद ने भी ऐसे मासूम किसान का चित्रण नहीं किया है बल्कि उनका किसान भी चालाकी से डांडी मारने वाला, भाई की गाय को ज़हर देकर मार डालने वाला, जमींदार को खुश रखने की चिरौरी करने वाला और कैसे भी हो पर अपनी 'मरजाद' को बचाने वाला जटिल सामाजिक प्राणी है। अर्थात कहानीकार को किसी विषय का चयन करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके पास उसे लेकर एक सधी हुई सामाजिक दृष्टि भी हो, वरना वह उस विषय को लेकर एक अपरिपक्व रचना गढ़ देगा।

ईमेल- vaibhavjnu@gmail.com
फोन- 9711312374

पल्लव

मेरे लिए कहानी

आलोचक भी सबसे पहले पाठक होता है। पाठक को कहानी अच्छी लगे तब आलोचक का काम शुरू होता है। कहानी का विषय, उसका प्रतुतिकरण और उसका होना मिलकर कहानी के महत्त्व को तय करते हैं। बहुत विस्तार से हिंदी में इस पर बात हुई है लेकिन फिर भी वे बातें दोहराई जानी चाहिए।

असल बात है आप क्यों लिखते हैं ? बुजुर्गों ने कहा है लिखना विपक्ष में खड़ा होना है या ऐसे समझें कि कोई लेखक समाज की वर्तमान व्यवस्था से असंतुष्ट होकर ही लिखता है। जैसे तुलसीदास जिस रामराज्य का सपना अपनी कविता में बार बार देखते हैं वह उनके युग के हाहाकारी असंतोष के विरुद्ध हुआ कवि का सृजन है। ठीक वैसे ही कोई कहानी लिखी जाती है तो उसका उद्देश्य क्या है ? कोई रचना निरुद्देश्य नहीं हो सकती। अगर है तो वह लेखक की निजी संपत्ति है उसका समाज से कोई सम्बन्ध नहीं। लेखक कहानी या कविता लिखकर पाठक तक पहुंचना चाहता है तो इसका मतलब है कि रचना का कोई उद्देश्य है। यदि वह रचना समाज की वर्तमान व्यवस्था पर टिप्पणी है तो जाहिर है कि लेखक सामाजिकता को एक कसौटी मानता है।

आलोचना भी समाज निरपेक्ष नहीं होती। हिन्दी आलोचना का इतिहास सभ्यता समीक्षा से जुड़ा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास की प्रस्तावना में लिखा था – 'जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।' जनता की चित्तवृत्तियाँ क्या हैं और उन्हें कैसा होना चाहिए बहुधा यह सभ्यता समीक्षा का काम है। आलोचना भले यह दावा न करे लेकिन उसकी अनिवार्य नियति यही है कि उससे यही जाना जाएगा कि उसने समाज के लिए क्या कहा।

मसलन क्यों हिंदी आलोचना ने प्रेमचंद को बड़ा लेखक माना जबकि वे तो राजा राम की जगह फटेहाल हामिद और घीसू-माधव की कहानी सुना रहे थे। राजा राम की कहानी सुनाने वाले अनेक आधुनिक गद्‌यकार क्यों कथाकार या उपन्यासकार ही नहीं माने गए बावजूद सौ या पचास वजनी किताबों के। तो यह है आलोचना की भूमिका।

अब आज के कहानी परिदृश्य की तरफ चलें। बहुत दिन नहीं हुए जब कालिया जी वागर्थ के संपादक थे और फिर ज्ञानोदय के हुए। उनके नेतृत्व में हिंदी में एक युवा पीढ़ी आई जिसमें अनेक नए लोगों ने कहानी लिखने की शुरुआत की। ये ऐसे कहानीकार थे जो हिंदी के खांटी लेखन समुदाय के स्थान पर अलग अलग क्षेत्रों से आ रहे थे। इस दौर की कहानी ने कहानी के पारम्परिक मिज़ाज को बदला और कहानी में नए परिवर्तन हुए। कहानी के विषय क्षेत्रों में ही विस्तार नहीं हुआ अपितु कहन में भी मौलिक प्रयोग हुए। ध्यान देने की बात है कि यह वह समय था जब देश-दुनिया में संचार क्रान्ति के लाभ-हानि साफ़ साफ़ दिखाई दे रहे थे और दुनिया अब एकल ध्रुवीय होती जा रही थी।

अब इस नए समय में कहानी की आलोचना का सवाल आता है। यह जो कहानी का नया संसार है इसे कहानी की ऐतिहासिक निरंतरता में कहाँ -किस तरह रखा जाए - देखा जाए? तो थोड़ा पीछे से बात शुरू की जाए। हिन्दी कहानी का पहला प्रस्थान बिंदु प्रेमचंद हैं। प्रेमचंद ऐसे लेखक हैं जिन्होंने न केवल हिंदी कथा साहित्य का कायदे से निर्माण किया अपितु उसे ऐसे संस्कार दिए कि लाख दुष्प्रयासों के हिन्दी का कथा साहित्य न साम्प्रदायिक हो सकता है और न ही बाजारवादी। इधर नए परिदृश्य की उलझन यही है। आलोचना को हिकारत से देखने वाले और उसे अध्यापकीय कह कर दुरदुराने वाले उपभोक्तावादी लाड़ले लेखकों (?) का कष्ट यही है कि बार बार प्रेमचंद की मिसाल क्यों दी जाती है ? कभी बिक्री के आंकड़े तो कभी विदेशी भाषाओं में अनुवाद की धौंस दिखाकर पूछा जाता है हमें लेखक कैसे नहीं मानोगे? क्या कीजिये कि हिंदी लेखन का गरीबी, साम्प्रदायिकता और बाजारवाद से बैर होना शाश्वत है। आलोचना इस लड़ाई में मनुष्य विरोधी ताकतों के साथ कभी नहीं जा सकती।

तो बात मोहम्मद आरिफ की लू से शुरू होकर दूर तलक जाती है और उसका मर्म वही है।

मेरे लिए कहानी पढ़ना संसार का खुलना - संसार को जानना है। कहानी मुझे और मानवीय बनाती है। कहानी मेरे भीतर बैठे कायर को धिक्कारती है और उसे चुनौती देती है। कहानी मुझे वही नहीं रहने देती जो मैं अब तक था। जाहिर है हर कहानी ऐसी नहीं हो सकती लेकिन मेरी तलाश और मेरी मुराद ऐसी ही कहानी की है। इस कहानी में सब हो करुणा, मनुष्यता, स्मृति में रह जाने वाले अनोखे-मामूली पात्र और कथाकार का कमाल का प्रस्तुतीकरण जो कहानी को भूलने न दे। उदाहरण देकर बात करें तो ज्यादा साफ़ होगी। प्रियदर्शन की कहानी है - 'बाएं हाथ का खेल'। कहानी सिपाही शिवपाल यादव की है। ठीक है कि वे हवलदार हैं,सरकारी नौकर हैं लेकिन उनकी ड्‌यूटी झुग्गी के इलाके में है जहां 'मुश्किल दूसरी है। काम जैसा भी हो, कमाई बिल्कुल नहीं है। झुग्गी-झोंपड़ी से ऐसा कुछ मिलता भी नहीं जिसे घर ले जाएं। नंग-धड़ंग इधर-उधर भागते बच्चे और कोसती-रोती औरतें,कहीं विरोध करते तो कहीं बेबसी में तमाशा देखते मर्द।' होता यह है कि कोर्ट के आदेश से यह झुग्गी ध्वस्त करने के लिए एक बुलडोजर आ गया है और अफरा-तफरी मची हुई है। शिवपाल जी 'क़ानून के पक्के आदमी हैं। कानून जहाँ बोले,वहां खड़े हो जाते हैं। लाठी भांजने लगते हैं।' यहाँ भी इस ड्‌यूटी पर वे मुस्तैद हैं और लगे हुए हैं कि अवरोध न आ जाए। तभी एक औरत बच्चे को लेकर बुलडोजर के आगे आ जाती है ,उसका आग्रह है कि 'बच्चा बीमार है सिपाही जी। धूप बरदास नई करेगा। बोल रहे हैं साम को गिरा देना घर। रात कहीं काट लेंगे।' लेकिन बुलडोजर वाला तैयार नहीं। शिवपाल जी भी कड़क हैं। आखिर उसे हटना पड़ा। औरत बच्चे को एक पेड़ के नीचे लिटा देती है जिसकी छाया में यादव जी भी हैं। 'शिवपाल यादव देखना नहीं चाहते हैं लेकिन बच्चा पर नजर पड़ ही जाती है। लाल है बच्चा का चेहरा। लेकिन न बोल रहा है न रो रहा है। कुछ धक्क रह जाता है शिवपाल यादव का कलेजा। न चाहते हुए भी छू लेते हैं बच्चा का माथा -एकदम गरम। भट्ठी जैसा तप रहा है।' बस यह वही क्षण है जब शिवपाल यादव का जैसे लेखक आविष्कार कर रहा है। देखिए तो - 'अब शिवपाल यादव को पसीना आ रहा है। यही सब समय उनके लिए सबसे मुश्किल होता है। अपना बच्चा याद आने लगता है । शिवपाल यादव बच्चा के पास बैठ गए हैं। वहीं एक टूटा हुआ पंखा दिख रहा है। लगता है,मां बच्चे के साथ लाई है। शिवपाल यादव पंखा उठा के बच्चा को झलने लगते हैं। बाएं ही हाथ से। साला टीवी वाला न देख ले। नहीं तो

फ़िर बीवी मजाक बनाएगी। बोलेगी, बच्चा खेलाने का ड्यूटी लगा है। लेकिन का करें शिवपाल यादव। बच्चा को बचाएं कि कानून को ?' यह ज़िंदगी को नए सिरे से पहचानना है। जिससे उम्मीद छोड़ चुके हैं उसमें उम्मीद तलाशना है। मीरां के प्रसंग में कहा जाता है कि उसकी सास और ननद उसे बहुत परेशान करती थीं, ताने देती थीं। नारी मुक्ति के सन्दर्भ में सवाल है कि मीरां तो सजग है और समर्थ भी इसलिए अपनी लड़ाई लड़ रही हैं लेकिन इस सास और ननद का क्या करें ? क्या इनके ऐसे ही बने रहने और मीरां के लड़ जाने से स्त्री मुक्ति के सवाल हल हो जाएंगे ? नहीं। मुक्ति एक सामूहिक विचार है। अकेले में मुक्ति नहीं मिलती। इसलिए जो दुष्ट है, दुरदुराया जा रहा है उसमें भी मनुष्यता का संधान करना कहानी की चुनौती है। कहते हैं शेक्सपीयर दुष्टता का संधान करते थे (Study of Evil) जबकि हिंदी कहानी भले लोगों की तलाश है। लोगों में भले की तलाश है।

कुतूहल के लिए अगड़म-बगड़म लिखकर ध्यान खींचना भी एक युक्ति हो सकती है लेकिन दुनिया की श्रेष्ठ कहानियाँ ऐसी युक्तियों को नहीं मानतीं। जीवन में यथार्थ को अभिधा के जादू में जितना साफ़ साफ़ देखा जा सकता है उतना और किसी ढंग से नहीं। यह बात ठीक है कि कहानी कला का दर्जा तभी प्राप्त कर सकती है जब उसमें कहन की ताज़गी हो और अंदाजे बयां अलहदा हो। कहना न होगा कि युवा कहानी ऐसा करने की कोशिश में है।

आख़िरी बात यह कि साहित्य में इंस्टेंट ग्रेटीफिकेशन नहीं हो सकता। यह फेसबुक का ज़माना है जहाँ तुरंत फल प्राप्ति की कामना को बढ़ावा दिया जाता है लेकिन साहित्य में यह त्वरा इसलिए नहीं चल सकती कि साहित्य का अर्थ जीवन की तरह जटिल और व्यापक है।

फ्लेट न. 393 डी.डी.ए.
ब्लाक सी एंड डी, कनिष्क अपार्टमेन्ट
शालीमार बाग़, नई दिल्ली-110088
pallavkidak@gmail.com

राहुल कुमार

जो विचारधाराओं से मुक्त करे

कहानी की पाठकीय अपेक्षा का प्रश्न अपनी जातस्थिति में अस्तित्त्वमूलक है, क्योंकि कहानी स्वयं पाठकीय अपेक्षा की परिणति है। कहानी लेखक के घर जन्म लेती है। आलोचक उसमें श्रीवृद्धि करता है। संपादक कुछ अंतिम तराश एवं मंच मुहैय्या कराता है। किसलिए ? मंच और तराश किसलिए ? श्रीवृद्धि किसके लिए ? स्वयं लेखन भी किसके लिए ? पाठक के लिए ही न । कला की कोई भी विद्या पाठक-श्रोता-दर्शक द्वारा सराहे जाने के उपरांत ही दीर्घजीवी एवं अर्थवान् हो पाती है। संपादक अथवा आलोचक कहानी को कहानी होने का प्रमाण-पत्र दे सकते हैं किंतु उसको प्राणवत्ता पाठक ही प्रदान करते हैं। यही लेखकीय पूँजी भी है।

जब समकालीन कहानी की बात चलती है, तो एक प्रश्न बरबस कौंधता है कि समकालीनता कालवाचक है या मूल्यवाचक ? अपने समय से आगे की कहानी होने का प्रशस्ति-पत्र प्रदान करना कई आलोचकों का पसंदीदा एवं सुरक्षित निष्कर्ष होता है, किंतु महत्त्वपूर्ण है कि ''कहानी'' अपने समय की अपेक्षाओं का वहन करे। युग से कटी साहित्य चेतना न युग के साथ न्याय करती है, न ही साहित्य के साथ। नामवर सिंह के शब्दों में, ''इतिहास की धारा में धारा एवं किनारा दोनों मनुष्य है, निरपेक्ष कोई नहीं।'' वर्ष 2015 के लिए साहित्य का नोबेल पुरस्कार पाने वाली स्वेत्लाना एलेक्सिएविच ने एक साक्षात्कार में गर्व से कहा, ''मैं नि:संग इतिहासकार नहीं हूँ।'' कहानी वस्तुत: अपने समय से मुठभेड़ करने वाली होनी चाहिए, अपने समय की हलचलों का प्रतिनिधित्त्व करने वाली भी, बिल्कुल नागार्जुन की कविताओं की तरह। ''मगर जब घर में आग लगी हो तो सिर्फ अपने अंतर्जगत में बने रहना या उसी का प्रकाशन करना क्या खुद ही अप्रसांगिक, हास्यास्पद और किसी हद तक अश्लील नहीं लगने लगता ?'' - मन्नू भंडारी के ये शब्द कहानी से पाठकीय अपेक्षा का रेखाचित्र खींच देते हैं। कहानी को अंतर्जगत से बाहर निकलना ही होगा।

यदि पाठकीय दृष्टिकोण से हिन्दी कहानी के सौ वर्षों का मूल्यांकन करें, तो यह परंपरा काफी समावेशी एवं विकसनशील प्रतीत होती है। पाठक कहानी के आरंभ में जो हो, अंत में ठीक वही नहीं रह जाए, (ऐसा प्रभावकारी-परिवर्तनकारी गुण यद्यपि कहानी में उपन्यास एवं नाटकों की तुलना में अपनी काया की सीमा के कारण कम होता है) – इस आधार पर यदि हम हिन्दी कहानी का लेखा-जोखा करें तो पाते हैं कि क्षण की अनगिनत कहानियाँ कालजयी श्रेणी में रखी जाने योग्य हैं।

आधुनिक कहानी कला की दृष्टि से चंद्रधर शर्मा गुलेरी की ''उसने कहा था'' निर्विवाद रूप से प्रथम श्रेष्ठ कहानी है। पंजाबी के प्रभाव के बावजूद संवेदना एवं शिल्प दोनों ही प्रतिमानों पर यह कहानी सौ वर्षों के अन्तराल को बेमानी कर देती है। लहना सिंह का ''तेरी कुड़माई हो गई'' पूछना पाठक के अंतस में ऐसा धंसता है कि वर्षों की बहुसंख्य स्मृतियाँ भी उसके असर को प्रतिस्थापित नहीं कर सकतीं।

प्रेमचंद की लगभग 300 कहानियाँ हिन्दी साहित्य की थाती हैं। आरंभिक आदर्शवाद के पश्चात् प्रेमचंद जैसे-जैसे यथार्थ को आत्मसात करते जाते हैं, उनकी कहानियाँ प्राणवान होने लगती हैं। 'शतरंज के खिलाड़ी', 'कफन', 'ईदगाह', 'नमक का दारोगा', 'सवा सेर गेहूँ', 'पूस की रात', 'बड़े भाई साहब', 'गुल्ली-डंडा'' आदि कहानियों पर किसी भी भाषिक समाज को गर्व होगा। प्रेमचंद ने जहाँ स्वतंत्रता संघर्ष, संयुक्त परिवार का विघटन, जातीय एकता, किसान मजदूर समस्या, अछूतोद्धार, विधवा समस्या आदि विषयों को चुना, वहीं जयशंकर प्रसाद की अधिकांश कहानियाँ छायावादी वैयक्तिकता की प्रतिच्छाया से युक्त हैं। ''आकाशदीप'' की भाषा संस्कृतनिष्ठ होने के बावजूद अपनी काव्यात्मक प्रवाह के कारण पाठकों के बीच सराही गई।

आगे प्रसाद की व्यक्तिवादी चिंतनधारा का विकास जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी एवं अज्ञेय जैसे कथाकारों ने किया, वहीं प्रेमचंद की समाजवादी धारा के वाहक बने यशपाल, भीष्म साहनी, ज्ञानरंजन, अमरकांत आदि। जैनेद्र की ''नीलम देश की राजकन्या'' एवं ''पाजेब'' जैसी कहानियाँ जहाँ एक तरफ मनोवैज्ञानिक धरातल पर हिन्दी कहानी को समृद्ध करती हैं, वहीं नारीवाद को एक आन्दोलन की पूर्व पीठिका बनाने का श्रेय उन्हें दिया जा सकता है। इलाचंद्र जोशी ने व्यक्तिवाद के भीतर दमित वासनाओं एवं कुंठाओं का विश्लेषण किया, वहीं अज्ञेय ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य को अपनी कहानियों में प्रभुखता दी। 'रोज', 'होली बोन की बत्तकें', जैसी कहानियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी पसंद की जाती रही हैं।

यशपाल ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से सामाजिक वैषम्य को उभारा है, वहीं व्यक्ति के मन की तहों में भी झांका है, उसकी पड़ताल की है। ''परदा'' कहानी का परिवार अभाव की जगह झूठी मर्यादा को बचाने हेतु चिन्तित है। वर्तमान को स्वीकार न कर विस्मृत अतीत के खोखलेपन के सहारे रहना मृत्यु-बोध की निशानी है और पाठक देखता है कि ''गोदान'' का होरी भी सबकुछ खोकर ऐसी ही झूठी ''मरजादा'' से चिपका है एवं त्रासदी को अभिशप्त है। यशपाल की एक अन्य प्रसिद्ध कहानी ''मक्रील'' में वृद्ध यौनाकुल कवि का कवित्व एक युवती के निश्छल विश्वास एवं बलिदान से ध्वस्त हो जाता है। यशपाल इन्हीं विरूद्धों के मध्य के पाखण्ड को उजागर करते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के कालखंड में बहुत कुछ बदला एवं तद्नुरूप साहित्य का कलेवर भी। अबतक राष्ट्र महज एक संकल्पना था, अब पूर्ण डिटेल्स से युक्त एक ठोस इकाई। साहित्य के विषय, मुहावरें, चिंताएँ सब परिवर्तित हुईं। कथ्य में विविधता आई एवं शिल्प के स्तर पर भी अब उलझनपूर्ण मोड़ एवं चरम सीमाओं की जगह आन्तरिक अन्विति पर बल दिया जाने लगा। मध्यवर्ग की आशाओं, आकांक्षाओं, मोहभंग के साथ कहानीकारों के अपने जीवनानुभव कहानी के केन्द्र में आने लगे। निराला ने जो काम कविता में ''मैंने 'मैं' शैली अपनाई'' कहकर किया था, हिन्दी कहानी ने भी उस 'टोन' को प्राप्त किया एवं पाठकों के समक्ष 'नयी कहानी' का जायका हाजिर था। मोहन राकेश ('मलबे का मालिक', 'मिस पाल', 'आर्द्रा', 'एक और जिन्दगी'), कमलेश्वर ('खोयी हुई दिशाएँ', 'राजा निरबंसिया'), 'राजेन्द्र यादव ('खुश्बू', 'टूटना', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है'), मन्नू भंडारी ('यही सच है'), उषा प्रियंवदा ('मछलियाँ'), निर्मल वर्मा ('पिक्चर पोस्टकार्ड', 'परिंदे'), कृष्णा सोबती ('सिक्का बदल गया', 'बादलों के घेरे') जैसे कहानीकारों ने 'नयी कहानी' को कथ्य तथा शिल्प दोनों ही स्तरों पर समृद्ध किया। विषयगत विविधता, भावगत सघनता एवं अपनी प्रभावन्विति के कारण उपरोक्त कहानियों को पाठकों के मध्य 'क्लासिक्स' का दर्जा हासिल है।

'नयी कहानी' के समांतर ग्रामांचल की कहानियाँ भी स्थानीयता को स्वर दे रही थीं। रेणु ('तीसरी कसम', लालपान की बेगम'), शेखर जोशी ('कोसी का घटवार'), शैलेश मटियानी ('वृत्ति', 'मैमुद'), मार्कण्डेय, विवेकी राय, रांगेय राघव आदि कहानीकारों ने अंचल विशेष के इतिहास, भूगोल, बोली, मुहाबरों, जीवनशैली, संघर्ष एवं विशिष्ट आंचलिकता को उकेरते हुए यह उद्घोषित किया कि अब देश के एक कोने में खड़े होकर, एक दृष्टिकोण से संपूर्ण देश के बारे में सामान्यीकृत बयान जारी नहीं किया जा सकता।

1960-65 के पश्चात् की कहानी 'समांतर कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, अचेतन कहानी, सक्रिय कहानी' जैसे अल्पजीवी आंदोलनों से गुजरते हुए धीरे-धीरे बिंबों-प्रतीकों तथा नारों से मुक्त हो गई। परवर्ती कहानी के प्रमुख हस्ताक्षरों में दूधनाथ सिंह, महीप सिंह, ज्ञानरंजन, गिरिराज किशोर, काशीनाथ सिंह, प्रियंवद, गोविन्द मिश्र, राजी सेठ, अनीता औलक, ममता कालिया, रवीन्द्र कालिया, अखिलेश, असगर वजाहत, उदयप्रकाश, पंकज मित्र, प्रभात रंजन आदि उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने हिन्दी जातीय समाज के समक्ष उदारीकरण-भूमंडलीकरण के संक्रमण काल के दौरान उत्पन्न चुनौतियों को सफलतापूर्वक हिन्दी कहानी में उतरने दिया। वैश्वीकरण के युग में नए विषय, बदली संवेदना तथा भिन्न पाठकीय अपेक्षा के अनुरूप समकालीन कहानी सामंजस्य स्थापित करने में सफल रही है। यदि इस अवधि की आधा दर्जन 'ट्रेंडसेटर' कहानियों को सूचीबद्ध करना हो, तो मेरी सूची होगी :- (1) चिट्ठी (अखिलेश) (2) वारेन हेस्टिंग्स का सांड (उदयप्रकाश) (3) पॉल गोमरा का स्कूटर (उदयप्रकाश) (4) पिता (ज्ञानरंजन) (5) क्विजमास्टर (पंकज मित्र) (6) जानकीपुल (प्रभातरंजन)।

कहीं पढ़ा था, 'कहानी तने हुए रस्से पर बिना अवलंब के आर-पार पहुँच जाने की जोखिम भरी बाजीगरी है।' अखिलेश की 'चिट्ठी' इसका प्रमाण है। पूरी-की-पूरी कहानी संवेदना के स्तर पर इतनी कसी हुई है कि इसकी भाव सघनता का 'बांग्ला भावुकता' में तब्दील हो जाने का जोखिम था। ज्ञानरंजन की कहानी 'पिता' इस विषय पर नग्न यथार्थबोध के साथ लिखी गई पहली कहानी है। पंकज मित्र का 'क्विजमास्टर' एवं प्रभात रंजन का 'जानकीपुल' छोटे कस्बों के अपूर्ण भूमंडलीकृत सपनों की दास्तान हैं। गुरप्रीत कौर के प्रति आसक्ति की प्रेरणा से पंकज मित्र का नायक भारतीय सर्वशक्तिमान सेवा में जाना चाहता है पर 'प्रेरणा' के बीच में मार्ग बदल लेने से 'क्विजमास्टर' बनकर रह जाता है, किंतु भूमंडलीकरण का प्रभाव उस कस्बे पर भी पड़ता है एवं अमिताभ बच्चन जब स्वयं क्विजमास्टर बन जाएं ('कौन बनेगा करोड़पति') तो फिर उस कस्बाई 'गिटिर-पिटिर करने वाले' को कौन पूछता है। 'जानकीपुल' एक छोटे से गाँव 'मधुवन' के शहर बनने की महत्वाकांक्षा के मध्य की अधूरी कड़ी है। पुल के शिलान्यास के बीस वर्षों के उपरांत भी कार्य प्रारंभ नहीं होता एवं इस बीच लोगों की आशा, सपनें, प्रेम-प्रसंग, जिंदगी सभी इस आभासी पुल के दोनों तरफ पृथक-पृथक पड़े रहते हैं। उदयप्रकाश की कहानियाँ उनकी कविताओं की ही भाँति पाखण्डों पर, क्रूरता पर, कृत्रिमता पर प्रहार करती हैं। 'वारेन होस्टिंग्स का सांड' फंतासी के माध्यम से सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यंग्य है, वहीं 'पॉल गोमारा का स्कूटर' कहानी में मुख्य पात्र राम गोपाल सक्सेना अपने नाम को वैश्वीकरण के दौर में पिछड़ा एवं 'आउटडेटेड' मानता है तथा वर्तनियों को बदलकर उसे 'पॉल गोमरा' कर लेता है। उसके अंदर की असुरक्षा, हीनता एवं अफसरशाही के विरूद्ध संचित आक्रोश एक समारोह में फूटता है एवं वह हुंकार भरता है - 'डायनासोर विलुप्त हो गए, चींटी अभी भी हैं'। उदयप्रकाश अपनी प्रयोगधर्मिता, जोखिम लेने का साहस एवं काव्यसुलभ कल्पना के कारण हिन्दी कहानी को एक बिल्कुल नई जमीन प्रदान करते हैं। उपरोक्त सभी कहानियों में एक तत्व समान है - फिल्म तकनीक का प्रयोग। वस्तुत: यह किस्सागोई का मूल चरित्र. है, जो हिन्दी कहानी में पुन: लौट आया है। कहानियाँ पाठकों के समक्ष संपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर रही हैं एवं शिल्प में पटकथा के निकट बैठ रही हैं। यह पाठकीय अपेक्षा के अनुरूप ही है।

इसी वर्ष पटना में आयोजित हिन्दी कथा सम्मेलन में समकालीन कहानीकारों-आलोचकों का जमावड़ा हुआ । कहानी-पाठ हुआ, बहस हुई, कुछ कहानियाँ मन में अंकित रह गयी। चन्दकिशोर जायसवाल ने ''भोर की ओर'' कहानी का पाठ किया। रेल की तीसरी श्रेणी की यात्रा है। ''मोटू पतलू'' सरीखे कॉमिक्स के वर्गीकृत चरित्र हैं। अपनी-अपनी स्मृति के अनुरूप तथ्यों के स्वरूप परिवर्तित हो जा रहे हैं तथा रेल इंजन से लेकर रेलमंत्री तक पर राय देने वाले ये यात्री अमर्त्य सेन के 'आर्ग्युमेंटेटिव इंडियन' हैं। धीरे-धीरे रेल की यह यात्रा पात्रों की जिन्दगी के सफ़र के पन्ने पलटने

लगती है। एक पात्र के पोते की शादी चैत्र में है एवं वह चिन्तामग्न है। पाठक सीधा 'पदमावत्' के नागमति वियोग खण्ड में उकेरित गार्हस्थिक चिन्ता को महसूस करता है एवं काल का अतिक्रमण कर जाता है। रेल की बोगी में ठंड का सामना करते-करते पात्र जिस बेचैनी से भोर का इन्तजार करते है, ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द की 'पूस की रात' का हल्कू कई-कई रूप में प्रकट हो गया है। धीरे-धीरे आन्तरिक चिन्ता एवं ठंड से संघर्ष के कारण यात्रियों के मध्य बात-चीत का उत्साह जाता रहता है एवं एक ऊब पूरी बोगी में पसर जाती है। यह वही ऊब है, जो आजादी बाद की मोह भंग की कविताओं में है:-

'चीजों के कोने टूटे
बातों के सिरे डूब गये,
हम कुछ इतना मिले,
कि मिलते-मिलते ऊब गये।'

इस कहानी में गरीबी विस्तार से उपस्थित है। जिन्दगी डिटेल्स में मौजूद है, सरकार भी डिटेल्स में है (इन्दिरा आवास, पेंशन आदि की चर्चा)। किन्तु जब पात्र पूछता है, 'भोर होने में अब कितनी देर है ?', तो ये फैज के इन्तजार वाला सहर नहीं है। यह यात्रा जिन्दगी की है। जिन्दगी समय से गुजर रही है, समय को बदल रही है, समय भी जिन्दगी को बदल रहा है, पर कहीं कुछ नहीं बदलता। भोर का इन्तजार तो है, पर किसी नई उम्मीद के लिए नहीं, (जिसका भ्रम शीर्षक से होता है), बल्कि तत्कालिक संघर्ष को टालकर अगले संघर्ष हेतु।

गोविन्द मिश्र ने 'फाँस' कहानी का पाठ किया । प्राय: शिल्प की प्रयोगधर्मिता के नाम पर किस्सागोई से समझौता कर लिया जाता है, किन्तु यह कहानी अपनी अभिधात्मकता के बावजूद प्रभाव छोड़ जाती है। दो चोर हैं या यूँ कहें, अनाड़ी चोर हैं, चोर बनने की कोशिश है, पूरी प्लानिंग है। एक ग्रामीण सरल महिला के घर में दूर की रिश्तेदारी के हवाले से प्रवेश भी कर जाते हैं। किन्तु वहीं महिला जब अपनेपन से भोजन परोसती है, तब चोर के हलक में एक फाँस अटक जाती है। करने और न करने के बीच की जद्दोजहद रेणु के 'संवदिया' की कहने-न-कहने के बीच की फाँस याद दिला जाती है। वहीं दूर-दूर से अज्ञेय की 'साँप' कविता भी चलती जाती है, मानो आगाह कर रही हो-'तुम सभ्य तो हुए नहीं।' गोविन्द मिश्र बुन्देलखण्डी बोली एवं 'शहरातू घाघ' तथा 'बासी-बासी ठंड' जैसे मुहावरों से अभिधा में भी जादू बुनते हैं।

सम्मेलन में रविन्द्र कालिया जी की 'गौरैया' से रू-ब-रू होने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ । जेठ की दोपहरी से कहानी आरंभ होती है, जहाँ गौरैया की मधुर आवाज ही एक मात्र राहत है। कहानीकार ने मंदिर-मस्जिद, रामजन्म-भूमि आदि विषयों की चर्चा के साथ साम्प्रदायिकता के कुचक्र के समक्ष 'गौरैया' की निरीहता को चुनौती के स्तर पर खड़ा कर बिल्कुल नवीन किन्तु सफल प्रयोग किया है। वस्तुत: गुजरात दंगों के एक पीड़ित की हाथ जोड़े मुद्रा की वह तस्वीर, जो सभी भारतीयों के दिलो-दिमाग में चस्पां हो गयी है, यही बताती है कि बाकी जगह नियंता की भूमिका वाला इंसान साम्प्रदायिक दावानल के समक्ष कितना निरीह हो जाता है। कहानी के मध्य में गौरैया की अनुपस्थिति में घोसले में उसके बच्चे को लेकर कहानीकार की चिन्ता बरबस ही पाठक को विद्यानिवास मिश्र के ललित निबंध 'मेरे राम का मुकुट भींग रहा है' में लेखक की चिन्ता से रू-ब-रू करा देता है। कठोर विषय पर लिखी यह कहानी कोमल प्रतीकों एवं कोमल भावनाओं के अंकन से विशिष्ट बन पड़ी है। अन्त में जब कहानीकार लिखता है, ''जन्मभूमि नाम से ही मुझे दहशत होने लगी । मगर मुझे विश्वास है, यहाँ फसाद की कोई आशंका नहीं है, क्योंकि यहाँ एक चिड़िया ने जन्म लिया था, भगवान ने नहीं।'' तब पूर्व प्रधानमंत्री वी0पी0 सिंह की पँक्तियाँ, ऐसा लगता है, नेपथ्य में गूँज रही हो :-

''भगवान हर जगह है,
इसलिए जब चाहे मुट्ठी में कर लेता हूँ
मेरे और तुम्हारे भगवान में
कौन महान् है,
निर्भर करता है
किसकी मुट्ठी बलवान है।''

वर्तमान में देश में असहिष्णुता बढ़ी है या नहीं - यह बहस का विषय है और बहस जारी भी है। साहित्यकारों द्वारा पुरस्कार लौटाया जाना सही है या गलत - इस पर भी बहस जारी है। किंतु हिंदी कहानी की सुदीर्घ परंपरा में जब-जब सांप्रदायिकता का जहर फैला है, तब-तब कोई अज्ञेय 'शरणार्थी' बनकर, या मोहन राकेश ''मलबे का मालिक'' बन उसका प्रतिकार करने को तैयार मिले हैं। कभी असगर वजाहत का सम्पूर्ण लेखन उससे लोहा लेने को तैयार दिखा

है, तो कभी रवीन्द्र कालिया की ''गौरैया'' ही संकीर्ण कट्टरपंथ के विरुद्ध साहित्यिक प्रतिबद्धता की पहरूआ बनी है। वर्तमान में जब आई.एस.आई.एस. के चरमपंथ का दायरा वैश्विक होने लगा है, सर्वेश्वर की पँक्तियाँ कहानी से, साहित्य से पाठकीय अपेक्षा को प्रतिबिंबित करती हैं :-

''तेंदुआ गुर्राता है,
तुम मशाल जलाओ,
क्योंकि तेंदुआ गुर्रा तो सकता है
मशाल नहीं जला सकता।''

जैसा कि पहले भी लिखा गया है, समकालीन कहानी की चुनौतियाँ नई हैं। फेसबुक, ब्लॉग तथा अन्य सोशल मीडिया पर सक्रिय रहने वाली युवा पीढ़ी के समक्ष मांग-पूर्ति के समीकरण के असंतुलन का लाभ चेतन भगत सरीखे लेखक उठा रहे हैं। यह नई पाठकीय अपेक्षा है। समकालीन भाषा, समकालीन मुहावरों एवं समकालीन पाठकों के अनुरूप कहानी का स्तर बरकरार रखते हुए लगातार बदलने की, ढलने की चुनौती है। स्वातंत्र्योत्तर कहानी में टूटते परिवार एवं बदलते मूल्यों के ऊपर बहुत लिखा गया है। मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी तथा अन्य कहानीकारों ने एकल परिवार के अकेलेपन, अजनबीयत तथा संत्रास को बखूबी स्वर दिए हैं, पर अपार्टमेंट संस्कृति में यह अकेलापन, यह अजनबीयत और सघन हो चुकी है। भीष्म साहनी के ''चीफ की दावत'' की माँ आज और भी अकेली, और भी अप्रासंगिक हो गई है। सतह के नीचे होने वाली ये तब्दीलियाँ और अधिक डिटेल्स के साथ कहानी में प्रतिबिंबित होना चाहती हैं।

देशज भाषा को अपनी ताकत बनाकर एक रवीश कुमार के विषय पर अद्यतन जानकारी एवं आत्मविश्वास के साथ बोलने पर सारा देश सुनता है, किंतु हिंदी पट्टी के बहुसंख्यक युवा इसी देशज परवरिश के कारण कुंठा में एक अप्रामाणिक दोहरी जिंदगी जीने को संघर्षरत है। हिन्दी कहानी को ऐसे युवाओं के मौन को स्वर देना है।

कहानी विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करे किंतु साथ-ही-साथ विचारधाराओं को नग्न करते हुए, उनकी सीमाएँ रेखांकित करते हुए विचारधाराओं से मुक्त भी करे। कहानी में वाम हो, दक्षिणपंथ हो, किंतु कहानी मुखपत्र न बने। अपने सम्पूर्ण कलेवर में कहानी लोकतांत्रिक हो एवं लोकतंत्र इस स्तर का कि गैर-लोकतांत्रिक एवं अलोकतांत्रिक मूल्यों को भी अपना पक्ष रखने का पूरा मौका मिले। कहानी अपना ध्येय स्वयं हो, अपने हिस्से का सच पूरी ईमानदारी से कहे।

भा. प्र. से., जिलाधिकारी,
गोपालगंज, बिहार 841428
rahulias6@gmail.com

विनोद मल्ल

व्यक्तिगत स्वतंत्रता की खोज

पिछले तीन दशक से कहानियां पढ़ रहा हूँ। विश्वविद्यालय के दिनों में नियमित सारिका पढ़ता था और उसके बाद हंस। कहानियाँ कथ्य के माध्यम से व्यक्ति की अनुभूति और संवेदना को समाज से जोड़ती हैं। इस सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मानवीय संबंधों का चित्रण, व्यक्ति का व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर संघर्ष आधुनिक कहानियों का विषय रहा है। वैश्वीकरण, टेक्नोलॉजीऔर संचार माध्यमों में आई क्रांति ने भी व्यक्ति, समाज और साहित्य को प्रभावित किया है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओं पर प्रश्नचिन्ह लगे हैं और यह बार-बार आज की कहानियों में दिखता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता की खोज भी आज की कहानियों में अक्सर देखने को मिलती है और साथ साथ स्वतंत्रता और सामाजिक मूल्यों के बीच असंतुलन द्वारा निर्मित भावनात्मक और सामाजिक उथल पुथल भी दिखती है।

भारत के सन्दर्भ में धर्म, जाति, राजनीति और भ्रष्टाचार ने लेखन को प्रभावित किया है। एक तरफ राजनीति कमजोर और पिछड़े तबकों के सामाजिक सशक्तिकरण का माध्यम बनी वहीं दूसरी तरफ इन्हीं तबकों के शोषण का कारण भी। 1960 -70 के अरसे में भारत एक नया देश था जिसने औपनिवेशिक सत्ता से आजादी प्राप्त की थी। लेकिन उसी अरसे में सामंतवाद और जातिगत शोषण से भी जूझ रहा था। भुखमरी और गरीबी से देश लड़ रहा था और उन दिनों की कहानियों में यह विषय अक्सर दिखता था। स्वतंत्रता संग्राम के मूल्य समाज में विद्यमान थे। मजदूर और किसान अपने अधिकारों के लिये लड़ रहे थे। साम्यवादी आंदोलन देश के कई इलाकों में जोर पकड़ रहा था. 1980 में सारिका में संजीव द्वारा लिखी कहानी "अपराध" प्रकाशित हुई थी जिसने कहानी के पाठक को झकझोर दिया था। यह कहानी नक्सलवाद पर लिखी गई थी। इस कहानी में सामाजिक द्वन्द्व और प्रखर व्यक्तिगत संवेदना लम्बे समय तक चर्चा में रही।

हिंदी कहानियों की सबसे अच्छी बात ये रही कि वह समय के साथ evolve होती रही. लेखकों ने कंटेंट और फॉर्मेट दोनों में प्रयोग करना जारी रखा। उन्होंने समाज के स्थापित मूल्यों पर प्रश्नचिन्ह लगाने की प्रक्रिया जारी रखी। जाति, धर्म, व्यक्तिगत सम्बन्ध, सेक्स, विवाह और अनेक संवेदनशील विषयों पर लिखते रहे। महिलाओं के

संघर्ष और सशक्तिकरण से जुड़े विषयों पर भी लगातार लिखा जाता रहा। सबसे अच्छी बात ये रही कि सामाजिक परिवर्तन महिला लेखिकाओं के लेखन में भी दिखा और उन्होंने संवेदनशील विषयों पर लिखने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। जब मैं ये लिख रहा हूँ तब 2012 में हंस में किरण सिंह की प्रकाशित कहानी " संझा" बरबस याद आ जाती है जो "ट्रांस जेंडर" विषय को बड़ी संवेदना और मानवीय भावनाओं के ताने बाने में बांधती है. लेखिका ने कहानी का अंत अत्यंत साहसिक तरीके से किया है जहाँ नायिका अंत में पूरी सामाजिक मूल्यों और सामाजिक व्यवस्था को चुनौती देती हुई दिखती है। किरण सिंह की हंस में प्रकाशित एक अन्य कहानी "यीशु के शूलें" राजनीतिक दांव पेंच और मानवीय संबंधों के बीच का समीकरण है। सम्प्रदायवाद, जातिवाद और स्वार्थों के तत्व पर पनपती राजनीति किस तरह से इंसान को इंसान का दुश्मन बना देती है, इस कहानी के ताने बाने को किरण सिंह ने बहुत बारीकी से बुना है।

मैंने यहाँ पर कुछ कहानियों का जिक्र किया है हालाँकि पिछले वर्षों में उपरोक्त विषयों पर बहुत लेखकों ने लगातार लिखा है। एक बात स्पष्ट होकर उभरती है कि लेखक कथ्य और फॉर्मेट दोनों में प्रयोग करने में झिझक नहीं रहे। इसके अलावा जो महत्त्वपूर्ण बात रही कि लेखक आज सिर्फ शहरों या बड़े शहरों से ही नहीं बल्कि दूर दराज के ग्रामीण इलाकों से भी बहुतायत लिख रहे हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल के छोटे कस्बों और गावों से लगातार कहानियाँ लिखी जाती रही हैं. स्वाभाविक है कि हिंदी कहानी लेखन में विस्तृत सामाजिक संचेतना मौजूद होगी।

पिछले दिनों लगातार लिखने वालों में जयश्री रॉय और स्नोवा बार्नो ने काफी प्रभावित किया। कविता कहानियाँ स्त्री को चयन की स्वतंत्रता जैसे विषयों को प्रभावशाली तरीके से दर्ज करती हैं। जयश्री रॉय रोज मर्रा की जिंदगी से जुड़े विषयों पर लिखती रही हैं जिसने पाठकों को बहुत आकर्षित किया. स्नोवा बार्नो की 2010 –12 के अरसे में लिखी कहानियां काफी चर्चा में रहीं। इनकी कहानियां खुद लेखक के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हैं और सम्बन्धों की आध्यात्मिक बारीकियों को छूती हुई नजर आती हैं। हिंदी लेखन की सबसे बड़ी उपलब्धि युवा लेखक रहे हैं। इन लेखकों ने आम आदमी की जिंदगी से जुड़े विषयों पर कहानियाँ लिखीं हैं जिन्होंने पाठकों को गहनता से हिंदी साहित्य से जोड़े रखा। छोटे शहरों से निकलने वाली कई कहानी पत्रिकाओं ने इन नए लेखकों को प्रोत्साहित किया है और साथ साथ हिंदी कहानी लेखन को ग्रामीण परिवेश, खेतों, मजदूरों से भी जोड़ रखा है।

वैसे तो मेरे द्वारा पढ़ी कहानियों में 5 या 10 सबसे अच्छी कहानियों की सूची बनाना बहुत मुश्किल काम है क्योंकि लम्बे समय के बाद पत्रिकाओं में पढ़ी कहानियों का नाम और लेखक याद रखना बहुत मुश्किल है। फिर भी कुछ का नाम लेना चाहूंगा जो खासकर विद्‌यार्थी जीवन में मैंने पढ़ी थीं। प्रेमचंद की ईदगाह, नमक का दरोगा, कफ़न, निर्मल वर्मा की परिंदे, अज्ञेय की जयदोल, जयशंकर प्रसाद की आकाशदीप, अमृता प्रीतम की चक नंबर 36, गुलेरी की उसने कहा था, मुक्तिबोध की सतह से उठता आदमी,मन्नू भंडारी की यही सच है, इस्मत चुगताई की लिहाफ दिमाग के कोने में कही बस गईं हैं।

पिछले तीन–चार दशक में सारिका, कादम्बिनी, हंस, नया ज्ञानोदय, इंद्रप्रस्थ भारती और परिकथा जैसी अन्य कहानी पत्रिकाओं ने अत्यंत बहुमूल्य हिंदी कहानियां दी हैं जो जिंदगी और समाज के विभिन्न पहलुओं से हमें जोड़ती हैं। अच्छी, सामान्य और ख़राब कहानियाँ मिलती रही हैं और उम्मीद है मिलती रहेंगी। एक कमी जो खलती रही है वह बढ़ते सम्प्रदायवाद की तरफ शायद लेखकों का कम ध्यान गया है। देश औए समाज के लिये इस बढ़ते खतरे पर कहानी लेखन में हमें ध्यान देने की जरुरत लगती है।

आई पी एस,
bungalow No.28,
Daffnala, Shahibaug,
Ahmedabad 380004

कलावंती सिंह

कैसी कहानी पढ़ना चाहते हैं पाठक ?

कहानी से क्या चाहते हैं पाठक? कहानी से मनोरंजन हो,कहानी शिक्षा दे, कहानी जीवन के अनसुलझे सवालों को सुलझा दे या सुलझाने के सूत्र दे। हमें ऐसी दुनिया में ले जाए कहानी, जहां हम यथार्थ से दूर एक आरामदेह कोना तलाश लें या ऐसे यथार्थ के दर्शन करा दे जहां तक हमारी नज़र पहुँचती ही न हो। कभी परेशानी या दुख भरे समय में कहानी हमें माँ की गोद की तरह थोड़े समय के लिए शरण देती है जहां हम अच्छा अनुभव करते हैं। कई बार कभी पढ़ी गई कहानी के सूत्र हमें अचानक ही जिंदगी में आई किसी उलझन का समाधान कर देते हैं। कहानी से कई बार हमें अपने भूत, वर्तमान और भविष्य को जानने समझने में मदद मिलती है। वे हमारी नैतिकता को पोषित कर हमें मॉरल सपोर्ट भी देती हैं। वे अंतत हमें एक अच्छा इंसान बनने में मदद करे। यह मैं एक पाठक के नाते कहानी से जरूर चाहती हूँ। हिन्दी के पास कहानियों का विपुल साहित्य है। सरल सीधी जिंदगी से जुड़ी कहानियों से लेकर चमत्कारिक, रहस्मयी, ऐयारी वाली कहानियाँ। इस बीच कुछ हिन्दी पत्रिकाओं ने रहस्य रोमांच वाले विशेषांक भी निकाले हैं। जीवन से मिले अपने-अपने तरह के अनुभवों, परवरिश, परिवेश और लेखक की संवेदना से निकल कागज पर मुक्कमल होती है कहानी। फिर यह कहानी विभिन्न संचार माध्यमों से होकर पाठकों तक पहुँचती है। अलग अलग तरह की कहानियों का अलग अलग पाठक वर्ग भी है। बहुत सारी पत्रिकाओं, वेब पत्रिकाओं,ब्लॉग मिलकर आज के लेखकों को बड़ा मौका देते हैं बहुत सारे पाठकों तक पहुँचने का। पाठक चाहता है कि कहानियाँ उन्हें दूसरे मनुष्य और उसके परिवेश उसके संस्कारों को समझने में मदद करे। उसकी चेतना को विकसित करे। उसकी आत्मा को झकझोरे और उसे एक संवेदनशील मनुष्य बनाए। उसे राह दिखाये। महान कथाकार प्रेमचंद की वह बात आज भी प्रासंगिक है कि साहित्य का काम समाज के आगे आगे मशाल लेकर चलने का है। मैं खुद एक पाठक रही हूँ

करीब पिछले तीस बरसों से रोज कुछ न कुछ पढ़ना मेरी दिनचर्या है। कहानियाँ पढ़ने की उम्र से बहुत पहले, बचपन में रोज अपनी बड़ी माँ से कहानियाँ सुनने की आदत रही। कहानियों में सतत जिज्ञासा होनी चाहिए। कहानी ऐसी हो जो पाठक को बांधे रखे। उसके बाद ? फिर क्या होगा उसके बाद ? यह प्रश्न निरंतर बना रहे । एक पाठक के तौर पर मेरी अपेक्षा होती है कि मैं भिन्न भिन्न भाषाओं की हिन्दी में अनूदित कहानियाँ पढ़ सकूँ ताकि वहाँ के समाज और परिवेश को जानने में मुझे मदद मिले। मेरी जानकारी बढ़े। मैं अपने अनुभवों को उन कहानियों से रिलेट कर सकूँ । मुझे एक पाठक के रूप में तब बड़ा अच्छा लगता है जब मैं कहानियों में अपने आस पास की जीवनस्थितियों को शब्दों की शक्ल में देख पाती हूँ। कई बार कहानियाँ जीवन मूल्यों को बचाने का काम करती हैं। बचपन में विक्रम बैताल, पंचतंत्र ,की कहानियों से बहुत कुछ सीखा। चंदामामा, चम्पक, नन्दन पढ़कर हमारी पीढ़ी जवान हुई। रामायण को हम दोहा या कविता के रूप में जानते हैं पर वहाँ भी तो एक कहानी ही है। कहानी से मुझे अपेक्षा रहती है कि वह जीवन के क्रूरतम अनुभवों को चित्रित तो करे पर अंतत उसमें सकारात्मक जीवन संदेश हों। अंधेरा दिखाये पर उजाला बताए।

मुझे यह देखकर बहुत अच्छा लगता है कि समकालीन लेखन का एक बड़ा भाग स्त्रियों द्वारा रचा जा रहा है जिनमें बहुत बेबाक ढंग से वे अपनी बात कह पा रही हैं। इनमें से बहुत सी लेखिकाएँ आत्मनिर्भर हैं। यह एक बड़ी वजह हो सकती है कि वे अपनी बात खुलकर कहने का साहस कर रही हैं। अब तक पुरुष लेखकों द्वारा उनकी बात कही गई। आज वे खुद अपनी बात कह रही हैं। संवेदना के वे तमाम तन्तु उनकी कहानियों में दिखाई पड़ रहे हैं, जो अबतक अनदेखे रह गए। उनके खुद के जीवन अनुभव,उनकी पूर्ववर्ती पीढ़ियों के अनुभव, वे सब लिख रही हैं। उनके अनुभव से ज्यादा उनकी बेबाकी हमें चौंका रही है। उनका लेखन एक नई स्त्री से हमारा परिचय करवा रहा है। वे महानगर की स्त्रियों का जीवन लिख रही हैं वे छोटे शहरों के स्त्रियों को भी लिख रही हैं। वे गाँव में छूट आई बुआ , चाची, माँ का जीवन भी वे देख लिख रही हैं। बहुत बड़ी तादाद में महिलाएं मुखर हुई हैं। स्त्री सशक्तिकरण के नाम पर कुछ वे नैतिकता कि नई परिभाषाएँ गढ़ रही हैं। वे अपना संविधान खुद बना रही हैं। मैं इन्हें बहादुर स्त्रियाँ कहूँगी, जिन्हें अपनी बात कहने में किसी से डर नहीं लगता। ना इस पितृ सत्तात्मक समाज से, ना ही अनैतिकता का हल्ला मचानेवाले अनिद्य आलोचकों से। वे अपने कार्यजगत के अनुभव लिख रही हैं, परिवार में अपनी बदलती हुई स्थिति के अनुभव लिख रही हैं। समाज और परिवार से अपनी अपेक्षाओं की बात लिख रही हैं। वे एक नया समाज गढ़ रही हैं वे एक नया समाज रच रही हैं। उनमें और सब है, कातरता गायब है, जिसे हमारा समाज देखने का आदी रहा है। उनका परिवार उनका साथी पुरुष भी बदला है और बहुत हद तक उन्हें उनका स्पेस मिल रहा है। वे रच रही हैं और उनका रचा, नई पीढ़ी को रच रहा है उन्हें ज्यादा आज़ादी दे रहा है।

टी 32, बी नॉर्थ रेलवे कालोनी,
रांची 834001 झारखंड
मो. – 09771484961

प्रमोद कुमार तिवारी

कहानी से कुछ गप्पें

विश्व की प्राचीनतम कहानियों की संपादित पुस्तक 'कथा संस्कृति' की भूमिका में कमलेश्वरजी कहते हैं कि

''विश्व की समस्त अर्वाचीन, लुप्त-विलुप्त और प्राचीनतम सभ्यताओं के नीचे से यदि कहानियों के आधार स्तम्भ हटा दिए जाएँ तो सारी सभ्यताएँ भरभराकर कच्ची मिट्टी की तरह गिर पड़ेंगी।''

इसी प्रकार किस्सागोई को व्यवसाय से जोड़नेवाले माइकल मारगोलिस कहते हैं- ''हम जो कहानियां सुनते-सुनाते हैं वास्तव में उनसे दुनिया बनती है। अगर आप दुनिया बदलना चाहते हैं तो आपको कहानी को बदलना होगा। यह बात व्यक्ति और संस्था दोनों पर लागू होती है।''

क्या सच में कहानी इतनी महत्त्वपूर्ण होती है ? क्या सच में हम जैसी कहानियों के बीच रहते हैं वैसे ही हो जाते हैं ? क्योंकि सच में हमें रामायण, महाभारत, जातक कथाओं, वृहत्त कथाओं, पंचतंत्र आदि ने बनाया है ? क्या पंचतंत्रों की फैंटेसी ने हमारे यथार्थ का निर्माण किया है ?

ऐसा क्या कर देती है कहानी ? इतनी महत्त्वपूर्ण क्यों है कहानी ? बचपन से ही एक आत्मीय संगी और स्नेहिल गुरु की तरह कहानी क्यों जुड़ जाती है ? कहानी पर बात करते समय ऐसे कई सवाल मन में घुमड़ने लगते हैं। मसलन, कहानी क्या है ?

कहानी कब से है ? कहानी इतनी लोकप्रिय क्यों है ? कहानी इतनी महत्त्वपूर्ण क्यों है ? कहानी क्या केवल कहानी में ही होती है या दूसरी विधाओं में भी यह रची, बसी, छुपी होती है ? यानी कविता में, आलोचना में, निबंध में, यात्रा वृतांत, संस्मरण आदि में यह कितनी होती है ? उपन्यास, नाटक, महाकाव्य, आदि में तो यह होती ही है। कुल मिलाकर मुद्दा ये कि कहानी में कहानीपन कहां से आता है ? कहानी हमें मज़ा क्यों

देती है ? कहानी में रोचकता का मूल उत्स क्या है ? कहानी में ऐसा क्या है जो उसे विभिन्न आयुवर्गों का आत्मीय बना देता है ? वह क्या है जो कहानी को विभिन्न समयों, विभिन्न देशों तक की यात्रा करा देता है ? कहानी का समय और इतिहास से क्या रिश्ता है ? आदि-आदि।

इतना तो तय है कि कहानी में 'समय' होता है। 'एक राजा था, एक समय की बात है, बहुत पहले एक लकड़हारा था या एक बार ऐसा हुआ।' जैसे वाक्य समय का संकेत देते हैं और उसमें भी अक्सर व्यक्ति को पकड़ते हैं। 'कहानी में समय होता है' की जगह क्या यह कहना गलत होगा कि 'समय में कहानी होती है ?' हर कहानी वास्तव में अपने समय और उसकी प्रवृत्तियों को पकड़ने की कोशिश ही तो करती है। या फिर यह भी तो कह सकते हैं कि कहानी समय के बंधन से मुक्त करने की कोशिश करती है। उपरोक्त वाक्यों में समय है पर निश्चित नहीं, 'एक राजा' या 'एक बार की बात' किसी भी राजा किसी भी समय की बात हो सकती है। कहानी चीजों को बांधती नहीं खुला छोड़ देती है, यह निश्चित को अनिश्चित में घंघोल देती है, बंधे-बंधाए इतिहास को तिथियों और नामों के पगहे से मुक्त कर खुले आकाश में उड़ान भरने के लिए पंख दे देती है। यह समय तक को तरल बना कर छूट देती है कि बुद्ध के समय में 21वीं सदी का पाठक डुबकी लगा ले या 'थेरीगाथा' के बहाने हजारों साल पुरानी स्त्रियों से आज की नवयौवना बतिया ले।

कहानी लुका-छुपी का खेल खेलती है, नये-नये स्वांग भरती है। अक्सर जब बच्चे कहानी सुनने की जिद कर रहे हों और सुनानेवाली का मूड बिलकुल न हो तो वह एक कहानी सुनाती है-

एक था राजा, एक थी रानी। दोनों मर गए खतम कहानी।

क्या सच में कहानी खत्म होती है। या कि कहानी न शुरू होती है न खत्म, बस चलती रहती है, जीवन की तरह, समय की तरह, नदी की तरह। अलग-अलग कहानीकार आते हैं, जाते हैं, पहले से बह रही कहानीरूपी नदी में से कुछ अंजुली जल निकाल लेते हैं, उसमें कुछ अंजुली अपना मिला देते हैं। कहानी अपनी रौ में बहती रहती है। इसी बात को बढ़ाते हुए यह भी कहा जा सकता है कि कोई भी कहानी न तो एक व्यक्ति कहता है, न कोई अकेले उसे सुनता है। हर कहानी वास्तव में एक भरा-पूरा समाज कह रहा होता है और उसे भरे-पूरे समाज का एक अंश सुन रहा होता है। इस कहने-सुनने का माध्यम भाषा होती है, चूंकि भाषा एक सामाजिक संरचना है और कहानी समाज में ही जन्म लेती है सो वह भाषा से मुक्त नहीं हो सकती। शायद यह भी कहा जा सकता है कि भाषा भी एक तरह की कविता या कहानी है। भाषा भी अपने मन की कहने-सुनाने की कुलबुलाहट और अपने अनुभवों को दूसरों तक ज्यादा से ज्यादा मात्रा में पहुँचा पाने की बेचैनी से पैदा हुई होगी। भाषा के मूल में नैरेशन है, इसीलिए भाषा को एक बहुत बड़ी कहानी या तमाम कहानियों का समुच्चय कहा जा सकता है। एक शब्द या कोई नाम लेते ही हमारे मन में तमाम कहानियां सक्रिय हो जाती हैं। वह शब्द मां, राजा, दासी या इंद्र या राम कुछ भी हो सकता है। और इन शब्दों से अलग-अलग व्यक्तियों के मन में उनके संस्कारों और परिवेश के अनुसार अलग-अलग कहानियां गूंजने लगती हैं। कहानीकार (जिसकी कल्पना अक्सर मैं स्त्री रूप में करता हूं) इन शब्दों या संज्ञाओं में निहित छोटी-छोटी कहानियों को जोड़कर एक नयी कहानी बना देती है। इस प्रकार भाषा और कहानी एक दूसरे को थामे हुए यात्रा करते रहते हैं और इस यात्रा को नया मानी देने का काम, इनके पुराने मानी में कुछ जोड़ने-घटाने का काम समाज, समुदाय या संस्कृति विशेष और उसके रचनाकार अपने ढंग से करते रहते हैं। समाज अपने ढंग से जादू कथाओं, मिथकों, पुराणों, इतिहासों आदि को नया संदर्भ और जीवन देता चलता है।

हिस्ट्री (History) में अंतर्निहित स्टोरी को छोड़ भी दें तो अंग्रेजी में कहानी के लिए दो रोचक शब्द मिलते हैं एक- नैरेटिव (Narrative), इसका अर्थ ही है संबंध बनाना, कुछ कहना, या सुनाना। दूसरा है 'यार्न'(Yarn) जिसका मतलब है धागा या कोई सूत्र। कहानी किसी सूत्र के एक सिरे को पकड़ती है और उसका सिरा किसी और को पकड़ाती है। यह 'कोई और' खुद कहानीकार भी हो सकता है। पहली कहानी तो हमारे भीतर ही जन्म लेती है, उसके पहले किस्सागो और पहले श्रोता भी हम ही होते हैं। निश्चित रूप से वह कहानी केवल हमारी नहीं होती, ठीक वैसे ही जैसे भाषा, शब्द और उसके अर्थ या मुहावरे केवल हमारे नहीं होते। इसे व्यक्ति और समाज दोनों मिलकर गढ़ते हैं। हम खुद को कहानी सुनाते समय हजारों कहानियों के साथ संवाद कर रहे होते हैं, पूर्व की कहानियों के साथ अंत:क्रिया कर रहे होते

हैं। इस सूत्र को पकड़ने के लिए भोजपुरी एवं अन्य भाषाओं के इलाके में सुनायी जानेवाली चर्चित गीतकथा का उदाहरण ले सकते हैं जिसे मैंने भी मां की सुरीली आवाज में बार बार सुना था –

बढ़ई-बढ़ई,खूंटा चीरऽ खूंटा में मोर दाल बा
का खाईं का पीहीं का ले के परदेस जाईं
राजा-राजा तू बढ़ई डांटऽ बढ़ई न खूंटा चीरे
खूंटा में मोर दाल बा का खाईं का पीहीं का ले के परदेस जाईं

इसी प्रकार चिड़िया बारी बारी से रानी, सांप, लाठी, आग, सागर आदि के पास जाती है और कोई मदद नहीं करता अंत में सूरज सागर को सोखने के लिए तैयार होता है और फिर बारी-बारी से सब तैयार होते जाते हैं। इसमें कई सूत्र देखे जा सकते हैं, एक सूत्र इसके पात्रों के पदक्रम का है, एक सूत्र दाल के एक दाने के महत्त्व का है, एक सूत्र कहानी को कविता और कविता को कहानी बनानेवाला भी है आदि आदि ....। कोई चाहे तो एक सूत्र भोजपुरी इलाके से होनेवाले प्रवासन से जोड़ सकता है, बिदेसिया के तर्ज पर चिंरई परदेस जाना चाह रही है। जिस प्रकार कोई धागा या रस्सी अनेक महीन रेशों से बनी होती है उसी प्रकार कहानी के इन सूत्रों में भी विचार और संस्कृति के अनेक महीन रेशे तलाशे जा सकते हैं।

हिन्दी और इसके पास की भाषाओं में कहानी के लिए कथा, कहानी, गल्प, आख्यान, उपाख्यान, वृत्त, इतिवृत्त, कादम्बरी, गाथा, वार्ता जैसे नाम थोड़े भिन्न अर्थों के साथ चलते रहे हैं। सूत्र जोड़ने, कहने, गप्प हांकने, बात में से बात निकालने, संबंध जोड़ने यानी नैरेटिव वाला तत्व लगभग इन सभी नामों में विद्यमान है। दरअसल कहानी का सीधा संबंध मौखिक भाषा से जुड़ता है। क्योंकि ज्यादातर भाषाएं और कहानियां लिपि के आविष्कार से पहले से चली आ रही हैं। कहानी कही और सुनी जाती थी इसीलिए कहन का अंदाज या दास्तानगोई इसे खास बनाती है। कहानी को गल्प (बांग्ला में) या गप्प कहना इस बात को बताता है कि इसका एक ओर बोलने से और दूसरी ओर कल्पना से बहुत गहरा रिश्ता है। पर गल्प या कल्पना का तात्पर्य हवा-हवाई नहीं होता कल्पना के लिए भी यथार्थ की जमीन जरूरी होती है इसीलिए गप्प होते हुए भी कहानी का एक पाँव कहीं न कहीं जमीन को छूता नजर आता है। इस गप्पी को हम चाहें तो झूठा कह सकते हैं। झूठ शब्द कुछ खास अर्थों में रूढ़ हो गया है वरना यह इतना भी बुरा काम नहीं है। अगर झूठ में कोई निजी स्वार्थ न हो तो यह खासा रचनात्मक होता है। असल में बिना सच के झूठ बोला ही नहीं जा सकता। झूठ बोलने के लिए भाषा चाहिए और साथ ही कुछ सच्ची घटनाएं चाहिए। जबतक ये दोनों न होंगे झूठ भी नहीं होगा, यह बात कहानी पर भी लागू होती है। गल्प अथवा गप्प में स्वार्थ का तत्व नहीं होता, बल्कि कुछ घटनाओं के बहाने इसमें कल्पना की उड़ान होती है। और इस उड़ान में एक खास तरह की सूत्रात्मकता होती है।

इस सूत्रात्मकता को या संबंध जोड़ने की क्षमता को कहानी के मूल तत्वों में से एक माना जा सकता है। इसे हम कहानी का ही नहीं सृजनात्मकता का भी मूल तत्व कह सकते हैं। किसी वस्तु का संबंध कितने प्रकार से कितनी चीजों से जोड़ा जा सकता है, किस प्रकार पिंड में ब्रह्मांड समोया जा सकता है या तिल का ताड़ बनाया जा सकता है इसी से सृजनात्मकता का पता चलता है। उदाहरण लेकर बात करूं तो प्राचीन महाकाव्यों, जातक कथाओं और पौराणिक कहानियों में गजब की सूत्रबद्धता मिलती है। तमाम प्रकार के रिश्तों और संबंधों के इन धागों के सिरे इतनी दूर तक पहुंच जाते हैं कि इनकी व्यवस्था को देखकर कई बार आश्चर्य होता है। किस जन्म में कौन क्या था, उनकी इच्छाएं-आकांक्षाएं क्या थीं और वे कैसे फलित हुईं, किसके शाप या वरदान से अगले जन्म में कौन क्या बना, फिर उसकी पीढ़ियां कैसे आगे बढ़ीं। इन सूत्रों को संभालना और इनके बीच एक कार्य-कारण संबंध निर्मित कर इन्हें एक तार्किक आधार देना मामूली काम नहीं है। यह यूं ही नहीं है कि भारत में सैकड़ों की संख्या में रामायण-महाभारत मिल जाते हैं और इन कथाओं पर बार-बार कलम चलानेवाले सैकड़ों लेखक आज भी मिल जाएंगे। यह मामला केवल कहानी कहने का नहीं है, इन कहानियों को सदियों तक, पीढ़ियों तक अनवरत गतिमान रखने का भी है। तमाम तरह की भिन्नताओं के बावजूद एक खास तरह की अविरल अंत:संबद्धता और अंत:सूत्रता का भी है। इनमें निहित व्यक्ति और समाज के बीच की अनवरत द्वंद्वात्मकता का भी है।

दरअसल थोड़ा आगे बढ़ कर बात करें तो हमारे जीवन में दो चीजें बहुत महत्त्व रखती हैं एक, स्मृति और दूसरी कल्पना। बल्कि एक स्तर पर तो मेरा ये कहने का मन होता है कि इन दोनों में इतना गहरा रिश्ता है कि इन्हें एक ही

कहा जा सकता है। जिसके पास कोई स्मृति न हो वह कल्पना कैसे कर सकता है। भाषा और कहानी स्मृति को जीवन देते हैं और स्मृति कल्पना को जमीन देती है। इस प्रकार स्मृति और कल्पना एक ही धरातल पर खड़े होते हैं। स्मृति सबसे ज्यादा भाषा में निवास करती है परंतु यह स्थिर नहीं होती। सदियों पुरानी भाषा, कहानी और स्मृति आपस में मिलकर एक खास तरह के स्पेस का निर्माण करती हैं। एक ऐसा स्पेस जिसमें अतीत और भविष्य, कल्पना और यथार्थ, भाव और विचार, सच और झूठ आपस में इस तरह घुले-मिले होते हैं कि इनके बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती और अगर खींच भी दी जाए तो उससे कुछ खास बनने बिगड़नेवाला नहीं होता। कहानी द्वारा निर्मित यह अवकाश (स्पेस) ऐसा होता है जिसमें आकर कटु यथार्थ मृदु बन जाता है, तपता हुआ कठोर सच, कोमल किंतु सार्थक झूठ से स्थानांतरित हो जाता है। कहानी एक जादू रचती है जिसमें आप वर्तमान में रहते हुए भी अतीत और भविष्य में जा सकते हैं, धरती पर रहते हुए भी नभ में, जल में या किसी दूर स्थान की यात्रा कर सकते हैं। इस जादू को रचनेवाला जादूगर यानी कहानीकार एक ऐसे वातावरण का निर्माण करता है जिसमें सब कुछ संभव है। इस माध्यम का लचीलापन इसे खास ताकत देता है जिससे किसिम-किसिम की कहानी बन जाती है। आज का अत्यंत लोकप्रिय जनमाध्यम फिल्म भी वस्तुत: एक कहानी ही तो है जो बाइस्कोप से बढ़ते-बढ़ते एनिमेशन और थ्री डी, फोर डी तक पहुंच गया है। पहले भी कथाकार जादू रचता था अब उसे कैमरे और तकनीक का सहारा मिल गया है। कहानी रूपी फिल्म केवल कथाकार के दिमाग में चला करती है, सिनेमा के रूप में उसे दर्शक की आंखों के सामने रखा जा सकता है। परंतु कहानी एक छूट देती है, वह पाठकों की कल्पना के लिए बहुत कुछ छोड़ देती है, यह छोड़ देना सबकुछ दिखा देने से ज्यादा महत्त्वपूर्ण होता है। यह छोड़ देना कई नयी कहानियों के लिए, नये चरित्रों के लिए संभावनाएं पैदा करता है। यही नहीं, सुनायी जानेवाली कहानी में किस्सागो, पाठक की मन:स्थिति और अपने मूड के अनुसार हर बार कुछ दृश्य बदल देता है। कहानी वही होकर भी वही नहीं रह जाती है, ठीक वैसे ही जैसे शास्त्रीय गायक एक ही राग हर बार अलग ढंग से गाता है, राग के सुर वही होते हैं परंतु उनमें एक नयी बात पैदा हो जाती है, ठीक वैसे ही जैसे एक जैसे ही पदार्थों से बना भोजन हर बार अलग स्वाद देता है।

शायद इसी लचीलेपन के कारण कहानी को साहित्य का सबसे स्वाभाविक और अत्यधिक स्वच्छंद रूप माना जाता है। कहानी का यह बहुरूपिया स्वभाव इसकी सबसे बड़ी ताकत है इसीलिए यह तमाम विधाओं का रूप धर लेती है। यह श्रोता, समय और किस्सागो की प्रकृति के अनुसार कविता, नाटक, संस्मरण, सिनेमा, उपन्यास, गीत आदि बन जाती हैं। मूलत: कहानी गीली मिट्टी की तरह होती है जिसे अनंत रूप दिया जा सकता है, इसमें दृष्टांत, चुटकुले, मजाक से लेकर जीवन के गंभीरतम पक्ष तक सब घुले-मिले होते हैं। दरअसल हममें से प्रत्येक व्यक्ति रोज हजारों-लाखों कहानियों के बीच से गुजरता है। इन्हीं घटनाओं, सूचनाओं और दृश्यों को अपने अनुभवों, कल्पनाओं और स्मृतियों से जोड़कर वह एक ऐसा रूप दे देता है जो परिचित होते हुए भी कुछ अनचीन्हा-सा, पुराना होते हुए भी कुछ टटका-सा और काल्पनिक होते हुए भी कुछ प्रत्यक्ष-सा लगने लगता है और हम कहते हैं कि ये तो बड़ी अच्छी कहानी है।

हमारे मिथक, हमारी स्मृति, हमारे ज्ञान व्यापार, वर्तमान घटनाओं पर हमारी प्रतिक्रियाएं ये सब एक विशाल कहानी के अंश है, इन्हीं अर्थों में शेक्सपीयर इस दुनिया को रंगमंच कहते हैं। हजारों सालों से इस रंगमंच की अनंत पटकथाएँ लिखी जा रही हैं, हम सब उस पटकथा में लगातार कुछ जोड़ते-घटाते रहते हैं। हमारा वजूद इन्हीं कहानियों पर है। हम कहानी में हैं और कहानी हममें है। हम हैं, इसलिए कहानी है; कहानी है, इसलिए हम हैं। इसीलिए जब शास्त्र विकसित नहीं हुए थे तब भी कहानी थी।

एक सीधा सा सवाल हो सकता है कि हमें कहानी क्यों अच्छी लगती है सवाल का जवाब इस सवाल से जुड़ता है कि कहानी कैसे बनती है ? कहानी कैसे का सीधा जवाब देना थोड़ा टेढ़ा काम है। कुछ चीजें हमारे इतने करीब होती हैं कि हम उन्हें महसूस तो कर सकते हैं, उसे बना के दिखा भी सकते हैं पर जो वह है उसकी सही-सही व्याख्या नहीं कर सकते। हम सामान्य ढंग से कह सकते हैं कि कहानी कुछ तत्वों से बनती है परंतु वह केंद्रीय तत्व क्या है जो कहानी को कहानी बनाता है ? सीधा सा जवाब हो सकता है 'जीवन'। कहानी उतनी ही कहानी है जितना उसमें जीवन है। कहानी एक तरह की यात्रा है ठीक वैसे ही जैसे हमारा जीवन एक यात्रा है। जिस प्रकार सरल से सरल जीवन भी तमाम घटनाओं से भरा होता है उसी प्रकार कहानी की यह यात्रा भी सपाट, शांत या बाधाहीन यात्रा नहीं बल्कि हलचल और संघर्षों से

भरी यात्रा है। यह संघर्ष या द्वंद्व कहानी को महत्त्वपूर्ण बनाता है। चूंकि जीवन से बड़ा संघर्ष नहीं इसीलिए जीवन से बड़ी कोई कहानी भी नहीं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए हम प्रेमचंद की मशहूर कहानी 'दो बैलों की कथा' का उदाहरण ले सकते हैं।

कल्पना करें कि झूरी के दोनों प्यारे बैल हीरा और मोती हमेशा झूरी के ही घर पर रहते। अच्छा खाते, सबका स्नेह पाते और खूब मेहनत से खेतों में काम करते और कहानी उनके बूढ़े होने और मरने के साथ खत्म हो जाती। न तो बैलों को झूरी की पत्नी की अवहेलना सहनी पड़ती, न उन्हें भूखा रहना पड़ता, न सांड़ से उनकी मुठभेड़ होती और न ही उन्हें कांजी हाउस में बंद होना पड़ता। क्या तब भी हमें ये कहानी अच्छी लगती। असल में कहानी में हम अपने संघर्षों और सपनों को खोजते हैं और कहानी के नायक की विजय में अपनी विजय देखते हैं। कहानी उतनी ही बड़ी होती है जितना बड़ा और जितना बहुआयामी संघर्ष होता है। यह संघर्ष आंतरिक भी हो सकता है और बाह्य भी। कहानी के सबसे चर्चित एवं प्रिय पात्र वास्तव में सबसे ज्यादा संघर्ष करनेवाले या सबसे ज्यादा त्रासदी झेलनेवाले पात्र होते हैं। सावित्री, सीता से लेकर कर्ण, घटोत्कच, बुद्ध, गांधी, अंबेडकर तक की सार्थकता इनके संघर्ष और इनके जीवन की विडंबनाओं में निहित है। केवल इन चरित्रों के ही नहीं हममें से प्रत्येक के जीवन में वे सारे तत्त्व होते हैं जिन्हें हम कहानी के तत्त्वों के रूप में रेखांकित करते हैं। उसे चाहे जो नाम दें, पात्र, कथोपकथन, संवाद, नाटकीयता, चरम उत्कर्ष आदि-आदि पर मूल तत्त्व तो परिस्थितियों का टकराव ही है। इन्हीं के कारण कहानी चकित करती है। आगे क्या होगा, फिर क्या हुआ उसके बाद, नयी परिस्थिति से पात्र कैसे निपटा। यह कुतूहल भाव, यह रोमांच, पाठक या श्रोता को कहानी से जोड़ता है। कहानी हमारे भीतर निहित विस्मय और कुतूहल भाव का उपयोग करती है। घटनाओं के घात-प्रतिघात, उठा-पटक, साजिश, सहयोग, नाटकीयता से श्रोता या पाठक ऊर्जा प्राप्त करते हैं और इससे उनकी संवेदना और अनुभूति निखरती है। यही कारण है कि प्रारंभ में बच्चों को जादूगर की, परियों की, चांद तारों की, अज्ञात की, कहानियां ज्यादा आकर्षित करती हैं। रहस्य और रोमांच की कहानियों से लगाव का भी यही कारण है। इस प्रकार, कहानियां बिना जीवन को जीये हमारा उससे परिचय करा कर हमारी समझ का विकास करती हैं। ये हमें समाज अथवा इतिहास के बारे में महत्त्व पूर्ण सूचनाएं देती हैं। यही नहीं इनका अंतर्पाठीय अध्ययन कहानी कहने-सुननेवाले की भी पोल खोल देता है उनकी रूढ़ मान्यताओं, पक्षपातों, पुराने मूल्यों और पूर्वग्रहों के बारे में सहज ढंग से हमें बता देता है। राजकुमारी अपनी मुक्ति के लिए किसी राजकुमार का इंतजार करती मिलती है। राजाओं को केवल या अधिकतर पुत्र ही पैदा होते हैं, पुरुष बहादुर, मजबूत और उदात्त गुणों से संपन्न होता है। कुछ जातियों यहां तक कि जानवरों की भी रूढ़ छवि का पुरानी कहानियों में प्रयोग होना उस समय और समाज की सोच बताता है।

कहानी एक तरह के खुलेपन का निर्माण करती है जिसमें एक ही कहानी को तमाम लोग अपने ढंग से व्यक्त कर सकते हैं। यानी कहानी सुनने और सुनाने के लिए अवकाश देती है। इसमें कल्पना शक्ति से तिल को पहाड़ बना देने की छूट होती है। प्रेमचंद या टालस्टाय की एक ही कहानी दो पेज से लेकर बीस पेज में मिल जाती है। यह छूट कविता जैसी विधाएं नहीं देतीं, उनमें वाक्य छोड़ने की कौन कहे शब्द का परिवर्तन भी अनर्थ कर देता है। यह कहानी की तरलता ही है कि 'शतरंज के खिलाड़ी' जैसी रचनाओं पर 5 मिनट से लेकर ढाई घंटे तक की फिल्म बन जाती है। एक ही कहानी विभिन्न भाषाओं में थोड़े बदले रूपों में मिल जाती है। पंचतंत्र की कथाएं चीन से लेकर अरब तक फैली हुई हैं। यह कहानी की संरचना का लचीलापन ही है जिसके कारण हम उसमें इतना कुछ जोड़ या घटा पाते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि कहानी अन्य विषयों और विधाओं की तुलना में पाठकों को सहज ढंग से मनोनुकूल अवकाश देती है। इसमें व्याकरण या छन्द का कठोर नियम नहीं होता, गणित के सूत्र या विज्ञान के कार्य-कारण संबंध वाली निश्चित बाध्यता नहीं होती। कहानी के पास हमेशा विकल्प मौजूद होता है जो केवल कथा कहनेवाले पर ही नहीं बल्कि श्रोता की मन:स्थिति के आधार पर भी बदल जाने की योग्यता रखता है।

छोटे आकार के कारण कहानी की गति तेज होती है। इसमें किसी एक पात्र पर ही फोकस होता है, अन्य पात्र बस उस मुख्य पात्र को सहारा देने के लिए आते हैं। जैसे ऊपर संदर्भित कहानी दो बैलों की कथा को लेकर आगे बढ़ती है। जब वे गया के घर से भागे थे तो वहां क्या हुआ या जिस सांड़ को उन्होंने सींग मारी थी उसका क्या हुआ, कांजी हाउस से जिन जानवरों को आजाद किया था उनका क्या

हुआ आदि बातों का जिक्र कहानी में नहीं है। कहानी किसी घटना की प्रक्रिया की जटिलता और उसके उपाख्यानों और उपकथावस्तुओं के विवरण की बजाय किसी घटना या अनुभव विशेष पर केंद्रित होती है। अगर संपूर्ण परिस्थितियों का लेखक वर्णन करने लगे तो फिर वह उपन्यास हो जाएगा।

आखिर में एक बात, कहानी कहां ख़त्म होती है? क्या कथा से मुक्ति मिल सकती है? क्या कथातीत जैसा कुछ होता है? अगर होगा तो कैसा होगा? जिस प्रकार हम शब्दातीत को पकड़ने की कोशिश करते हैं, अर्थ से परे जाने की कोशिश करते हैं क्या उसी प्रकार कथा से भी बाहर निकल सकते हैं? या फिर कथातीत होना समयातीत होना है। जीवन से, सुख दुख से परे हो जाना है। कहानी सुख-दुख में से कहां खत्म होती है? एक विद्वान ने कहा है कि अगर आप कहानी का सुखद अंत चाहते हैं तो यह इस बात पर निर्भर करेगा कि आप कहानी को कहां रोकते हैं। क्या इसी सुख की तलाश में ज्यादातर फिल्में, प्रेमियों के मिलन या खलनायक के अंत के साथ समाप्त हो जाती हैं या कहें समाप्त कर दी जाती हैं। फिर यह भी सवाल आएगा कि क्या दुख, जीवन का स्थायी भाव है? क्या मृत्यु ही अंतिम सत्य है इसलिए कहानी दुखांत या त्रासदी की ओर झुक जाती है? रामायण, महाभारत से लेकर ग्रीक महाकाव्यों तक ज्यादातर का दुखांत होना क्या इनके रचनाकारों की प्रौढ़ता का सूचक है? पांडव विजय या राम के राजतिलक के साथ कहानी रोकी जा सकती थी, फिर इनके मूल रचनाकारों ने इन्हें क्यों आगे बढ़ाया, पांडवों को बर्फ में गलाने या राम को सरयू में डुबोने की क्या जरूरत थी, इनके क्या निहितार्थ हैं?

सारे सवालों के जवाब कहां मिलते हैं, अगर मिल जाएं तो कहानी आगे कैसे बढ़ेगी?

सच्चाई तो यह है कि कहानी खत्म नहीं होती, वह रिले दौड़ की तरह बस अपना बेटन अगले कहानीकारों को पकड़ा देती है।

गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय
गांधीनगर- 382030
मो. 09228213554
pramodktiwari@gmail.com

अजय वर्मा

समकालीन कहानियों में राजनीतिक बोध

राजनीति सामाजिक विकास से जुड़ा हुआ विषय है। यह सीधे-सीधे मनुष्य जीवन की बुनियादी चिंताओं से जुड़ा है और सामाजिक संरचना में होने वाले क्षरण से इसका महत्त्व कभी कम नहीं होता। इसी प्रकार साहित्य भी मनुष्य -जीवन के सरोकारों से जुड़ा हुआ है और यह कहना कि साहित्य को राजनीति से बचकर चलना चाहिए इस बात की वकालत करना है कि साहित्य का काम सिर्फ मनोरंजन करना है जो लोग ऐसा मानते हैं उनके लिए भांड़ों की रचनाओं एवं गंभीर साहित्य में कोई फर्क नहीं होता। प्रेमचंद ने यह बहुत पहले स्पष्ट कर दिया था कि साहित्य राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई नहीं है बल्कि उसके आगे-आगे मशाल दिखाते हुए चलने वाली सच्चाई है।

ये बातें नई नहीं हैं लेकिन यहाँ इन्हें दुहराने के विशेष कारण हैं। पिछले कुछ दिनों में इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि साहित्य को राजनीति से दूर रहना चाहिए। यह बात न सिर्फ राजनीति से जुड़े लोगों की ओर से प्रचारित की जाती रही है बल्कि साहित्य में भी एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ है। इसके पास खेलने के लिए बड़ी खूबसूरत तराशी हुई भाषा है जो पाठक को चमत्कृत कर देती है और निश्चय ही कुछ समय के लिए सपाट राजनीतिक विवरणों से भरे उबा देने वाली रचनाओं के बनिस्बत पाठकों को एक ताजगी का अहसास हुआ हो मगर राजनीति से मुक्ति के इस अभियान में बहुत जल्दी मालूम पड़ गया कि जीवन कहीं छूट गया है। आज के दौर में भारतीय समाज जिस प्रकार के संकटों से गुजर रहा है उस संदर्भ में यह गंभीर विचार का विषय है कि साहित्य में राजनीति को लेकर किस प्रकार का बोध दिखता है। इसके लिए हमने कहानी की विधा को चुना है क्योंकि आज पाठकों के बीच इसने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है इसमें संदेह नहीं है।

यहाँ हमने चर्चा के लिए समकालीन कहानियों को विषय बनाया है और यह प्रश्न उठना सहज है कि समकालीनता की सीमा रेखा क्या होगी। सैद्धांतिक बहस में न जाते

हुए हम इतना ही निवेदन करना चाहेंगे कि कहानी कहने के और यथार्थ तथा कला को बरतने के तरीके में जहाँ से फर्क दिखलाई देने लगा वहीं से समकालीन की शुरूआत होती है और इसका पीढ़ियों के विभाजन से कोई मतलब नहीं है। फिर भी यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि इस दौर में जो कहानी के क्षेत्र में नई पीढ़ी आई उसमें राजनीतिक बोध को लेकर अरुचि का भाव दिखलाई देता है। मगर देखने की बात यह है कि अराजनीतिक होना भी एक बारीक किस्म की राजनीति का ही हिस्सा होता है। बहरहाल इस बहस में पड़ने का न तो मेरा कोई इरादा है न ही इस लेख की सीमा को देखते हुए इसकी कोई गुंजाइश यहाँ नजर आती है। काल के जिस हिस्से पर इस लेख को केंद्रित किया गया है उसमें एकाधिक पीढ़ियों के कहानीकार लेखनरत हैं और उनकी राजनीतिक दृष्टि बहुत साफ है, चाहे वह भारतीय लोकतांत्रिक राजनीति के ऐतिहासिक विकास को लेकर हो या विश्व बाजार के दौर की नव उपनिवेशवादी राजनीति को लेकर, इनमें कोई अंतरविरोध नहीं है। इस पर बात करने के लिए सबसे पहले उदयप्रकाश की कहानी 'मैंगोसिल' की चर्चा करने की जरूरत है। यह कहानी जिस समय प्रकाशित हुई थी वह वैश्विक पूंजी के प्रसार का दूसरा दौर था और इस समय तक यह स्पष्ट हो चुका था कि अमेरिकी पूंजीवाद के रथ के घोड़े पूरी तरह बेलगाम होकर तीसरी दुनिया को कुचलने के लिए दनदनाते फिरने लगे हैं और इसकी लगाम थामने के लिए अब कोई दूसरी दुनिया नहीं रह गई है। दुनिया भर में सारा फौजी चिंतन अमेरिका करता है और शांति से लेकर आतंक के खिलाफ युद्ध की परिभाषा भी वही तय करता है। युगोस्लाविया में होली बॉम्ब का नारा हो या अफगानिस्तान में आतंक के खिलाफ युद्ध अथवा इराक में विनाश ,इन सारी कार्रवाइयों को उसने शांति की स्थापना के नाम पर ही अंजाम दिया। वास्तव में ये कार्रवाइयां अमेरिकी साम्राज्यवाद के प्रसार के लिए थीं और इस पाखंड की कलई 'मैंगोसिल' का सूरी यह कहकर उतार देता है कि चूंकि वह दुनिया भर में हो रहे अमेरिकी दमन के बारे में बहुत कुछ जान गया है इसलिए उसका सिर बड़ा हो गया है। उदय प्रकाश कहते हैं कि पेंटागन की रिपोर्ट के मुताबिक इस समय सभी देशों की सरकारों को इन बड़े सिर वाले बच्चों पर निगाह रखनी पड़ेगी। सूरी ऐसा ही बच्चा है जिससे अमेरिकी साम्राज्यवाद के वैश्विक अभियान को खतरा है। साथ ही यह भी इस कहानी में कहा गया है कि दुनिया तेजी से बदल रही और दिल्ली भी बदल रही है। यानी उदयप्रकाश यह स्पष्ट कर देते हैं दुनिया अमेरिकी संकेतों के अनुसार बदल रही है और भारत भी वैश्विक पूंजी के इस खेल में शामिल हो चुका है तथा देश की सरकारों का काम अमेरिकी पूंजीवाद के अभियान को निष्कंटक बनाने में अपना योगदान देना भर रह गया है।

यह उल्लेखनीय है कि उदयप्रकाश के राजनीतिक सरोकार उनकी कहानियों में साफ दिख जाते हैं और उनके टोन में आवेग अधिक होता है जो थीम के प्रति अत्यधिक संलग्नता के कारण उत्पन्न होता है। इसका कारण है कि वे वर्णन में चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति के शिकार हैं। इसके बावजूद यह कहा जा सकता है कि इनकी संवेदना का स्तर सघन है इसलिए वर्णन छिछला नहीं मालूम पड़ता है। अपने अतिरिक्त आवेग को ये तराशी हुई भाषा और फंतासी के प्रयोग से यथार्थ की समझ पर हावी नहीं होने देते।

इस दौर की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय लोकतंत्र लगातार अपने जन सरोकारों से विलग होता गया है और लोकतंत्र के नाम पर एक नए किस्म के फासीवाद का उभार हुआ है जो अपनी किसी भी किस्म की आलोचना को देश के प्रति विद्रोह मानता है। राजनीतिक सत्ता देश का पर्याय मान ली गई है जिसके कुछ उदाहरण हाल के दिनों में देखने को मिल रहे हैं । यह बात किसी दल विशेष के संदर्भ में नहीं बल्कि सभी राजनीतिक दलों के लिए कही जा सकती है। राजनीतिक सत्ता अपने इर्द—गिर्द एक तिलिस्म रच लेती है जिसके भीतर का यथार्थ अदृश्य होता है। बाहर से जनतांत्रिक दिखाई देने वाला यह सत्ता तंत्र अंदर से बेहद क्रूर और जन विरोधी होता है। इस तिलिस्म को भेदकर इस तंत्र के यथार्थ को प्रत्यक्ष करने का काम अखिलेश अपनी कहानी 'श्रृंखला' में करते हैं। राजनीति के भाषिक संदर्भ की तलाश करने का यह बिलकुल अनूठा प्रयास है। अखिलेश वर्तमान राजनीतिक सत्ता तंत्र के रोजमर्रा के दांव-पेंच में सीमित होने के बजाय उसके भाषिक तंत्र को छिन्न -भिन्न करते हैं और इस प्रकार उसके पीछे की वास्तविकता को उजागर कर देते हैं। आज लोकतंत्र एक विराट लफ्फाजी का पर्याय बन गया है। राजनीतिक दल तानाशाही की हद तक आत्ममुग्ध हो गए हैं। अपने मूल सिद्धांतों को पीछे छोड़

चुकी राजनीति अपनी निरंकुश प्रवृत्ति पर पर्दा डालने के लिए कूट संरचना का निर्माण करती है और इसी का उदाहरण है नामों को संक्षिप्त करने की राजनीति। भाषा की राजनीति कितनी खतरनाक हो सकती है इसका अंदाजा इस कहानी के नायक रतन कुमार के कॉलम में कहे गए इस वाक्य से मिलता है — ''शब्दों के शॉर्ट फॉर्म दरअसल सत्य को छुपाने और उसे वर्चस्वशाली लोगों तक सीमित करने के उपाय होते हैं।''

रतन कुमार अपने अखबारी कॉलम में नामों के शॉर्ट फॉर्म को डी कोड करने का काम शुरू करता है और इस के माध्यम से वह सत्ता एवं प्रशासन के शीर्ष पर बैठे लोगों से लेकर राजनीतिक दलों तक के नामों की कूट संरचना को डी कोड करते हुए उसकी वास्तविकता को सामने लाता है। उसका कहना है कि किसी सत्ता से भिड़ने का कारगर तरीका है कि उसके समस्त सूत्रों, संकेतों, चिह्नों, व्यवहारों, रहस्यों, बिम्बों को उजागर कर दो। उसके इस अभियान से सत्ता में बैठे लोगों में खलबली मच जाती है और इसे लोकतंत्र के खिलाफ साजिश माना जाता है। तब शुरू होता है उसके मानसिक दमन का सिलसिला;जो अन्त तक जाते- जाते दैहिक दमन में बदल जाता है। और यह सब एक ऐसे रहस्यमय तरीके से घटित होता है कि उसे यह भी समझ में नहीं आता कि उसके शत्रु कौन हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार काफ्का के उपन्यास 'द ट्रायल' के जोसफ के. को मरने तक पता नहीं चलता है कि उसका अपराध क्या है। सत्ता अपने तिलिस्म को भेदने की कोशिश करने वाले का इसी प्रकार दमन करती है । सेना, पुलिस सत्ता के वे नुमाइंदे हैं जो ऐसी कोशिश करने वाले को नक्सली अथवा आतंकवादी बताकर उस पर जुल्म करते हैं और जुल्म के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं होती क्योंकि इसके शिकार के पास कोई सबूत नहीं होता। मिशेल फूको उचित कहते हैं कि सत्ता अपने अधीनस्थ के दमन में खुद को चरितार्थ करती है।

इस कहानी में अखिलेश यह व्यक्त करते हैं कि धन, भ्रष्टाचार और निरंकुशता आज की राजनीति की विशेषताएं हैं और इनको छिपाने के लिए सत्ता धारी राजनीतिक दल कूट संरचना का इस्तेमाल करता है। विपक्षी दल इसका विरोध नहीं कर सकते क्योंकि वे खुद सत्ता के दावेदार होते हैं और उनका भी मूल चरित्र यही होता है। जनता की आवाज होने का दावा करने वाला मीडिया खुद सत्ता के हाथों बिका होता है इसलिए उससे भी विरोध की उम्मीद नहीं की जा सकती।

अखिलेश ने समकालीन राजनीति और सत्ता का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसको देखते हुए यह आसानी से कहा जा सकता है कि हमारा लोकतंत्र अबतक के सबसे भयावह दौर से गुजर रहा है। अखिलेश इससे निपटने के लिए कोई काल्पनिक जन आंदोलन नहीं रचते हैं लेकिन इसकी आकांक्षा वे जरूर प्रकट करते हैं। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि कथाकार की दृष्टि में क्या कोई विकल्प नहीं बचा है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि लेखक मार्क्सवाद और गांधीवाद दोनों के मेल से बनी राजनीतिक दृष्टि की प्रासंगिकता में विश्वास रखता है मगर कथाकार के रूप में वह अपनी सीमा से वाकिफ है इसलिए सीधे तौर पर वक्तव्य देने से बचने का सतत प्रयास करता है और यही तटस्थता अखिलेश को एक विशिष्ट कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित करती है। इसी प्रकार वे कथा और चरित्र को स्वाभाविक रूप से विकास का अवसर देते हैं । कथावस्तु के प्रवाह तथा उसके अन्त तक कहीं भी वे खुद को हावी नहीं होने देते हैं यही कारण है कि कहानी कहीं भी आवेग का शिकार नहीं होती और न ही इसके बुरे प्रभाव से बचने के लिए उन्हें भाषा का अनावश्यक संजाल रचना पड़ता है।

राजनीति की निर्ममता और अमानवीयता को अनिल यादव 'लोक कवि का बिरहा' में बड़ी सूक्ष्मता पूर्वक प्रस्तुत करते हैं ।कहानी विवरण के शिल्प में लिखी गई है मगर एक-एक स्थिति का चित्रण कथाकार ने इतनी बारीकी और इत्मीनान से किया है कि न तो कथा के विकास में उत्सुकता का अभाव दिखलाई देता है न रोचकता में कमी आती है। जनम नाम का लोक कवि पिछड़ी जाति का है मगर दलितों के साथ उठता-बैठता है लिहाजा उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। कथाकार यहाँ हमारा परिचय भारतीय राजनीति के एक बड़े अंतर्विरोध से कराता है जो जाति व्यवस्था पर आधारित है। हर जाति अपने से नीचे पदक्रम की जाति को हीन समझती है। मगर कहानी का मूल उद्‌देश्य जाति व्यवस्था के पदक्रम को दिखलाना नहीं है बल्कि जातिगत विभाजन के राजनीतिक प्रयोग को सामने लाना है। जनम दलित पार्टी से विधान परिषद के लिए चुना जाता है, कलाकार कोटे से।

मगर वहाँ उसका उपयोग दलितों के काम करने के लिए नहीं किया जाता है नेताओं के प्रशस्ति गीत गाने के लिए किया जाता है। इस प्रकार लेखक ने चुनावी राजनीति के छिछोरेपन का बड़ी बारीकी से वर्णन किया है। जनता के गंभीर मुद्दे चुनावों में गौण हो जाते हैं और गीत, नारे, खोखले वादे मुख्य हो जाते हैं। लेखक कहता है — ''लोक कवि और गायक नेताओं की चुनावी सभाओं में गाते थे। इनमें से हर एक अपने फेफड़ों में जोर और आवाज की लचक से सभी चुनाव क्षेत्रों को हांगकांग और सिंगापुर बनाने का सपना दिखाने की जी तोड़ कोशिश करता।''

आज के दौर की चुनावी राजनीति के गिर चुके स्तर का ब्यौरा देते हुए यह दिखलाया गया है कि राजनीति भांड़ों और मिरासियों का खेल बन गई है। नेताओं को खुद की जनतांत्रिक छवि पर भरोसा नहीं रह गया है इसीलिए चुनाव में फिल्मी और टी वी कलाकारों को बुलाया जाता है। ऐसे माहौल में जनम कुछ करने की स्थिति में था ही नहीं। अपनी लोकवादी छवि को बनाए रखने को इतना ही करता है कि जो भी, जिस भी अवसर पर बुलाता वह वहाँ पहुँच जाता। जनता इतने से खुश थी क्योंकि नेताओं से इससे ज्यादा की उम्मीद ही नहीं रह गई है। भारतीय लोकतंत्र की यह विडंबना ही कही जा सकती है कि जनता की नेताओं से अपनी बेहतरी की आकांक्षाएं इतनी सिकुड़ गई हैं कि नेताओं की उपस्थिति भर उसको कृत -कृत्य करने के लिए काफी है।

दरअसल जनम राजनीतिक अवसरवाद और भ्रष्टाचार का शिकार बनता है और एक बार पद का सुख भोग लेने के बाद खुद उसके दांव-पेंच में रम जाता है ।अगली बार जब उसे पता लगता है कि उसे उम्मीदवार बनाने के बजाय एक मोटी रकम घूस में देनेवाले को उम्मीदवार बनाया जा रहा है तो वह दल बदल कर अपनी जाति की पार्टी में शामिल हो जाता है और दुबारा विधान परिषद में पहुँच जाता है। वह सदन में बिरहा गाकर अपनी हैसियत बनाता है मगर इसके बाद कथावस्तु में एक मोड़ घटित होता है। एक नेता के नाती के जन्म दिन पर उसे गाने के लिए बुलाया जाता है और सुर में न गा पाने के कारण उसे अपमानित करके मंच से उतार दिया जाता है। कहानी के इस अंत से समकालीन राजनीति की क्रूरता प्रकट होती है।

यही क्रूरता और संवेदनशून्यता हरनोट की कहानी 'जीनकाठी' की थीम है । दलित राजनीति भारतीय चुनावी राजनीति का उर्वर क्षेत्र बन गया है। बेड़ा नाम की पहाड़ी दलित जाति को लेकर धर्मांध ब्राह्मणों द्वारा लंबे समय से चलाई जा रही एक बेहद क्रूर प्रथा का वर्णन इसमें लेखक ने किया है जिसको जीनकाठी चढ़ना कहते हैं जिसमें पहाड़ से लंबी रस्सी लटकाकर उसके सहारे नीचे उतरना पड़ता है। इसी में एक बार एक बेड़ा युवक गिरकर मर गया और ब्राह्मणों ने इसे दैवी प्रकोप मानकर सभी बेड़ा लोगों को गांव से निकाल दिया। काफी समय बाद एक नई पीढ़ी के ब्राह्मण युवक ने इस प्रथा की फिर शुरूआत की और बेड़ा लोगों को खोजकर वापस लाया गया । लेखक दिखलाता है समय के अंतराल में अब ये लोग भी जागरूक हो गए हैं। जीनकाठी चढ़ने वाला युवक ठीक नीचे से कुछ पहले जीनकाठी रोक देता है और वहाँ मौजूद विधायक के सामने शर्त रखता है कि उनकी जमीनें लौटाने का वादा किया जाय तब वह नीचे उतरेगा। भीड़ के मौजूद रहने के कारण विधायक जी को शर्त माननी पड़ी।

यहाँ तक कहानी सामान्य रूप में चलती है; दलितों के भीतर उत्पन्न हो रही नई चेतना के रूप में। मगर इसके बाद लेखक विडंबना का प्रयोग करता है और कहानी का मुख्य प्रतिपाद्य सामने आ जाता है। वहाँ यह तमाशा देखने के लिए राज्य के मुख्यमंत्री भी मौजूद थे और इस तमाशे की अमानवीयता को लेकर उनके मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न होती है, उन्हें सिर्फ अपने वोट बैंक की चिंता है। इसीलिए वे उस बेड़ा युवक की पीठ थपथपाते हुए कहते हैं कि तुमने तो कमाल कर दिया, अब मेरी समस्या का समाधान हो गया। मुझे लोक सभा के लिए इस क्षेत्र से कोई दलित उम्मीदवार नहीं मिल रहा था .... । आज की खोखली वोट की राजनीति जिसे योगेन्द्र यादव 'लोकतंत्र के सात अध्याय' में लोकलुभावन राजनीति कहते हैं; का यह बहुत सटीक उदाहरण है।

समकालीन महिला कथाकारों में जयश्री राय एक महत्वपूर्ण नाम है जिन्होंने अपनी कहानी 'सुख के दिन' में जातिगत राजनीति के खोखलेपन को दिखलाया है । इस कहानी की विशेषता यह है कि उन्होंने नेताओं पर केंद्रित

करने के बजाय आम लोगों पर केंद्रित किया है। कथावस्तु में नेता जी प्रत्यक्ष नहीं दिखते, रैली में गए गांव के निम्न तबके के लोगों की बातचीत से बारे में मालूम पड़ता है। प्रतीकों की राजनीति करके नेता जी किस प्रकार अपनी जाति के लोगों का भावनात्मक दोहन करते हैं प्रतीकों में आम लोगों को उलझाकर खुद उच्च जीवन जीते हैं इसी पर यह कहानी केंद्रित है। कहानी का मुख्य चरित्र रघुनाथ नेता जी का भक्त है, उनके धनी होने को इस रूप में देखता है कि जब दूसरी जाति के नेताओं ने इतना कमाया तो हमारी जाति के नेता क्यों नहीं। प्रतीकों की राजनीति की यह सबसे चिंताजनक परिणति है। सुख के दिन का उसका मोह तब भंग होता है जब रैली पुलिस की लाठियां खाता है और घर आने पर देखता है कि उसका बीमार बच्चा मर गया है।

दलित राजनीति और कम्युनिस्टों की राजनीति के बीच एक बड़ा विवाद वर्ग और वर्ण को लेकर है। सैद्धांतिक तौर पर यह मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के बीच का संघर्ष है। दोनों की अपनी-अपनी सीमाएं तथा दुराग्रह हैं। भारतीय मार्क्सवादियों ने वर्ण के भेद के विरुद्ध संघर्ष को कभी महत्त्व नहीं दिया और यह मानकर चलते रहे कि वर्ग भेद मिट जाने पर वर्ण भेद स्वत: मिट जायेगा और इस प्रकार उन्होंने यह समझने की कोशिश ही नहीं की कि जाति भारतीय समाज की संरचना में कितनी गहराई तक पैठी हुई है। इसी का परिणाम है कि आज आम लोगों के बीच भारतीय वामपंथी अपनी प्रासंगिकता लगभग खो चुके हैं। इसी प्रकार दलित राजनीति अम्बेडकरवाद के राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के फलसफे का शिकार होकर आम दलितों की मुक्ति के व्यापक लक्ष्य से भटककर व्यक्ति केंद्रित हो गई और इसका सबसे फूहड़रूप समय-समय पर सत्ता के लिए उसी दल से समझौते के रूप में दिखाई देता रहा है जिनके मूल सिद्धांत ही दलितों की हीन सामाजिक अवस्था के लिए जिम्मेदार हैं। इसी द्वन्द्व पर सूरज बड़त्या की कहानी है 'कामरेड का बक्सा'। इसमें उन्होंने एक होलटाइमर कम्युनिस्ट कार्यकर्ता की राजनीतिक प्रतिबद्धता तथा पार्टी के कठमुल्लेपन तथा सामंती प्रवृत्ति का चित्रण किया है। दलित विमर्श को लेकर पार्टी के लोग किस प्रकार हिकारत का भाव रखते हैं इसका खुलासा इस कहानी में हुआ है। लेकिन कहानी में वैचारिक बहस ही ज्यादा है ऐसा लगता है कि कहानी के रूप में इसकी रचना अभी बाकी है। यथार्थ को कला में बरतने की जरूरत कहानी में होती है इसको ध्यान में रखना आवश्यक है।

पंकज मित्र की कहानी 'हुड़कलुल्लु' वित्तीय पूंजी, विश्व बाजार और धार्मिक उन्माद के मेल से बने समकालीन राजनीतिक यथार्थ को सामने लाती है। यह कहानी उस दौर में लिखी गई जब भारतीय राजनीति बड़े देशी तथा विदेशी पूंजीपतियों, माफिया, बिल्डर और ठेकेदारों के द्वारा नियंत्रित होने लगी थी। कहानी में मुहल्ले का गुंडा शंभू पांडे अपनी राजनीतिक यात्रा जिले के भ्रष्ट एस.पी. के यहाँ लड़की पहुंचाने से प्रारंभ करता है और देखते-देखते नेता के रूप में उभर जाता है। यह चरित्र यह बतलाने के लिए काफी है कि विश्व बाजार, नई पूंजी और उदारीकरण के दौर में किस प्रकार की राजनीतिक संस्कृति का उदय हुआ है। इस कहानी में पंकज आज के दौर की उन्मादी हिंदुवादी राजनीति की पृष्ठभूमि का भी चित्रण करते हैं। कथावस्तु की पृष्ठभूमि में जे.पी. आंदोलन और आपातकाल के दौर की चर्चा है और इसी क्रम में वे संकेत करते हैं कि हिंदुत्व की राजनीति करने वाला दल पहली बार भारतीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण रूप में उभरा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सक्रियता का वर्णन करते हुए पंकज ने भविष्य के हिंदू फासीवादी राजनीति का संकेत दिया है।

बाजार और वित्तीय पूंजी के दौर में जिस लंपट राजनीति का उभार हुआ उसका बड़ा सटीक चित्रण प्रभात रंजन की कहानी 'फ्लैश बैक' में मिलता है। इस में जिस बांके भाई का वर्णन हुआ है वह स्थानीय स्तर का एक छुटभैया नेता है जिसने राजनीति को धंधे में बदल दिया है। यह चरित्र जे.पी.आंदोलन के बाद राजनीति में उभरी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है। सदी के अंतिम दौर में राजनीति जिस प्रकार धन उगाही के धंधे के रूप में सामने आई उसकी शुरुआत उसी दौर में हो गई थी जो सदी के अंतिम दशक तक आते-आते पूरी तरह गलाजत का शिकार बन गई। जन आंदोलन भी एक विकट तमाशे में तब्दील हो गया है। कहानी का नैरेटर भी बांके भाई का शिष्य बनकर राजनीति में इसलिए जाना चाहता है ताकि पैसे कमा सके । वह योजनाएं बनाता है कि अगर स्थानीय स्तर का भी नेता बन जाय तो टाटा सफारी नहीं तो कम से कम टाटा सुमो तो ले ही लेगा। मेडिकल में छात्रों को दाखिले दिलवाकर पैसे कमाएगा।

यही राजनीतिक पीढ़ी आज लोकतंत्र पर छाई हुई है और जो थोड़े से मूल्य वगैरह की बातें करने वाले राजनेता हैं भी तो उन्हें लगातार अप्रासंगिक बनाया जा रहा है। इस कहानी में प्रभात राजनीतिक अधोपतन के विभिन्न विंदुओं को सामने लाते हैं।

भारतीय राजनीति में पिछले बीस-पच्चीस सालों के दौरान जो उल्लेखनीय परिवर्तन घटित हुए हैं उनमें सिविल सोसायटी का चर्चा में आना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। खास तौर से इधर अन्ना हजारे के राजनीति और नौकरशाही में फैले भ्रष्टाचार के विरुद्ध आंदोलन के समय से यह भारतीय राजनीति का प्रमुख विषय बन गया है। राजनीति के शास्त्रीय विवेचन में सिविल सोसायटी की क्या परिभाषा दी गई यहाँ उस पर चर्चा की कोई जरूरत नहीं है, मैं यहाँ भारतीय समाज में इसकी कथित क्रांतिकारी भूमिका की वास्तविकताओं के बारे में कुछ बातें करना चाहूंगा। यह वास्तव में उस मध्य वर्ग का आंदोलन है जो हमेशा अपने सुख- सुविधाओं के खोल में रहना चाहता है और भयानक रूप से यथास्थितिवादी होता है। जब इसके सुखवादी जीवन शैली में खलल पड़ता है तो यह सरकार से लेकर अपने इर्द-के पूरे वातावरण को गालियां देता है। जिसे आज सिविल सोसायटी कहा जा रहा वह वही मध्य वर्ग है जो भारत की आजादी के आंदोलन के दौरान एक ओर कांग्रेस के रचनात्मक कामों में हिस्सा लेता था तो दूसरी ओर बकौल बिपनचंद्रा; अंग्रेजों की बगल में बैठने के लिए लालायित रहता था। सिविल सोसायटी के आंदोलन में वही लोग थे जो व्यवस्था को बदलने के बजाय सत्ता परिवर्तन चाहते थे क्योंकि सत्ता भ्रष्ट हो गई थी। ये वही खाऊ और भकोसू लोग हैं जो भ्रष्टाचार के खिलाफ धरने से उठकर रामदेव बाबा के योग शिविर में चर्बी घटाने जाते थे। यह पूरी तरह आत्मनिष्ठ और आत्म मुग्ध वर्ग है जिसे इससे कोई मतलब नहीं है कि जिस विकास के लिए यह लालायित है उसके कारण कितनी बड़ी आबादी अपनी जर,जमीन से विस्थापित होकर महानगरों की भीड़ में गुम हो गई है। कैलाश वानखेड़े की कहानी 'कंटीले तार' इस सिविल सोसायटी की कथित क्रांतिकारिता की वास्तविकता को सामने लाती है।

यह गौर करने की बात है कि मध्य वर्ग की हिप्पोक्रेसी और सुविधा भोगी स्वभाव को केंद्र बनाकर नई कहानी के दौर में कई बेहतरीन कहानियां लिखी गई थीं जिनमें से कुछ तो निश्चय ही ऐतिहासिक महत्त्व की हैं; जैसे अमरकांत की 'जिंदगी और जोंक' अथवा भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत'। लेकिन कैलाश वानखेड़े की यह कहानी राजनीतिक बोध की दृष्टि से विशिष्ट किस्म की है जो बाजार और नई पूंजी के दौर में उदित नए मध्य वर्ग के वैचारिक खोखलेपन और संवेदनशून्यता को सामने लाती है। सिविल लाईंस में रहनेवाले अग्रवाल जी अपने अहाते के चारों ओर कांटेदार तार, बबूल कांटों वाली डालियां लगाते हैं ताकि उनकी कवच में सुरक्षित जिंदगी में कोई प्रवेश न कर सके। कांटे लगाते हुए अग्रवाल जी यह कल्पना करके रोमांच से भर जाते हैं कि कोई अनपेक्षित आदमी या जानवर जब इसमें घुसने की कोशिश करेगा तो कैसे उसकी देह छिल जायगी। उनके चरित्र के दोहरेपन का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि इसी समय वे देश और समाज के लिए कुछ करने की लफ्फाजी भी करते हैं। आम लोगों को गर्मी में पानी पिलाने के लिए सार्वजनिक प्याऊ लगता है तो उन्हें लगता है कि यह लफंगई है मगर अस्पताल में गरीबों के बीच फल वितरण का आयोजन करके सामाजिक कामों का ढोंग करते हैं। सिविल सोसायटी का यह प्रतिनिधि चरित्र इतना प्रतिगामी और भेदभाव रखने वाला है कि अपनी ही बहनों को संपत्ति में हिस्सा देने के खिलाफ है। सिविल लाईंस की जगह सिविल सोसायटी लिखवाने की मंशा व्यक्त करने वाला यह आदमी कहता है कि आदमी आदमी होता है, औरत औरत। दोनों में जमीन आसमान का फर्क होता है।

ऐसी ही सिविल सोसायटी के उभार ने उस नई राजनीतिक संस्कृति को जन्म दिया है जिसके लिए विकास की अवधारणा बीस- तीस प्रतिशत उच्च और नव धनिक मध्य वर्ग के विकास में सिमट गई है। रणेन्द्र की कहानी 'रात बाकी' बाजार के दौर में आए विकास के इस दर्शन की असलियत सामने लाती है। सत्ता, माफिया और सवर्ण जातियों द्वारा किस प्रकार निम्न वर्ण और निम्न वर्ग के लोगों का दमन किया जाता है इसका विस्तार पूर्वक वर्णन उन्होंने इस कहानी में किया है। सवर्णों की सनलाइट सेना के द्वारा किए जाने वाले दलितों के नरसंहार के समर्थन में सरकार से लेकर नौकरशाही तक खड़ी हो जाती है। गौरतलब है कि यह एकरेखीय जाति संघर्ष नहीं है। इसमें नई पूंजी और जनविरोधी

राजनीति भी मिली हुई है। इस नए यथार्थ के उलझे ताने-बाने को रणेन्द्र इस कहानी में स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करते हैं।

पूंजी और राजनीति के नए गठजोड़ ने किसानों, मजदूरों के संघर्ष को हाशिये में डाल दिया है। इसीलिए आज किसानों-मजदूरों के प्रश्नों को लेकर कोई बड़ा आंदोलन होता नहीं दिखाई देता है। खास तौर से भारतीय वामपंथ के अप्रासंगिक हो जाने के कारण इनकी पीड़ा को आवाज देने वाला अब कोई नहीं दिखाई देता है। वास्तव में भारतीय वामपंथ के अप्रासंगिक होने के लिए भारतीय वामपंथी खुद जिम्मेदार हैं क्योंकि इन्होंने मार्क्सवाद को एक धार्मिक आस्था में परिणत कर दिया। सिद्धांत और व्यवहार में कोई तालमेल बनाने की सार्थक कोशिश इन्होंने नहीं की और जुमलों, प्रतीकों में भटकते रहे जबकि व्यवहार की दृष्टि से समकालीन वामपंथी भी अन्य बुर्जुआ राजनीतिक पार्टियों की तरह ही हैं। राकेश मिश्र की कहानी 'लालबहादुर का ईंजन' इस पर प्रकाश डालने के लिए उपयुक्त कहानी है। गांव से विश्वविद्यालय के कैंपस में सपने लेकर आये एक सीधे आदमी का व्यवस्था परिवर्तन के नाम पर वामपंथ की राजनीति करने वाले छात्र नेता शोषण करते हैं और बाद में जब पैसे के लिए मोहताज वह आदमी थोड़ी सी मदद माँगता है तो उसे धक्के मारकर निकाल दिया जाता है। इनके ढोंग और जुमलेबाजी का एक उदाहरण कहानी के इस प्रसंग से मिलता है कि लालबहादुर द्वारा घर से लाया गया घी सब कामरेड तहरी में डालकर खाते हैं और लफ्फाजी करते हैं कि हम जब अपने घरों में होते हैं तो दाल में एक चम्मच घी भी हमें सम्पन्नता लगती है और तहरी में पांच चम्मच घी हमें यहाँ ऐसे ही लग रहा है जैसे यह तो सामान्य है। यह हमारी वर्गीय चेतना का उन्नयन है क्या? इसके बाद सबकी हँसी फूट पड़ती है। यह छोटा सा प्रसंग यह बतलाने के लिए काफी है कि मार्क्स के सिद्धांत को समकालीन मार्क्सवादियों ने किस प्रकार हास्यास्पद बना दिया है।

इस लेख के लिए जिन कहानियों का चयन किया गया है उनके अलावा भी कई कहानियां ऐसी हो सकती हैं जिन पर चर्चा हो सकती थी। लेकिन इनके चयन को लेकर मेरी दृष्टि यह थी कि अलग-अलग समय में लेखन के क्षेत्र में आए कथाकारों के राजनीतिक बोध को, खास तौर से समकालीन राजनीति के प्रति उनके दृष्टिकोण को समझा जा सके। इनमें कुछ कहानीकार ऐसे हैं जिनकी राजनीतिक चेतना का निर्माण इमरजेंसी के समय में हुआ है और कुछ ऐसे कथाकार हैं जिनकी राजनीतिक दृष्टि उदारीकरण और विश्व बाजार में भारत के शामिल होने के बाद हुई है। समकालीन यथार्थ के आलोक में इनकी राजनीतिक दृष्टि भले ही समान मालूम पड़े किंतु यथार्थ को बरतने के तरीके में फर्क है। इसी हिसाब से इनमें विचार और अनुभूति का आनुपातिक संबंध बनता है। इन कथाकारों की कहानियों का शिल्प अलग है पर एक खासियत है कि भाषा और शिल्प के स्तर पर इनमें अलग किस्म का ट्रीटमेंट दिखाई देता है जो पिछले दौर की राजनीतिक थीम पर लिखी गई कहानियों से इनकी कहानियों को अलग करता है।

हिंदी विभाग आसाम
(सेंट्रल) यूनिवर्सिटी,
दिफू कैंपस,
कार्बी एंगलाँग, आसाम
मो. 9431955249

बजरंग बिहारी तिवारी

दलित प्रेम कहानी का आशय

रचना के एक विषय-वस्तु के रूप में प्रेम के चयन का क्या अर्थ है ? यह विषय-वस्तु (थीम) कृति पर, कृतिकार पर, पाठक समुदाय पर, आंदोलन पर क्या असर डालती है ? इन प्रश्नों के समुचित जवाब कुछ समय बाद ही दिए जा सकेंगे। जब प्रेम केंद्रित रचनाओं की संख्या में वृद्धि होगी, उनकी गुणवत्ता में परिष्कार के कई प्रयोग होंगे, ऐसी रचनाओं को जांचने के प्रतिमानों का निर्माण होगा, आलोचना में प्रेम की थीम पर कुछ कसौटीगत सहमतियाँ बनेंगी, दलित आंदोलन में इस विषय पर बहस का स्वरूप थोड़ा और निथरेगा तब कहीं जाकर मूल्य-निर्धारक टिप्पणियां की जा सकेंगी। अभी सिर्फ इतना कहा जा सकता है कि आंदोलनधर्मी साहित्य में प्रेम का आगमन परिवर्तन की मंशा का पूरक बनने जा रहा है। प्रेम की उपस्थिति दलित आंदोलन को उसकी समृद्ध परंपरा से जोड़ने का काम करेगी। इस परंपरा में एक तरफ तो 'भवतु सब्ब मंगलम' का उद्घोष है तो दूसरी तरफ सबके मंगल में अवरोधक मानव विरोधी ताकतों की पहचान है और उनके विरुद्ध अनमनीय संघर्ष चेतना है। शोषण-उत्पीड़न से मुक्ति के प्रयास को मात्र भौतिक पक्ष तक सीमित रखने से उसकी पहुँच और सफलता संदिग्ध रहती है। इससे एक नैतिक खोखल का निर्माण होता है। धर्म (बेशक वह बौद्धधम्म क्यों न हो) इस खोखल को ढंकने का काम करता है। उसके रिचुअल्स खोखल का प्रकटीकरण स्थगित करते रहते हैं, उसे हावी होने से रोकते रहते हैं। जो रिचुअल्स के पार देखने की शक्ति अर्जित कर लेता है उसमें अनिवार्यत: एक छटपटाहट जन्म लेती है। मध्ययुग में भक्ति ने इस छटपटाहट से निपटने की चेष्टा की थी। लेकिन, बहुत जल्दी भक्ति का अपना कर्मकांड विकसित हो गया। फिर यह विकल्प भी रीत गया। समय के आर-पार देखने की क्षमता वाले संत रविदास ने यह आशंका बिलकुल शुरू में ही भांप ली थी। उन्होंने इसीलिए प्रेम-भगति का विकल्प दिया। एक समय के बाद भक्ति सांचे में ढल सकती है, अपनी अर्थवत्ता खो सकती है मगर प्रेम को सांचे में नहीं ढाला जा सकता। उसे पुनर्नवा ही होते रहना है- ''प्रेम भगति नहिं ऊपजै ताते जन रैदास उदास।'' नैतिक खोखल से

उपजी उदासी से प्रेम ही बचा सकता है। संघर्ष–चेतना को वही कायम रख सकता है। धर्म के विरुद्ध भावना अध्यात्म की ओर ले जाती है। अध्यात्म उन्मुख व्यक्ति तनहाई की ओर जा सकता है, अकेलेपन का वरण कर सकता है। प्रेम में यह खतरा न्यूनतम है। वह अध्यात्म का सुरक्षित विकल्प है। प्रेम समुदाय से, संघर्ष के कारवां से जोड़े रखता है। जिजीविषा से भरी आंतरिकता प्रेम की बदौलत ही प्राप्त होती है। समृद्ध अंतस आत्मीयता रचता है। वह 'अन्य' के प्रति उदार बनाता है। उससे जुड़ने और उसे जोड़ने का परिवेश निर्मित करता है। प्रेम की नैतिकता के बगैर हम वर्चस्व की किसी न किसी संरचना– प्रतिउपनिवेशवाद, नवसाम्राज्यवाद, बाजारवाद, लिंगवाद, प्रजातिवाद, उलट–जातिवाद, वर्गवाद में फंसे रहते हैं। हम ताउम्र एक वर्चस्व के विरुद्ध संघर्ष करते हुए दूसरे वर्चस्व को अनदेखा करते रह सकते हैं। उस वर्चस्व का मुखर समर्थन करते हुए भी देखे जा सकते हैं। कोई प्रभुत्व हमें तब नागवार लगता है जब वह हमारे स्वार्थ पर चोट करता है। प्रेम हमें इस संकुचित दृष्टि से मुक्त करता है। हम दूसरे के दुख के विरुद्ध, भले ही हमारा निजी स्वार्थ प्रभावित हो रहा हो, प्रेम की प्रेरणा से सन्नद्ध होते हैं। इससे हमें अपने अंध–बिन्दुओं को पहचानने की कूवत आती है। अपनी अस्मिता को अतिक्रांत करते हुए हम अपने सरोकारों का विस्तार करते हैं। तभी हममें यह सलाहियत आती है कि हम वर्चस्व की राजनीति को समग्रता में समझ सकें और न्याय की लड़ाई को सार्वभौमिक बना सकें, न्याय के दूसरे संघर्षों में भी शामिल हो सकें। जिस क्षण हम प्रेम करने का निर्णय करते हैं उसी क्षण हम वर्चस्व के विरोध में खड़े हो जाते हैं। जाहिर–सी वजह है कि वर्चस्व प्रेम को सहन नहीं करता। प्रेम स्वाधीनता का उद्घोषक है। वर्चस्व की संस्कृति के लिए आजादी नाकाबिले बर्दाश्त है। वह खुद को बनाए रखने के लिए हिंसा का सहारा लेती है। हिंसा की निरंतरता अपने साये में रहने वालों की प्रेम करने की क्षमता ही सोख लेना चाहती है। बहुधा सोख लेती है। तब बहुत से लोग खुद को या दूसरे को प्रेम करने में असमर्थ पाते हैं। उन्हें पता ही नहीं होता कि प्रेम क्या हैं। ऐसे में प्रेम का अभ्यास स्वतंत्रता का अभ्यास बन जाता है। खोए हुए आत्म की पुनर्प्राप्ति का माध्यम प्रेम ही ठहरता है। आत्म की यह पुनर्प्राप्ति आंतरिक आलोचना से संपृक्त रहती है। जातिवादी दबंगई निजत्व का नाश करती चलती है। इस संस्कृति में खुद से प्रेम करना भी खतरे से खाली नहीं रहता। ऐसे में प्रेम करने का फैसला राजनीतिक जागरूकता की मांग करता है। स्वतंत्रता के अभ्यास की पीठिका के तौर पर। प्रभुत्व की कार्यप्रणाली समझने की जरूरत इसी समय महसूस होती है। अपनी जिंदगी, उसे निर्धारित करने वाली परिस्थितियां, थोपी गई पहचान आदि के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि का निर्माण प्रेम की मनोदशा करती है। प्रभुत्वशाली संस्कृति के जिन मूल्यों का आत्मसातीकरण हुआ है, उसे समझ पाने और उससे मुक्त हो पाने की प्रक्रिया अब प्रारंभ होती है। आतंरिक उपनिवेशीकरण से छुटकारा पाने की गुंजाइश बनती है। अन्य से नफरत और आत्मघृणा दोनों का आभ्यंतरीकरण साथ–साथ हो सकता है। इनसे मुक्त हुए बिना न सहज हुआ जा सकता है और न वैकल्पिक संस्कृति के बारे में सोचा जा सकता है। प्रेम यह दायित्व भी निभाता है। वह प्रेमी को अन्त:प्रज्ञा से संपन्न करता है। आत्मा पर लगे घाव पूरने शुरू होते हैं। पीड़ा से मुकाबला करने की शक्ति आती है। अन्य को पीड़ा न पहुंचाने की संकल्पात्मक वृत्ति निर्मित होती है। प्रेमपूर्ण समाज इसी बुनियाद पर खड़ा हो सकता है। संत रविदास ने इसे ही बेगमपुरा कहा है।

दलित प्रेम कहानी से हमारी वही मुराद है जिसकी रूपरेखा ऊपर देने की कोशिश की गई है। दलित स्त्री के परिदृश्य में आने से संभव हुई यह चर्चा जाति के साथ पितृसत्ता उन्मूलन के सवाल को गूंथकर ही आकार लेती है। वर्ग और पारिवारिक पृष्ठभूमि का मुद्दा भी इससे जुड़ा होता है। जो दलित रचनाकार सरोकारों के इस संश्लिष्ट विधान से जुड़े हुए हैं वहीं मुक्ति के साधन के रूप में प्रेम कहानी लिखने में सफल हो पा रहे हैं। बनती हुई स्त्री, उस स्त्री के व्यक्तित्व का सम्मान करने वाला नया पुरुष, खुद मुख्तार होने में दलित स्त्री की दुश्वारियां, अपने संस्कारों को पहचान कर उससे लड़ने वाला दलित युवा और स्त्री की बाड़ेबंदी करने वाले नए स्मृतिकारों की पहचान किए बिना अब सार्थक प्रेम कहानी लिखना मुश्किल है। अस्मितावादी विमर्श और मुक्तिकारी संघर्ष दोनों ही धाराओं से प्रेम कहानियां आ रही हैं। इनके बीच का फर्क समझना जरूरी है। यहाँ यह कह देना अभीष्ट है कि निकष बनने वाली प्रेम कहानियां नई पीढ़ी के रचनाकार ही दे रहे हैं। इन रचनाकारों में दलित स्त्रियां अग्रिम पंक्ति में हैं।

'नीला पहाड़ लाल सूरज' कहानी में अनिता भारती ने एक स्थगित लेकिन नाजुक और महत्त्वपूर्ण मुद्दे को पूरी शिद्दत से उठाया है। यह है ग्लानि बोध जागृत करके आत्म प्रक्षालन कराना। अधिकार बोध की कहानियाँ अस्मिता विमर्श

में केंद्रीय थीं। 'अन्य' को अवकाश देने का अवकाश नहीं था। एक प्रविधि के रूप में ग्लानिबोध की इस 'डोमेन' में कोई गुंजाइश नहीं थी। अनिता ने यह गुंजाइश बनाई। उनकी कहानी का नायक समर (गैर दलित) है। उसने प्रज्ञा से प्रेम विवाह किया है। यह प्रेम मजदूर आंदोलन में साथ-साथ काम करते पनपा है। विवाह के लंबे अरसे बाद समर के संस्कार उसके व्यक्तित्व पर दस्तक देते हैं। उसका पुरुष अहं प्रज्ञा को अपनी सेवा में न पा चोटिल होता है। सामाजिक कार्यों में प्रज्ञा की निरंतर भागीदारी समर को भन्नाए रखती है। वह उसके आचरण पर भी शक करता है। कहानी के उत्तरार्ध में विप्लव नामक पात्र की एंट्री समर को मौका देती है कि वह अपनी मनोरचना की छानबीन करे। अपने किए पर समर में पश्चाताप का उदय हुआ- ''सोचते-सोचते समर ने खुद को कठघरे में पाया।...उसे प्रज्ञा पर गुस्सा क्यों आया?... उसकी उन्मुक्त बौद्धिकता, उसकी ईमानदारी, सच्चाई...वह इन गुणों की बहुत कद्र करता था। अब उसे इन्हीं गुणों से चिढ़ क्यों है ?... आसपास की चुप्पी में गूँज रहे ये सवाल एक-एक करके दीवारों से टकरा के वापस आ रहे थे और समर को घायल कर रहे थे।... उसकी आँखों से ग्लानि बहने लगी थी।'' मुक्तिकामी विमर्श के लिए यह ग्लानि बहुत मूल्यवान है। इससे विचारधारात्मक सांचावाद टूटता है।

हेमलता महिश्वर की कहानी 'राग की रागी रागिनी' दो भिन्न सामाजिक पृष्ठभूमियों से आए युवाओं के बीच पनपे प्रेम की कथा है। समीर ब्राह्मण परिवार से है और रागिनी शूद्र परिवार से। विश्वविद्यालय परिसर दोनों की जातिगत पहचान को पीछे रखकर उनके बीच स्वस्थ प्रेम को अंकुरित करता है। प्रेम का अंकुरण उस समय हो रहा है जिस समय जारसत्ता वाले और विमर्शकार फतवा दे रहे हैं कि 'ब्राह्मण अपना दिल ब्राह्मण से लगाए और शूद्र शूद्र से।' फतवे की अनुगूंज कहानी में भी है। परिवार और समाज से टक्कर लेते दोनों युवा साथ रहने का निर्णय लेते हैं। समीर को उचित ही नया नाम मिलता है- 'राग'। वह डिप्टी कलेक्टर बनता है और रागिनी प्रोबेशनरी अफसर। समीर के पिता प्रतिशोध लेते हैं। समीर मनोचिकित्सालय में गुमनामी का जीवन काट रहा है। पच्चीस वर्ष से! एक अच्छी कहानी अविश्वसनीय बंद पर आकर समाप्त होती है।

चंद्रकांता की बड़ी संवेदनशील कहानी है 'शेड्यूल कास्ट'। जिस नई दलित स्त्री की चर्चा की गई यह कहानी उसके निर्माण पर रोशनी डालती है। इसमें एक तरफ तो दलित स्त्री को छलने के लिए सवर्ण चालबाजियों का दर्शन कराया गया है दूसरी तरफ दलित परिवार में मौजूद पितृसत्तात्मक मूल्यों का रेखांकन हुआ है। कहानी की नायिका मीरा शिड्यूल कास्ट की है। इसका बोध उसे सातवीं कक्षा में सरकारी स्कूल में कराया जाता है। परिवार में मीरा दादी के पुरुषवादी रवैए का शिकार बनती है। युवती मीरा को ठगता है प्रेम का नाट्य रचने वाला अभिषेक तिवारी। जितना जरूरी विश्वसनीय चरित्रों को सामने लाना है उससे कहीं ज्यादा जरूरी अभिषेक जैसे छलिया पात्रों की पहचान कराना है। कहानी मीरा के आत्म-उन्मीलन पर आकर संपन्न होती है- ''प्रेम की पीड़ा का उत्सव मनाने का समय अब नहीं था। वह तो अपने अस्तित्व की दीपशिखा को प्रज्ज्वलित कर रही थी।...सदियों से मन में सुलगता सूरज आज उसके चेहरे पर जो उग आया था।'' दलित स्त्री के व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया को दर्शाने वाली एक और कहानी है प्रियंका शाह की 'अश्रुधारा'। कहानी की नायिका अश्रु अध्यापिका है। सिलीगुड़ी नामक छोटे शहर में अकेली रहती है। लेकिन वह अकेली है कहाँ? अतीत का एक कचोटता प्रसंग उसके साथ रहता है। कोलकाता के प्रेसिडेंसी कॉलेज में नितिन और उसकी जोड़ी मशहूर थी। यह जोड़ी स्थायित्व प्राप्त करती इससे पहले नितिन के पिता सौम्यदीप मुखर्जी के जातिवादी मानस ने अपनी विध्वंसक भूमिका निभाई। विस्तार में न जाकर कहानी संकेतों में बहुत कुछ कह देती है। एक कौंध की तरह उसे एक दिन नितिन का ख्याल आता है। पिता द्वारा थोपी जिंदगी से मुक्त हो वह अश्रु की स्मृतियों के सहारे जीवन काट रहा है। अब अश्रु अपनी चुनी हुई तनहाई को घुला देने का निर्णय करती है। अपनी मितभाषिता में कहानी बड़ी मार्मिक बन पड़ी है।

दो वरिष्ठ कथाकारों- सुशीला टाकभौरे ('वह नज़र') और कावेरी (अंतर्द्वंद्व') की कहानियां एक ढर्रे की हैं। ये कहानियाँ विवाह संस्था के परे जाकर प्रेम का परीक्षण करती हैं। इनमें एक साहसिक प्रयोगशीलता दिखाई देती है। ये प्रयोग दलित प्रेम कहानी का दायरा विस्तृत करते हैं। 'वह नज़र' की मुख्य पात्र एक कॉलेज में प्रोफ़ेसर है। उसकी क्लास का एक छात्र प्रोफ़ेसर से रागात्मक रिश्ता रखता है। यह आकर्षक से बढ़कर है। इस रिश्ते को कोई नाम नहीं दिया जा सकता। नाम देने की मजबूरी भी नहीं है। औपचारिक संबंधों से मुक्त इस 'प्रेम' कहानी में निर्बंध बयार बही है।

कावेरी ने शोध छात्रा शालु को केंद्र में रखकर कहानी रची है। किस्कू शादीशुदा आदिवासी अफसर है। पांच बेटियों और दो बेटों का पिता। सभी संतान बालिग़। आदिवासी संस्कृति पर अपने शोधकार्य के दौरान शालु किस्कू से मिलती है। उनमें प्रेम पनपता है- ''इसमें बुराई क्या है ? प्रेम को बुरा मनुष्य ने बनाया है। शुद्धता और जाति बंधन के नाम पर जकड़ दिया है। शालु को लगा प्रेम तो सहज स्वानुभूति है।'' किस्कू पहले तो शालु की प्रेमाभिव्यक्ति पर मौन रहता है लेकिन कहानी के अंत में विवेकानंद और सिस्टर निवेदिता के अनाम (प्रेम) संबंध से आगे बढ़कर घोषणा करता है- ''मैं समाज सेवा करूंगा। शालु देवी है उसकी पूजा करूँगा।।''

कैलाश वानखेड़े बहुत संवेदनशील और सधे हुए कहानीकार हैं। उनकी कहानी 'महू' उच्च शिक्षा में पसरे जातिवाद को फोकस करती है। प्रज्ञा और नरेश दोनों दलित समुदाय से हैं। उनके बीच पनपता प्रेम जातिवादी हिंसा के खिलाफ आकार लेता एक अग्निधर्मी अभियान जैसा दिखता है। प्रज्ञा की क्लासमेट रागिनी सवर्ण मानस का विद्रूप चेहरा है। यह सवर्ण मानसिकता ही विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, इंजीनियरिंग, मेडिकल संस्थानों में दलित विद्यार्थियों की हत्याएं कर रही है। इन हत्याओं को आत्महत्या का नाम दिया जाता है। दलित युवा पीढ़ी के प्रतिनिधि के रूप में प्रज्ञा और नरेश बाबासाहेब की संघर्ष की विरासत को और गति प्रदान करना चाहते हैं। वे तहरीर चौक का विकल्प महू के रूप में देखते हैं। यह कहानी अपने सुगठित शिल्प के कारण भी यादगार बन पड़ी है।

रत्न कुमार सांभरिया वरिष्ठ पीढ़ी के सशक्त कथाकार हैं। वे पूरी तैयारी के साथ कहानियां लिखते हैं। उनका जितना ध्यान अंतर्वस्तु की तथ्यगत शुद्धियों पर रहता है उतना ही भाषा और शिल्प के रचाव पर। उनकी कहानी 'भैंस' कथ्य और शिल्प के उत्कृष्ट संतुलन का उल्लेखनीय उदाहरण है। प्रेमचंद की कहानी 'दो बैलों की कथा' के हीरा मोती अपने मालिक झूरी काछी के प्रति जो प्रेम रखते हैं कुछ वैसा ही इस कहानी की भैंस अपने राखनहारे मंगल या मंगला के प्रति रखती है। लेकिन, यह कहानी मात्र मंगल और भैंस की प्रेम-कथा नहीं है। पूरी कहानी में अनुपस्थित रहकर सोनवा मंगल के जीवन का संबल बनी रहती है। पारंपरिक शब्दावली में यह प्रेम 'पूर्वराग' कहा जाता है। किसी से सुनकर, दूत-दूती के जरिए प्रस्ताव पाकर, सौंदर्य चर्चा से या चित्र देखकर नायक या नायिका के चित्त में जो आकर्षण पैदा होता है वह पूर्वराग कहा जाता है। माता-पिता विहीन, ठिगने कद का, सबसे उपेक्षित पचीस वर्षीय मंगला बिरादरी की एक भाभी समझी का स्नेहपात्र बनता है। भाभी की मंशा मंगला का घर बसाने की है। अपनी छोटी बहन सोनवा से उसका ब्याह करके। यह उम्मीद मंगला के जीवन को एक दिशा देती है। उसके मन में घुमड़ते भावों का चित्रण कहानीकार ने बड़ी कुशलता से किया है। पूर्वराग मिलन तक नहीं पहुंचता। यह अभीष्ट परिणति है भी नहीं। मंगला की नई ब्यायी भैंस को गाँव का लंबरदार हड़प लेना चाहता है। मालिक को तड़फता देख भैंस प्रतिरोध का मोर्चा संभालती है। यह प्रतिरोध-कथा बहुत प्रभावशाली बन पड़ी है। सांभरिया ने स्वाभाविकता का पूरा ख़याल रखा है। कहानी प्रेम के दायरे का विस्तार करती है।

मोहनदास नैमिशराय ने 'स्वप्नदर्शी' कहानी में फेसबुकिया प्रेम की कथा कहनी चाही है। कहानी विश्वसनीयता की बहुत परवाह नहीं करती। पेशे से इंजीनियर समीर का संपर्क शर्मिला कुलश्रेष्ठ से होता है। संपर्क तत्काल प्रेम में तब्दील होता है। बिना मिले ! शर्मिला ब्राह्मण है और समीर की जाति जानने में उसकी कोई दिलचस्पी नहीं ! दोनों पहली बार दिल्ली के कनाट प्लेस के इनर सर्कल में मिलते हैं। प्रोफाइल पिक्चर से मिलान करते-करते वे एक-दूसरे का नाम पूछते हैं। नाम जानने के बाद लेखक अपने नायक को पारंपरिक भूमिका में उतार देता है- ''उसने उसे बांहों में ले लिया। शर्मिला बदहवाश-सी उसकी बांहों में क्षण भर में कैद हो गई। उसका शरीर कसमसाने लगा। ...बीस बरस के कुंवारे बदन को किसी ने पहली बार छुआ था।'' शर्मिला को बेशक नायक की जाति की परवाह न हो लेकिन डीएसपी पद से रिटायर ब्राह्मण पिता धनसिंह को कैसे नहीं होगी ! समीर की जाति का पता लगाकर धनसिंह लोकल थाने में एफआइआर करता है, उसके बॉस को फोन करके नौकरी से निकलवाने की चेष्टा करता है और उसी रात गुंडे भेजकर समीर को गंभीर रूप से घायल करवा देता है। कहानी का अंत धनसिंह की गिरफ्तारी से होता है। माडल टाउन थाने का सब-इंस्पेक्टर उच्च शिक्षित ओहदेदार समीर से जिस लहजे में पूछताछ करता है उससे पता चलता है कि न तो उसे अपनी नौकरी की चिंता है और न ही जेल जाने की- ''तेरी हिम्मत कैसे हुई एक दलित होकर ब्राह्मण लड़की से प्रेम करने की ?'' विचित्र यह भी कि इसी इलाके के एस.पी. उसके बड़े भाई के खास मित्र हैं ! अस्मितावादी विमर्श से कहानी इसी तरह गढ़ी जाती है।

अजय नावरिया की कहानी 'याचनापत्र' प्रेम का आभास कराती है। पहली नजर में ऐसा लगता है कि आत्मकथात्मक शैली में लिखी इस कहानी का नायक सच्चे प्रेम की तलाश में है। उसकी जिंदगी में सुचरिता राय के आने से यह तलाश पूरी होती प्रतीत होती है। वॉट्सएप और फेसबुक में डोलते हुए प्रेम का परिपाक होना है। मगर यह 'परिपाक' बिलकुल नए तरीके से होता है। कथानायक का परिष्कार और परिमार्जन करते हुए। उसे सभ्य बनाते हुए। संभावित परिष्कार से पहले की परिष्कृति का आलम यह कि नायक अपनी 'परफेक्ट मिसमैड' पत्नी अंजलि की काया पर सुचरिता राय को सुपरइम्पोज करता है। अंजलि को इसकी भनक नहीं लगती- ''आह यह (मेरी) कैसी मनोलीला थी! वह बेचारी मुझे अपने साथ समझ रही थी और मैं...'' सुचरिता से टेलीपैथी की आशा लगाए नायक पूछता है- ''पता नहीं तुम्हें पता भी चला था कि नहीं...महसूस हुआ था क्या? पत्नी को भी नहीं पता चला। वह तो इस कदर आनंदमग्न थी कि जैसे धन्य थी। कहा भी था उसने 'भीषोन'...'' नायक उदार है। वह दलित है लेकिन प्रेम में जाति-पांति नहीं देखता। दूसरी तरफ दलित लड़कियां जाति देखकर प्रेम करने या न करने का निर्णय करती हैं। इस 'तथ्य' को कहानीकार अपने नायक के अनुभवों से साबित करता है। नायक का एक द्विज मित्र है। वह कुसुम के पीछे दौड़ रहा है जबकि कुसुम, ''वह मुझे पसंद करती थी। शुरू में मुझे इसका सिर्फ संदेह था, जो महीने भर में स्पष्ट हो गया कि वह मुझे प्रेम करती है। उसने साफ शब्दों में कहा कि वह मुझसे शादी करना चाहती है।'' नायक अपनी पारिवारिक/वैवाहिक स्थिति कुसुम को बता देता है। ''इसके बाद भी वह पीछे नहीं हटी।'' कुसुम के लिए अपशब्द बोलते श्रीकांत को वह चुनौती देता है- ''तुम या तुम्हारा कोई सवर्ण दोस्त उससे शादी क्यों नहीं कर लेता?'' नायक में विलीन होने के लिए फिर नई युवती आती है। नाम है सिमरन। सिर्फ सिमरन नहीं, सिमरन रंधावा। नायक यहां भी कुछ छिपाता नहीं। बता देता है कि उसकी जिंदगी में पहले से एक पत्नी और बेटी है। सिमरन को इससे कोई दिक्कत नहीं। वह अंजलि को अपनी बड़ी बहन मान लेती है। नायक के मन में उठते हिलोर को इस तरह शब्द मिलते हैं- ''आह, अब भी इतनी चमक बची है मुझमें! कैसी गोरी गट्ट और मजबूत लड़की। कई आशिक होंगे इसके पीछे - और ये मेरे पीछे दीवानी हो रही है!'' इस 'आकुल प्रेम' के बावजूद नायक उसे अपनी जिंदगी में नहीं लाता। उसकी स्वीकारोक्ति है- ''यकीनन, सिमरन मुझे ऐसी कभी नहीं लगी कि मैं इतना बड़ा दांव लगा सकूं... सामाजिक प्रतिष्ठा, बेटी और पत्नी।'' इस डराते प्रेम का अंत नायक सिमरन को फेसबुक पर 'अनफ्रेंड' करके करता है। परास्त होती सिमरन आखिर में राज़ खोलती है कि वह ''रंधावा सरनेम लगाती जरूर है पर वह किसी अनुसूचित जाति से है।'' नायक इस संबंध को ख़तम करके भी ख़तम नहीं करता। संकट के बाद सुरक्षित उतरते हवाई जहाज में वह नीम बेहोशी की हालत ('ट्रांस') में चला जाता है। यहां उसे एक-एक कर सभी प्रेमिकाएं मिलती हैं- कुसुम, सिमरन और सुचरिता। उसकी सहयात्री सिमोना बगल में बैठी है। गोद में बच्ची लिए सिमरन आती है- ''अगले जन्म में बस मुझे आप ही का होना है...'' यह कहानी प्रेम के लिए नहीं, अपने कौतुक और भाषा में रवानी के लिए याद की जा सकती है। आत्मरति को प्रेम का नहीं, आत्ममुग्धता का ही पर्याय माना जा सकता है।

डॉ. पूरन सिंह की कहानी 'एक और सावित्री' पौराणिक प्रतीकों और विश्वासों का 'सदुपयोग' करते हुए बनी है। नीलेश जाति से भारद्वाज (ब्राह्मण) है और सरस्वती सफाई कामगार समुदाय से हैं। साथ पढ़ते उनमें प्रेम विकसित होता है। विवाह का प्रस्ताव नीलेश करता है लेकिन पिता गजेन्द्र भारद्वाज की जात्याभिमानी जिद के समक्ष समर्पण कर देता है। इस समर्पण में सरस्वती का सहयोग और स्वीकृति है। उसकी शादी सुनयना से कर दी जाती है। शादी के बाद नीलेश स्वस्थ नहीं रहता। सरस्वती से बिछोह उसे खाए जा रहा है। माता-पिता भी अब अप्रकट रूप में पछता रहे हैं। नीलेश एड्स की चपेट में आ गया है। सुनयना उसे छोड़कर दूसरा घर बसा लेती है। फिर उसके जीवन में सरस्वती की वापसी होती है। उसे आया देखकर गजेन्द्र अपराधबोध में डूबकर बोलते हैं- ''बेटी सरस्वती, मेरा अपराध यूं तो क्षमा करने योग्य नहीं है लेकिन हो सके तो मुझे माफ़ कर देना। मेरा नीलेश सत्यवान की तरह है। अब अगर तुम सावित्री बनना चाहती हो तो मैं कौन होता हूँ तुम्हें रोकने वाला।'' अपनी सरलता में यह कहानी अंतरजातीय विवाह का पक्ष लेती है और प्रेम को गोत्र-बंधन से ऊपर रखती है।

शुद्ध विमर्श की कहानी है बिपिन बिहारी की 'प्रेम की बुनियाद'। किसी महाविद्यालय के किसी डिपार्टमेंट में लगभग सारी फैकल्टी ब्राह्मणों की है। इस विभाग के प्रोफ़ेसर हैं- सुमधुर मिश्रा, अचरज पांडेय, अजुध्या पाठक, संज्ञा शुक्ला, संपदा मिश्रा। एक मात्र दलित शिक्षक हैं संतराम। सभी प्रोफ़ेसर संतराम की जाति जानने के लिए संघर्षरत रहते

हैं। घोर जातिवादी समाज में इस संघर्ष का विफल रहना आश्चर्य में डालता है। ज्ञानदा ठाकुर नई ब्राह्मण प्रोफ़ेसर बनकर आई हैं। सभी विभागीय पुरुषों की नज़र उन पर है। संकट में संज्ञा शुक्ला हैं। सुमधुर मिश्रा अब उनसे मुंह जो चुरा रहे हैं। ब्राह्मणों का विभाग है इसलिए सेक्स के अतिरिक्त और कोई चर्चा नहीं होती– ''पचास भी सेक्स के लिए माकूल उम्र होती है। पत्नी मेनोपोज हो गई हैं क्या...'' विभाग में सिर्फ संतराम थे जिनका ''इन सारी बातों से कोई सरोकार नहीं था।'' कहानीकार ''ब्राह्मणी आदर्श का एक नमूना'' संज्ञा–ज्ञानदा संवाद के माध्यम से प्रस्तुत करता है– ''मैं छिनाल तो तुम भी छिनाल।'' ज्ञानदा 'खेली–खाई' सबके लिए सुलभ हैं। उनकी ''भौगोलिक स्थिति'' का बयान कहानीकार इस तरह करता है– ''हिमालय की चोटियों सी उसकी छातियां, चोटियां दुपट्टे से बेखबर, होंठों की लाली इस तरह लग रही थी जैसे पके हुए आम के छिलके उतार दिए गए थे। और–और भी बहुत कुछ दर्शनीय था जिसे देखकर पुंसत्व से विकलांगों के भीतर भी कुछ–कुछ अंकुराने लगता।'' ज्ञानदा ठाकुर प्रेम की बुनियाद देह को मानती है और रहस्योद्घाटन करती है कि संतराम उससे प्रेम करने लगे हैं! संतराम प्रेम और शरीर को अलगा कर देखने के हिमायती हैं। ज्ञानदा संतराम से कहती है– ''यदि आप चाहें तो कहीं भी सुलभ हो सकती हूं।'' भौंचक संतराम प्रेम को शरीर से अलगाने की बात करते हैं और इस तरह ज्ञानदा से अपना अशरीरी प्रेम बताते हैं। ज्ञानदा का जवाब है– ''लेकिन मैं नहीं, मैं आपसे प्रेम नहीं कर सकती। कहिए तो मैं अपने भूगोल के साथ आपके समक्ष उपस्थित हूँ।''

हीरालाल राजस्थानी की कहानी 'हड्डल' दो भिन्न वजहों से उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है। यह शायद पहली कहानी है जो कला महाविद्यालय में पहुंचे दलित विद्यार्थियों का चित्र उकेरती है। दूसरी वजह यह कि कहानी पुरख़ुलूस ढंग से आतंरिक जातिवाद का मुद्दा उठाती है। रचित और तूलिका डिपार्टमेंट ऑफ़ फाइन आर्ट्स के विद्यार्थी हैं। दोनों दलित समुदाय से। दीर्घ साहचर्य उनमें प्रेम उपजाता है। रचित कमजोर आर्थिक पृष्ठभूमि से है जबकि तूलिका की पारिवारिक पृष्ठभूमि किंचित बेहतर है। रचित की मां मजदूरी करती हैं। पिता नहीं रहे। दोनों विवाह करना चाहते हैं। इसमें कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। मगर बाधा है, विकट बाधा। बाधा यह कि रचित खटीक जाति का है जबकि तूलिका जाटव। रचित अपनी मां को समझाता है, दोनों पक्ष शिड्यूल कास्ट के हैं, यह तर्क देता है। मां पर इसका कोई असर नहीं होता। वह उलटे बेटे को डांटती है– ''अरे तू पागल हो गया है जो अपना धर्म भ्रष्ट करने पर तुला है!'' दूसरी ओर तूलिका के घर वाले उसकी पिटाई करते हैं और उसे घर में ही कैद कर लेते हैं। जातिवादी समाज में प्रेम कितना आत्मघाती है, कहानी इस तथ्य को बखूबी उजागर करती है।

कैलाश चंद चौहान की पहचान मंजे हुए कहानीकार के तौर पर उभर रही है। उनकी कहानी 'प्यार जिसे कहते हैं' पुरुष मानसिकता का उद्घाटन करती है। प्रेम के जिस सिलसिले को पुरुष जीवन की स्वाभाविक गति बताकर स्वीकार्य बनाता है, रंचमात्र भी वैसी छूट स्त्री को नहीं देना चाहता। आत्मकथात्मक शैली में लिखी कहानी का नायक दलित समुदाय से है। उसके जीवन में पहली बार पारुल आती है। कॉलेज के दिनों में। पारुल खुद ही विवाह का प्रस्ताव रखती है। कथा नायक की मां को कोई दिक्कत नहीं लेकिन पिता इस संबंध को मंजूरी नहीं दे सकते। पारुल की जाति ब्राह्मण जो है! मजबूर नायक का विवाह शिखा से हो जाता है। वह दो बच्चों का बाप है। पत्नी से बेतरह प्रेम करता है। ऑफिस आते–जाते उसका परिचय मान्या से होता है। मान्या भी नौकरीपेशा है और इस अर्थ में स्वतंत्र। नायक उससे प्रेम करने लगता है। पहल यद्यपि मान्या ही करती है। दोनों इस प्रेम को विवाह में नहीं बदलते। इधर शिखा नायक की सहमति से एक एन.जी.ओ. ज्वाइन कर लेती है। हफ्ते में दो दिन जाना है। एक शाम उसे लौटने में थोड़ी देर हो जाती है। नायक की उद्विग्नता तब चरम पर पहुँचती है जब वह अपने घर के छज्जे से शिखा को कार से उतरते और कार चालक एनजीओ के मालिक पुष्पेंद्र को विदा करते देखता है। इधर मान्या का फोन लगातार आ रहा है उधर नायक का मूड उखड़ चुका है। प्रेम की 'स्वाभाविक' शृंखला चरमरा चुकी है।

प्रेम के विविध पक्षों को प्रस्तुत करने वाली, स्त्री–पुरुष संबंधों में निहित वर्चस्व की अनगिनत परतों का संज्ञान लेने वाली, प्रेम–नैतिकता और आत्मोन्नयन के रिश्ते पर ध्यान दिलाने वाली, आत्मविस्तार की जरूरत महसूस कराने वाली, वर्ण–जाति सरंचना में अनुस्यूत पितृसत्ता को चिन्हित करने वाली, परिवार की जनतांत्रिक पुनर्रचना की आवश्यकता का प्रश्न उठाने वाली तथा खुद को पहचानती, रचती नई दलित स्त्री और उसके साथ नए 'जेंडर सेंसिटिव' दलित युवा

को सामने लाने वाली नए दौर की ये कहानियां बहुत मूल्यवान हैं। ये दलित लेखन के विस्तृत होते सरोकारों का सबूत देती हैं और बताती हैं कि इस समाज का आमूल नवनिर्माण उनका भी दायित्व है।

इसके साथ अस्मितावादी विमर्श से निकली हुई वे कहानियां भी विचारणीय हैं जो अपने सीमित उद्देश्यों के कारण जाति के ढाँचे को स्थाई मानकर कथाभूमि का निर्माण करती हैं। प्रेम जिनके लिए एक बहाना भर होता है। कुंठित यौन दृष्टि जिसके आवरण में छिपकर अपना पोषण करती है। स्त्री को देह तक सीमित कर देने वाली उनकी सोच पारंपरिक मर्दवादियों से कतई भिन्न नहीं है। परिवार से लेकर व्यापक समाज तक जो न्याय, समता और मुक्ति की स्थापना करने में लगे हैं उन्हें इस चुनौती का भी संज्ञान लेना होगा।

फ्लैट नं.204, दूसरी मंजिल,
मकान नं. T-134/1, बेगमपुर,
नई दिल्ली-110 017
मो. 9868 26 1895
Email- bajrangbihari@gmail.com

अमिय बिन्दु

समकालीन हिन्दी कहानी का स्त्री पक्ष

मनुष्य शब्द से एक विचारशील, विवेकशील और स्वतंत्रचेतस प्राणी की अनुभूति होती है जिसके पास अपना एक मानसिक संसार होता है। बिडंबना यह है कि मनुष्य कहते ही आमतौर पर ज़ेहन में पुरुष की आकृति उभर आती है। इससे भी अधिक संघनित बिडंबना यह है कि विचारणा, विवेक और स्वतंत्रता की त्रयी के पैमाने पर स्त्रियों को कमतर समझा जाता रहा है। कितनी बारीकी से स्त्रियों के मनुष्य होने पर प्रश्न उठाया गया और उन्हें समाज में दोयम दर्जा दिया गया इसका सबसे मौलिक और ट्रांसफॉर्मेशनल अध्ययन सिमोन द बोउवार ने किया है। उनकी मौलिकता यह है कि उन्होंने सदियों से प्रचलित समझ को परत दर परत उघाड़ते हुए बिल्कुल उस बिंदु से सोचना शुरू किया जबकि मार्केज के औपन्यासिक गांव की तरह अभी दुनिया बननी शुरू ही हुई थी, हर चीज का नामकरण नहीं किया गया था। उन्होंने प्रकृति को सीधे प्रश्नगत किया कि क्या वह पुरुषों के सम्मुख एक और प्राणी रचने के लिए विवश थी ? क्या स्त्री को उसने दूसरे तत्वों से बनाया था ? क्या स्त्री की पहचान मात्र उसके जेण्डर के चलते है ? विकासवाद को धता बताते हुए उन्होंने कई प्रस्थापनाएं भी दी थीं कि किस तरह जटिल संरचना वाले प्राणियों में भी इस तरह का जेण्डर विभाजन अनिवार्य तत्व नहीं है। मगर अफसोस! उनका यह प्रयास बाद के बरसों में एक बहस में तब्दील होकर रह गया। बहस का औजार भाषा थी जिसका निर्माण पुरुषों ने किया था। कितनी संजीदगी से इस अंतर को व्याकरण में स्थान दिया गया और भाषा स्वयं अपनी प्रवृत्तियों में लैंगिक बन गई। मानो सारे अंतर, सारे मूल्य और सारे दृष्टिकोण प्राकृतिक करार दिए गए हों। यदि व्याकरण में लिंग की अवधारणा नहीं आई होती तब भी क्या स्त्रियों की यही स्थिति होती ? क्या बिल्कुल सिरे से प्रकृति के सारे तत्व दो समूहों में विभक्त थे ? कि नदियां स्त्रैण थीं और पहाड़ पुरुष ? साहित्य तो भाषा का विस्तृत, व्यवस्थित और संघनित रूप मात्र है।

साहित्य शून्य में जन्म नहीं लेता। वह आसपास के वातावरण से प्रभावित होता है। इस वातावरण में समाज, संस्कृति, सभ्यता, राजनीति, अर्थव्यवस्था सब कुछ शामिल है। वातावरण का प्रभाव कथ्य के साथ-साथ साहित्य के शिल्प जिसे हम रूपाकार कह सकते हैं, पर भी पड़ता है। कहानी विधा कहने को हिन्दी साहित्य के लिए नई विधा है मगर कथा-कहानियां सदियों से हमारे संस्कारों में रची बसी हैं। बिलकुल शुरूआत से समाज पण्डितों ने जान लिया था कि विचारधारा के निर्माण में कथाएं सबसे अहम हैं। कथाओं को नाटकों और नृत्यों के माध्यम से पेश किया गया और दृश्यावलियों के माध्यम से एकाधिक ज्ञानेन्द्रियों को नत्थी कर पूरे समाज में विचारधारा को मजबूत किया गया। देश में साहित्य मात्र पठनीय कभी नहीं रहा। मानसिक संसार में एक कल्पनालोक तो बनता ही है मगर भौतिक मंचों पर भी इन्हें प्रस्तुत किया गया। रामायण और महाभारत जैसे ग्रन्थों का इतना व्यापक मंचन शायद ही किसी राष्ट्र की संस्कृति में शामिल हो। हम मनसजीवी हैं तो इसके पीछे सदियों और सहस्त्राब्दियों की वह शाब्दिक परंपरा है जो जनमानस में इतने गहरे से रच बस गई है कि हम उसे खुरच खुरच उतारते हैं फिर भी छुटकारा नहीं पाते, ऐसा महसूस होता है।

स्त्री, आधी दुनिया है थोड़ा भी कम नहीं बल्कि कुछ बेशी ही। संख्या की बात तो राजनीतिक है, मगर समाज, सभ्यता और कायनात में उसकी भूमिका को लेकर ऐसा कहा जा सकता है। इस विषय पर कलम उठाना भी भारी काम है फिर साहित्य के आईने में एक लेख के माध्यम से उनका पक्ष रखना और भी मुश्किल। समकालीन शब्द भी अपने में व्यापक अर्थों को समेटे हुए और बहुस्तरीय है। इसलिए स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि लेख में ऐसी कहानियां हैं जो प्रथमतया ईसवी दो हजार और उसके बाद प्रकाशित हुई हैं या फिर इस दौरान वे चर्चा में रही हैं और उनका सरोकार स्त्रियों की समस्याओं से रहा है। हाल के दशकों में लेखन में जबर्दस्त उछाल आया है और बहुतेरे लोग लिख रहे हैं। कुछ लंबे समय से तो कुछ ने नई पारी शुरू की है तो कुछ बिलकुल नए लोग भी आए हैं। कोशिश रही है कि सभी को प्रतिनिधित्व मिले लेकिन स्थान, समय और क्षमता की सीमाओं के चलते बहुत कुछ छूट भी गया है। सहूलियत का तकाजा यह भी कि रचनाओं को किसी प्रतिनिधिक धारा के रूप में शामिल किया गया है लेकिन सभी धाराएं भी समेटी नहीं जा सकी हैं।

आदिकाल में निश्चित रूप से पुरुषों के पास अधिक समय और स्पेस था। मातृत्व का दायित्व संभालने के चलते स्त्रियों के लिए इन दोनों चीजों की सीमितता थी। इसी बढ़त का फायदा उठाते हुए पुरुष अधिक सक्रिय हुए और समाज की रचना इस तरह होती गई कि वह अधिक से अधिक पुरुष प्रधान होता गया। मातृपूजा वाली सभ्यताओं में महिलाओं को तवज्जो तो दी गई लेकिन उनके रूप पूजन को महत्ता देकर वास्तविक नियंत्रण पुरुषों ने बनाए रखा। यह सब कुछ इतनी शुरूआत से हुआ है कि समाज के इस विभाजन को साहित्य में भी सहज और प्राकृतिक समझ लिया गया है। हिन्दी में खड़ी बोली साहित्य की शुरूआत आधुनिकता बोध के बाद हुई और उस समय तक स्त्रियों के लिए आवाजें उठने लगी थीं। स्वतंत्रता के बाद सातवें आठवें दशक में जिस नारीवादी आंदोलन ने जोर पकड़ा वह मूलगामी था। साहित्य में इसकी धमक राजेन्द्र यादवजी जैसे पुरोधाओं के सान्निध्य में काफी तेज सुनाई पड़ी। स्त्री लेखकों के आगमन और भोक्ता के यथार्थ की अवधारणा से अच्छी गति मिली और साहित्य में स्त्री अधिकारों पर बोल्ड और सार्थक रचनाएं पढ़ने को मिलीं। सदी का बदलना समय के रेखीय प्रवाह में कोई आकस्मिक बदलाव नहीं है लेकिन नब्बे के दशक में वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की त्रयी ने राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी पक्षों पर प्रभाव डाले। इसके प्रभाव की ठसक नई सदी के साथ मुखर होती गई। कुछ रचनाएं उस दौर की भी हैं जिनसे इस बदलाव को समझने में सहायता मिल सकती है।

जब भी स्त्रियों की स्थिति पर चर्चा होती है पुरुष बड़ी सहजता से यह कहता हुआ निकल जाता है कि स्त्रियां ही स्त्रियों की ज्यादा बड़ी शोषक हैं और बदले में सास-बहू, ननद-भौजाई जैसे संबंधों को गिना देता है। जबकि उसके पीछे सदियों की मानसिक कंडीशनिंग और पितृसत्तात्मक सोच के महीन धागों की बुनावट को उधेड़ने की जहमत नहीं उठाता। मन्नू भण्डारी अपनी रचनाओं में इन रेशों को बिना शोर मचाए उधेड़ती चलती हैं। इस क्रम में उनकी कहानी 'अकेली' की याद आती है जिसकी नायिका सोमा बुआ बुढ़िया हैं, परित्यक्ता हैं और अकेली हैं। इन प्राथमिक शब्दों

से ही वे पितृसत्ता के रेशों को अलगाती चलती हैं। पुरुष जिस स्त्री को शोषक मानता है सोमा बुआ वैसी ही बुढ़िया हैं। उनके पति जीवित हैं लेकिन जवान पुत्र के असामयिक निधन के कारण मानसिक संत्रास से निजात पाने हरिद्वार में शांतिलाभ कर रहे हैं और इस त्याग के कारण सोमा बुआ अकेली हैं। मन्नू भंडारी की नायिकाएं बहुत मुखर नहीं रहतीं और न कोई मूलगामी निर्णय लेती हैं लेकिन स्त्रियों के मानसिक जगत की सैर बखूबी कराती हैं।

यह 'शोषक स्त्री' किस तरह जीवन के उत्तरार्द्ध में भी सामाजिक संरचना के चलते पिस रही है, कहानी बखूबी उकेरती है। बरस में एक महीने के लिए फूफा आते हैं लेकिन उस दौरान भी वे अपने पूर्वाग्रहों से ऊपर नहीं उठ पाते। हरिद्वार में शांतिलाभ की उनकी चेष्टा बेमानी है। वे समाज की सड़ चुकी मान्यताओं को ढोने को तत्पर हैं। जवान पुत्र की मृत्यु का ज्यादा असर माँ पर होना चाहिए लेकिन उसके मानसिक संसार की चिंता किसी को नहीं है। क्यों? क्योंकि पुत्र केवल संतान नहीं होता वह विरासत को आगे बढ़ाने वाला भी होता है। क्या जवान बेटी की मृत्यु पर भी सोमा बुआ के पति इस तरह हरिद्वार चले जाते? बुआ के साथ रहते समय वे पितृसत्तात्मक संरक्षक के रूप में उपस्थित रहते हैं और सोमा बुआ पर शासन चलाते हैं। इस अधिकार की टूटन पुरुषों में बड़ी तड़प पैदा करता है। वह किसी भी तरह इसे छोड़ना नहीं चाहता। इसलिए स्त्रियों का अपने अधिकार की बात करना अक्सर पुरुषों के विरुद्ध खड़ा हो जाता है। हरि भटनागर की कहानी 'शर्म' ऐसे ही पुरुष सत्ता के दरकने की टीस को उभारती है। कहानी की नायिका गाँव की एक ऐसी औरत है जिसका संबंध क्षेत्र के दुर्दांत डाकू गुर्जर से है। गुर्जर के पीछे पुलिस पड़ी है और उसकी टोह लेने पुलिस अधिकारी उस औरत के पास आता है।

खास बात यह है कि औरत का अपना पति भी है। मरियल और कमजोर सा ही सही मगर है तो पति। इसलिए पुलिस वाला उसे भड़काता है। 'तुम इसके आदमी हो? ....उसने झुकी गर्दन, नीची आँखों गहरे अफसोस में 'हाँ हुजूर' कहा और हँड़ीली छाती पर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। यह उस पुरुष की तस्वीर है जो औरत के आत्मविश्वास के सम्मुख कँपा हुआ है। औरत ने पुलिस वाले की बातों का जवाब देने से मना कर दिया था। बिडम्बना तब और गहरी लगने लगती है जब वह पुलिस वाले से कहता है कि मेरी जगह आप होते तो शरम तो आपको भी नहीं आती और यह बात उसके कलेजे में ठुक गई जिसे वह कभी भुला नहीं सकता था। इतनी थोथी है पुरुष की सत्ता!! स्त्री के पैर साधकर खड़े भर हो जाने से वह डगमगाने लगता है!! सोमा बुआ भी खम ठोंककर खड़ी हो जातीं तो फूफा के पास कोई रास्ता नहीं बचता लेकिन मानसिक कंडीशनिंग ने इस कदर दबोच रखा है कि बहुत सी स्त्रियों ने स्वयं लक्ष्मण रेखा खींच ली है। एक तरफ वह स्त्री के आत्मविश्वास को अपनी शर्म कहकर किसी तरह जी लेने को तैयार है और दूसरी ओर हर तरह से प्रिय पत्नी बुआ के मानसिक संसार में प्रवेश करना मुनासिब नहीं समझते फूफा। उन्हें हरिद्वार भले न ले जाते मगर उनकी खुशी में रजामंदी तो जाहिर कर सकते थे।

सोमा बुआ इस औरत से भिन्न हैं, वे मां भी हैं, अपने एकमात्र और मृत बेटे की आखिरी निशानी सोने की अंगूठी सिर्फ इसलिए बेच देती हैं कि रिश्तेदार की लड़की की शादी में कुछ शगुन लेकर जा सकें। मगर फूफा के आदेश का उल्लंघन नहीं कर पातीं। दूसरी ओर वह औरत पति की कोई बात नहीं सुनती। मगर खतरे यहां बहुस्तरीय हैं। एक तो यह कि स्त्री किसी भी स्तर पर पुरुष की सहचर नहीं बल्कि अधीनस्थ बनकर रह जाती है। दूसरे, उनकी यह मानसिक कंडीशनिंग कि आज्ञापालन, समारोहों में भागीदारी, गलकचरा, सजना संवरना उनके प्राकृतिक गुण हैं, की सीमाएं भी पुरुष ही निर्धारित करता है। तीसरे, निर्णायक हमेशा पुरुष होता है भले वह पत्नी को, समाज को छोड़ चुका हो। क्या बेटे के मरने का आघात बुआ को नहीं लगा होगा? क्या उसे अपना मन बहलाने का साधन ढूढ़ने की स्वतंत्रता नहीं है? इसी तरह क्या गांव की उस औरत को अपनी निजता का अधिकार नहीं था? क्या परस्त्री गमन की अपेक्षा परपुरुष गमन अधिक शर्मनाक है?

छानबीन करें तो पितृसत्ता की यह संरचना इतनी जटिल नहीं है कि इसे तोड़ा न जा सके। यह बहुत ही कृत्रिम और खोखली नींव पर टिकी है। इसे बनाए रखने के लिए पुरुष को हर क्षण चौकन्ना बने रहने की जरूरत होती है। एक पल को भी उसका ध्यान भंग हुआ नहीं कि दीवार ढही।

महेश कटारे की कहानी 'अतिरिक्त का अकस्मात' में नायिका मीरा एक झटके से इसे ढहा देती है। मीरा भी साधारण स्त्री है जिसका पति कंठी लेकर घर छोड़ चुका है। उसके खेतों तथा उस पर गाँव भर के दबंगों की नज़र है। वह गाँव के बड़े बुजुर्गों पर भरोसा करती हुई चुपचाप जीवन जीने की कोशिश करती है। मीरा, जिस हरवीर सिंह के पास अपनी सुरक्षा की गुहार लेकर जाती है उन्हीं का पुत्र रतन सिंह गाँव का सरंपच बनना चाहता है। वह वोटों की खातिर किसी को कुछ नहीं बोलता और न ही किसी को अपने विरोध में खड़ा करना चाहता है।

मीरा इस मायने में सोमा बुआ की अपेक्षा आधुनिका है कि वह सामाजिक संबंधों और राजनीतिक सत्ता के गठजोड़ को समझती है। वह भी ग्राम सभा के चुनाव में परचा भर देती है। उसे धमकाया जाता है, डराया जाता है। स्वयं हरवीर सिंह उसे चेतावनी भरे लफ्जों में ताकीद करते हैं कि चुनाव वगैरह भलमनसाहत का काम नहीं है। मगर मीरा, रतन सिंह के अवहेलना की बात याद दिलाकर उन्हें निरुत्तर कर देती है। सत्ता में भागीदारी से महिलाओं की स्थिति पर फर्क पड़ने के ढेरों उदाहरण पंचायती राज व्यवस्था में हैं। उन्होंने अपने पतियों या पुरुष संरक्षकों को नेपथ्य में कर स्वयं बड़े और बोल्ड निर्णय लिए हैं। राजनीतिक शक्ति पर उनकी जकड़ ने निश्चित रूप से उनमें आत्मविश्वास भरा है लेकिन सामाजिक संरचना पर इसका कितना असर हुआ है इस पर और अध्ययन की जरूरत है। अभी भी ऐसे समाचार आते हैं कि स्वयं महिला सरंपच कहीं इज्जत के नाम पर बेटियों को मारने के लिए तत्पर हैं तो कहीं कन्या भ्रूण हत्या में आगे बढ़कर सहायक हैं। क्या स्त्रियों का मानसिक संसार सामाजिक संरचना की गहन परतों के नीचे दबा है ? आखिर इन्हें इस बात का इल्म क्यों नहीं है कि वे जो सोच रही हैं वह दरअसल पुरुषवादी सत्ता का थोपा हुआ विचार है ?

मीरा एकल व्यक्तित्व नहीं है। वह उस स्त्री समूह का प्रतीक है जो पुरुषों को उसी की भाषा में जवाब देना जानती है। उसका चुनाव लड़ने का निर्णय कोई एकल निर्णय नहीं था। गाँव की सभी औरतें उसके साथ थीं। बिना कोई शोर शराबा किए, बिना नारी शक्ति का झंडाबरदार बने अपने और अपने बच्चों के भविष्य को ध्यान में रखकर सभी महिलाएं एक होती गईं। सामूहिक चेतना के बदलने की एक झलक तब दिखती है जब हरवीर सिंह मीरा को समझाने पहुंचते हैं। कहीं मीरा भावुकता में कदम पीछे न खींच ले, उनका लिहाज न करने लग जाए, सारी औरतें उसके आसपास जमा हो गईं। हरवीर सिंह को एक औरत के संरक्षक होने का जो बोध था, एक झटके से बह गया। इस तरह यह कहानी सिर्फ मीरा की पीड़ा नहीं व्यक्त करती बल्कि गहराई में पितृसत्तात्मक संरचना के पैरोकार और सबसे उच्चतम पायदान पर अवस्थित हरवीर सिंह में भी निरर्थकता बोध जगाती है।

परिवार, पितृसत्तात्मक संरचना का सबसे मजबूत स्तर है। मीरा को गांव की स्त्रियों का साथ भले मिल गया मगर परिवार में स्त्रियों को सबसे तीखा विरोध महिलाओं से ही मिलता है। इस तरह की कहानियों में अक्सर द्वन्द्व दिखलाया जाता है लेकिन मूलगामी प्रश्न करती हुई कहानियां नहीं दिखतीं। ममता कालिया की कहानी 'बोलने वाली औरत' अपने शीर्षक में ही स्त्रियों पर खामोशी से तीखा तंज कस जाती है। मानो स्त्रियां बोलने के लिए नहीं होतीं, सोचने के लिए नहीं होतीं सिर्फ दिखने के लिए होती हैं। नायिका दीपशिखा की गलती बस इतनी है कि वह बातों का जवाब दे देती है। स्त्रियों, खासकर बहुओं की आचार संहिता में बोलने की बिलकुल मनाही है। 'बहू की तरह' रहने का जुमला इतना असरदार है कि सास, ननद ही नहीं छोटा सा बच्चा भी घर में आई नई बहू को सलीके सिखाने को उद्यत रहता है। बहू बनते ही स्त्रियों का मेटॉमारफॉस हो जाता है और वह बिल्कुल नई दुनिया की जीव बन जाती हैं। अच्छी और महान की कोटि में आने वाली सास और ननद अपनी जुबान नहीं बोलतीं मगर बड़ी मासूमियत से कहती हैं कि उन्हें कोई आपत्ति नहीं बस नात रिश्तेदारों और समाज के सामने निर्धारित आचार संहिता और ड्रेस कोड में रहे बहू।

हिन्दी में न जाने क्यों ऐसी कहानियां बहुत कम हैं कि बहू रूपी नायिका प्रतिवाद दर्ज करती हो और अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाती हो। जबकि स्त्रियों के प्रति दोयम दर्जे का रवैया विवाह के बाद अपनाया जाता है। पिता, भाई या अभिभावक स्वयं तो चिंता में रहते हैं कि बेटी, बहन की शादी कैसे होगी ? कहां होगी ? लेकिन अपने यहां आने वाली बहू का शोषण करने या उसमें भागीदारी करने में

पीछे नहीं हटते। यहाँ तक कि संयुक्त परिवारों के बिखरने का दायित्व अक्सर स्त्रियों पर डाला जाता है और ऐसा दिखलाया जाता है जैसे एक बहुत अच्छी और भव्य परंपरा का अंत उनकी उच्छृंखलता, उनकी स्वतंत्रता और उनके विपथगमन के कारण हो गया। संपत्ति में लड़कियों की भागीदारी तो अभी बहुत हाल की घटना है जबकि संयुक्त परिवार के टूटने की घटना दशकों पहले शुरू हो चुकी थी। दुहाई दी जाती है कि संयुक्त परिवार टूटने से बच्चों और बुजुर्गों की स्थिति पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। मगर संयुक्त परिवार होते हुए भी पिछली कहानी के हरवीर सिंह की स्थिति दिखलाती है कि सामाजिक संरचना की बिडंबना में बुजुर्गों का नेपथ्य में चलते चले जाना एक नियति है। 'चीफ की दावत' में भी बूढ़ी माँ को उसका पुत्र ही छिपाता है। इस पर गहरे अध्ययन की जरूरत है कि टूटन के पीछे कितना असर स्त्रियों की स्वतंत्रता और उच्छृंखलता का है और कितना असर स्वयं पुरुषों की महत्वाकांक्षा का है?

परिवार की भव्यता और अपरिवर्तनीयता का तकाजा देकर पूरब भले अपनी श्रेष्ठता पर इतराए लेकिन सदियों से चली आ रही परंपरा में उठ रही सड़ांध से छुटकारा पाना जरूरी है। इसके लिए परिवार के प्रति स्त्रियों का नज़रिया बदलना चाहिए।इसकी एक झलक हृषिकेष सुलभ की कहानी 'अगिन जो लागी नीर में' में मिलती है। बिहार की सुदूर गांव में रहने वाली माधुरी देवी आधुनिका हैं जो अपने पति द्वारा परित्यक्त कर दिए जाने के बाद अपनी एकमात्र पुत्री को अपने दम पर पढ़ाती हैं। वे गांव के अस्पताल में मिडवाइफ हैं। कहानी हालांकि स्त्रियों की समस्या से कई स्तरों पर निबटती है लेकिन इसका एक सुंदर पक्ष कहानी का अंत है। दरअसल कहानी की नायिका सुवंथी सनेहा, माधुरी देवी की इकलौती संतान, पटना में ब्यूटी कांटेस्ट जीतकर ख्यातिलब्ध हो जाती हैं और गांव आते समय बरसों पहले घर छोड़ गए पिता को साथ लेकर लौटती हैं। माधुरी देवी अपनी बेटी की इस 'दया' को स्वीकार नहीं कर पाती। हालांकि गांव में रहते हुए वे अपने को सुहागिन बताती रही थीं। सिंदूर, बिंदी व चूड़ी जैसे सुहाग चिन्ह का प्रयोग करती थीं। लेकिन जब पति के लौटने की बात सुनती हैं तो उन चिन्हों से छुटकारा पा लेती हैं। माधुरी देवी की आधुनिकता इस मायने में अधिक अर्थपूर्ण है कि उन्होंने परिवार की भव्यता, पति का संरक्षकत्व और सहूलियत को अपनी अस्मिता के समक्ष नकार दिया। जबकि वे बड़े आराम से बेटी के सेटल हो जाने के बाद अपने पति के साथ जीवन का उत्तरार्द्ध बिता सकती थीं। लेकिन प्रश्न तो वही था कि उस उम्र में भी क्या उन्हें सोमा बुआ की तरह पति का मोहताज नहीं रहना पड़ता?

यह कहानी पीढ़ीगत द्वन्द्व को भी स्पष्ट करती है जो इन दशकों में और तीखा हुआ है। फेमिनिज़्म और जेण्डर स्टडीज पर काम करने वाली शिल्पा फड़के इस परिवर्तन को बहुत शिद्दत से महसूस करती हैं कि नई शताब्दी में लड़कियों ने थोड़ी सी स्वतंत्रता और सहूलियत को अपना दाय मान लिया है और स्वयं को स्त्री अधिकारों की पैरोकार बनने से अलग करने लगी हैं। उनका यह अध्ययन बहुत अर्थपूर्ण है कि सिर्फ निचले तबके की वंचित स्त्रियां ही नहीं बल्कि उच्च-मध्य वर्ग की खाते पीते घर की लड़कियां तो और भी पश्चगामी हो गई हैं। उन्हें पुरुषों द्वारा निर्धारित तथाकथित 'इज्जत' 'नाम' 'सहूलियत' 'थोड़ी उन्मुक्तता' से संतोष है। वे परिवार में अपने को 'गंदी लड़की' साबित नहीं करना चाहतीं। न ही समाज की नज़रों में 'उस' टाइप की लड़की बनना चाहती हैं जो स्त्रीवाद के नाम पर लेस्बियन संबंधों और देहमुक्ति के अभियानों में शामिल हैं। दरअसल इन दशकों में मुक्त बाजार ने अपने अदृश्य पंजे बड़ी तेजी से फैलाए और गांव गिरांव तक सिर्फ पानी और कोल्ड ड्रिंक की बोतलें नहीं पहुंचीं बल्कि थोड़ी-मोड़ी उन्मुक्तता की बयार भी पहुंची।

पीढ़ियों के इस द्वन्द्व में सबसे भयानक भूमिका अदृश्य बाजार ने निभाई। बाजार के लिए स्त्रियां सबसे साफ्ट टारगेट साबित हुई हैं। स्त्रियों को सहारा देने के साथ उसने एक झटके में उन्हें 'माल' या 'कमोडिटी' में तब्दील कर दिया। बाजार से खुलेपन और परंपराओं को तहस नहस कर देने की एक बयार सी चली और लगा कि अब सारी परंपराए, सारी वर्जनाएं बीते समय की बात बन जाएंगी। ऐसा नया समाज उठ खड़ा होगा जो अपने लिए नये मूल्यों की आधारशिला तैयार करेगा। मगर समाज औंधेमुंह बाजार के सम्मुख समर्पण कर बैठा और लोग समझ नहीं सके कि अचानक से हो क्या गया? त्यौहारों की संख्या एकाएक बढ़ गई, त्यौहारों में प्रतीक बढ़ गए, मन्दिरों-मस्जिदों-गिरिजाघरों

में लाइनों की संख्या बढ़ गई, ढेर सारे धर्म गुरूओं की बाढ़ आ गई और साथ में बुद्धू बक्से से इन सबको एक मंच मिल गया। यह मंच सामूहिक मंचन कर भीड़ नहीं जुटाता बल्कि हर किसी के बेडरूम में सर्वसुलभ बनकर अलग-अलग रह रहे मनुष्यों को भी एक डोर से बांधे रखता है।

सुवंथी सनेहा का एक पिछड़े गांव से पटना तक का सफर और फिर ब्यूटी कांटेस्ट में जीतकर रातों रात गांव की धड़कन बन जाना एकबारगी भले ही स्त्रियों की मुक्ति का दस्तावेज लगता हो लेकिन यह नई पीढ़ी का बाजार की गोद में बैठ जाने का दस्तावेज बन गया। निश्चित रूप से वह अपना निर्णय स्वयं लेने वाली और खालिस भावुकता में न पड़कर प्रेम को जीवन का एक अंग मानने वाली आधुनिका थी लेकिन अपनी मां के संघर्ष और मानसिक यात्रा में न तो साथ रह सकी और न उसे समझ सकी। बाजार की चकाचौंध में उसे भी यही दिखाई पड़ा कि सिंदूर और चूड़ियां पहने हुए उसकी मां दरअसल अपने पति का इंतजार कर रही है। इस चकाचौंध से पस्त सुवंथी की यह कहानी वस्तुत: पूरे देश की कहानी है। उस दशक में अचानक से भारत में सुंदरियों की बाढ़ आ गई थी और ऐश्वर्या राय, सुष्मिता सेन, लारा दत्ता और न जाने कौन-कौन विश्व सुंदरी ही नहीं ब्रह्माण्ड सुंदरी तक बन गईं और कई बरसों तक भारतीय सुंदरियां अंतिम तीन, अंतिम दस में जगह बनाती रहीं जब करोड़ों भारतीय धड़कन थामें टीवी स्क्रीन से चिपटे रहते थे और अचानक उसके बाद भारत में सुंदरियों का टोटा पड़ गया।

सुंदरता को स्त्रियों की मौलिक जरूरत की तरह पेश किया गया है। अस्त्र-शस्त्र के बाद सुंदरता का बाजार आज सबसे बड़ा बाजार है। हद तो यह है कि स्त्रियां स्वयं भी सुंदरता को अपनी प्राकृतिक जरूरत समझती हैं। इसके लिए पुरुष से झगड़ती भी है। इसी तरह तमाम बाध्यताएं उस पर लादी गई हैं। स्त्री मन के कई परतों को खोलती हुई, उसे कई कोणों से बेधती हुई और अंतत: उसी परम्परा से अपना स्वत्व तलाशती हुई स्त्री की एक झलक जयश्री राय की कहानी 'कायांतर' में मिलती है। नायिका फूलमती गांव की बहू है। पड़ोस में रहने वाली ललिता शहर से आई है और गांव के स्कूल में मास्टरनी है। फूलमती उसके यहां काम करती है और दोनों में एक अदृश्य बहिनापा उभरता है। दूसरी ओर फूलमती अपनी सास और पति बिगेसर की प्रताड़ना की जब तक शिकार होती रहती है। कारण कि फूलमती अपने आचरण में स्वच्छंद है और किसी से भी हँसी ठठा कर लेना, बात व्यवहार कर लेना उसका स्वभाव है। ललिता सब जानती है, देखती है, चुपचाप देखती भर रह जाती है। कुछ कर नहीं पाती।

फूलमती का प्रारंभिक प्रतिरोध बस इतना है कि वह अपनी आदतों से बाज नहीं आती और ललिता से बातें कर मन को हल्का कर लेती है। पति बिगेसर की हत्या हो जाती है तो विधवा फूलमती का जीना मुहाल हो जाता है। एक तो विधवा का सूना और रंगहीन जीवन दूसरे गांव के लोलुप पुरुषों की निगाहें। उसे सजना संवरना पसंद है वह तो मिलता नहीं दूसरी ओर देह पर जबर्दस्ती वाले घाव लगते जाते हैं। जब उसका मानसिक संसार आहत होता है तो उसे दौरे पड़ने लगते हैं। इस दौरे को देवी की सवारी आने से जोड़ दिया जाता है। वृहस्पतिवार के दिन लोग दर्शनों के लिए आते, वह उनसे श्रृंगार के सामान सिंदूर, साड़ी और चूड़ी मांगती और पैरों से मारकर आशीर्वाद देती। इस क्रम में पीछे जितने भी लोगों ने उसका या बिगेसर का शोषण किया था सबसे बदला ले लेती है। दरअसल स्त्री का देवी रूप पुरुष सत्ता बल्कि कहें कि पितृ सत्तात्मक संरचना की गुम्फन से निकला है और उसी रूप का प्रयोग फूलमती उस सत्ता से अपने बदले के लिए कर लेती है। स्त्री का यह कायांतरण दरअसल उसकी मानसिक संसार की यात्रा का साधन बन सकता था मगर उसे पूंजित परंपराओं तक सीमित रखा गया। और जिस धर्म के आवरण में सामाजिक रीतियों की पैकेजिंग कर पुरुष, स्त्री पर तरह-तरह की अशक्तताएं लादता है उसी के सहारे वह उन शक्तियों से बदला लेती हुई दिखती है।

श्रृंगार की वस्तुओं की मांग के अतिरिक्त प्रतिरोध में यह भी दिखता है कि स्त्री का भी मन करता है कि सब कुछ तहस नहस कर दे, शैतान बुद्धि वालों को पैरों तले कुचल डाले और कुछ न कर पाने की विवशता में कम से कम गालियों से दुश्मन को ढंक दे। लेकिन स्त्री के इस रूप को सामने नहीं लाया जाता। दरअसल देश में स्त्रियों के भी अविवाहित रह जाने की लंबी परंपरा थी जिसे कालांतर में नष्ट कर दिया गया। गार्गी की कथा भी कम प्रतीकवादी नहीं

है। ध्यातव्य है कि अधिकतर देवियां अविवाहित हैं। नवरात्रों में भी कन्याओं (कंजकों) को पूजने की प्रथा है। देवियों ने शारीरिक शक्ति के बल पर राक्षसों, दुर्जनों का संहार तक किया। बुरी शक्तियों से न सिर्फ स्त्रियों की बल्कि पूरे मानव जाति की रक्षा की मगर पूजा करते समय वे मातृरूपेण हो जाती हैं। धीरे-धीरे स्त्रियों को मातृत्व के दायरे में समेट दिया गया।

माँ बनना गौरवपूर्ण है, स्त्रियों की पूर्णता है या उनके जीवन की सार्थकता है यह सोच कोई प्राकृतिक सोच नहीं है। इसे गहराई से समझना होगा। जब सिमोन बउआ स्त्रियों की स्थिति की पड़ताल करते हुए लिख रही थीं तो उन्होंने बिलकुल प्राथमिक स्तर पर जाकर स्पष्ट किया था कि माँ बनना उनकी शारीरिक विशिष्टता है न कि उनकी मानसिक जरूरत। यदि माँ बनना इतना ही गौरवपूर्ण है तो गर्भावस्था के दौरान वे इतना मुखमलिन क्यों हो जाती हैं? संतान रूप में बेटी को पाकर दुखी क्यों हो जाती हैं? लगातार कई बेटियों को जनने वाली माँएँ आत्महत्या तक क्यों कर लेती हैं? प्रसव-पूर्व (प्री नॅटल) और प्रसव-पश्चात (पोस्ट नॅटल) अवसाद जैसी बीमारियां क्यों अस्तित्व में हैं?

यह इसलिए भी षडयंत्र की तरह लगता है क्योंकि गाहे बगाहे इस गौरव की बलि भी ली गई। कन्याओं के गर्भ की बात तो सर्वविदित है ही अपने मालिक की खातिर अपने बच्चे की जान ले लेना या उसे मर जाने देना सबसे बड़ा त्याग है। पन्नाधाय के त्याग पर आज तक किसी ने उंगली नहीं उठाई? उससे किसकी स्थिति डांवाडोल होती है? क्या कानून या नैतिकता के किसी भी कोण से अपने बच्चे की जान ले लेना स्वीकार्य है? माँ तो अपनी संतान की रक्षा के लिए जान तक दे देती है। लेकिन मनुष्य समाज में तो तमाम माँओं को सती बनाकर बच्चों को अनाथ कर दिया गया। अरविन्द कुमार सिंह की कहानी 'सती' ऐसी ही अमानवीयता उजागर करती है। इसकी नायिका नक्कू की माँ है। जाहिर है स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं। जहाँ फूलमती के पति की मृत्यु के बाद उसे पूरे गाँव ने भोगा उसके उलट नक्कू की माँ को धतूरे का बीज खिलाकर सती कर दिया गया क्योंकि वह छूत वाले रोग (एड्स) से पीड़ित थी। यह रोग भी उसे नक्कू के बाप से ही मिला था। गाँव को डर था कि यदि वह जीवित रही तो न जाने कितनों को वह रोग दे दे? आखिर बिचारा पुरुष, विधवा स्त्री को भोगे बिना कैसे रुक पाता? इसलिए सबसे आसान यही था कि नक्कू के बाप के साथ उसे भी जला ही दिया जाए। मातृत्व को इतना ऊँचा स्थान देने वाला संवेदनशील समाज नक्कू की संवेदना से नहीं हिलता। अलबत्ता वह पुरुष की संवेदना से हिल जाता है कि बिचारा रोग धारिणी स्त्री को देख देखकर मन मसोसकर कैसे रह सकेगा? और फिर सती मईया की पूजा करने के लिए गाँव गिराँव के लोग आने लगे। उन तमाम पतियों की पत्नियां आने लगीं, जिन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए नक्कू की माँ को सती करवा दिया था। उसे कोसने वाली, एक-एक टुकड़े के लिए तरसाने वाली, उसे चरित्रहीन कहने वाली उसकी मालकिन भी पूजा की थाल सजाए पहुंच जाती हैं।

स्त्रियों ने अपने स्वत्व, अपनी स्वतंत्रता और अपनी मानसिक कंडीशनिंग से निकलने में लंबी दूरी तय की हैं। मगर बाजार की आवक और वैश्वीकरण की गलत चर्याओं ने एक बार फिर से परिवार, समाज, नैतिकता की दुहाई के साथ वैज्ञानिकता का बेसुरा राग छेड़ दिया है। चूड़ी, सिंदूर, कर्णछेदन, मंगलसूत्र, बिछिया, पायल और ऐसे ही न जाने कितने कृत्रिम प्रतीकों को विज्ञान सम्मत दिखलाकर फिर से उस दौर में लौटने की अपील की जा रही है जिससे आगे बढ़ने में स्त्रियों ने जबर्दस्त संघर्ष किया है। संयुक्त परिवार में सामूहिक सुरक्षा का नॉस्टैल्जिया परोसकर एकल और व्यक्तिगत होते जा रहे मनुष्यों में भय पैदा किया जा रहा है। साहित्य का रुझान देखकर भी लग रहा है कि बाजार और नव सांस्कृतिक उन्नयन के नाम पर स्त्रियों के आंदोलन को सिर्फ बहस तक समेटा जा रहा है।

हालांकि ग्रामीण स्त्रियां आमतौर पर इस विकट जाल से कम प्रभावित हैं। फिर भी अपनी लुभावनी प्रवृत्ति के साथ बाजार ने वहां भी दस्तक दे दी है। श्रमिक स्त्रियों का व्यक्तित्व इस मामले में अधिक सशक्त लगता है। किशोर चौधरी (केसी) अपनी कहानियों में स्त्री के ऐसे ही मजबूत किरदारों को बुनते हैं। उनकी किस्सागोई का शगल बिल्कुल अलग है और वे हिन्दी कहानी धारा के शोर शराबे से दूर रेगिस्तान की गोद में बढ़िया लेखन कर रहे हैं। उनकी कहानियों की स्त्रियां सखा होना चाहती हैं। पुरुष के साथ कंधा मिलाकर चलना

चाहती हैं। लेकिन पुरुष उन्हें बार-बार अपना कंधा रोने के लिए आगे बढ़ा देता है और थपकियां देता रहता है। कहना चाहता है कि दुख से उबरकर सो जाओ या फिर मेरी पाश में आ जाओ सब ठीक हो जाएगा। 'पक्की जमानत' कहानी में ठेकेदार वीरेंद्र के साथ काम करते हुए गाँव से आए मजदूर रहते हैं। उन्हीं मजदूरों में रामखेर अपनी पत्नी बजरिया के साथ रहता है। रामखेर को चोरी के झूठे केस में फंसाकर वीरेन्द्र उसे पुलिस के हाथों उठवा देता है और फिर उसे बचाने के नाम पर बजरिया के सम्मुख तारणहार बनता दिखता है। उससे सहायता की आस में बजरिया मालिक की भलमनसाहत समझ सिकुड़ते, मुड़ते, तुड़ते अपना देह बचाने की कोशिश करती है मगर अंत में उसके जाल में फंस जाती है। रामखेर के जमानत पर छूट जाने के बाद भी वीरेन्द्र उसे कमरे पर बुलाता रहता है। धीरे-धीरे बजरिया को पता चलता है कि उसे भोगने के लिए सारा जाल उसी वीरेन्दर का बिछाया हुआ था, तो ऐसी ही एक रात वह बल्लम मारकर उसकी हत्या कर देती है।

बजरिया और वीरेन्द्र के संबंधों की बात जानते हुए भी रामखेर पूरी तरह बजरिया के साथ खड़ा रहता है। जब पुलिस दुबारा बस्ती में आती है तो रामखेर सिहर उठता है लेकिन बजरिया यह कहती हुई सामने खड़ी हो जाती है कि रामखेर की पक्की जमानत उसने पिछले रात ही करा दी थी। आखिर में पुलिस अधिकारी रामखेर के साथ खड़े होते हैं और ठेकेदार के विरुद्ध मुकदमा दर्ज होता है। बजरिया एक बरस जेल में रहने के बाद जमानत पर छूटकर आती है और रामखेर के साथ फिर से साधारण जीवन बिताती है। कथाकार बड़ी पते की बात अंतिम पंक्तियों में कहता है, 'स्त्री को कमजोर या बलवान कहने से अधिक जरूरी है कि हमें परिस्थितियों और मनोस्थिति को समझना चाहिए। वही बजरिया और रामखेर एक बार मुझे ट्रेन में दिखे। एक आदमी सीट को लेकर रामखेर से उलझ रहा था और बजरिया रामखेर से कह रही थी जाने दो अपन कहीं और बैठ जाएंगे।''

श्रम और आर्थिक आत्मनिर्भरता से जैसा आत्मविश्वास जगता है, कोई भी खालिस वाद या सिद्धांत वैसी विश्वास बहाली नहीं कर सकता। बजरिया अपने मरद के साथ मजदूरी करती थी। लेकिन नीलाक्षी सिंह की कहानी 'प्रतियोगी' की नायिका दुलारी अपने पति के साथ काम करते हुए उसकी प्रतियोगी बन जाती है। यह कहानी महिलाओं में अपनी आत्मनिर्भरता की तड़प को बड़ी शिद्दत से दर्शाती है। दुलारी अपने नाम और काम से पहचानी जाना चाहती है बजाय कि छक्कन प्रसाद की पत्नी के रूप में। कहानी की शुरूआत इस दृश्य से होती है कि पति पत्नी गांव के चौराहे पर अलग-अलग दुकान चलाते थे। दुलारी कचरी बनाती थी और छक्कन प्रसाद जलेबी। दोनों कभी कभार एक दूसरे से काम बदल लिया करते थे। समय के साथ गाँव कस्बे में बदलने लगा और छक्कन प्रसाद छोटी सी जलेबी की दुकान को बढ़ाते हुए मिठाई की दुकान खोल लेते हैं और कारीगर रख लेते हैं। देखते ही देखते उनकी बिक्री और ख्याति दोनों बढ़ती चली जाती है। छक्कन प्रसाद चाहते हैं कि दुलारी उनके साथ काम पर आ जाए और दोनों मिलकर काम करें लेकिन दुलारी को लगता है यह दुकान और यह कचरी ही तो उसका वजूद है। यही नहीं रहा तो फिर? दुलारी की यही सोच उसे तमाम स्त्रियों से बिल्कुल अलहदा खड़ा कर देती है। ऐसी व्यावसायिक सोच और उस पर अमल की ताकत बहुत कम लोगों में होती है। जिस तरह छक्कन प्रसान बढ़ती प्रतिष्ठा के साथ उच्च मध्यम वर्ग में शामिल हो गए थे, ऐसे परिवारों की स्त्रियों के लिए सबसे आसान होता है व्यवसाय छोड़कर गृहस्थी संभाल लेना।

व्यवसाय की इस खींचतान और बढ़ती व्यस्तताओं का असर आपसी संबधों पर भी पड़ता है और दोनों एक ही छत के नीचे रहते हुए अजनबी नहीं तो कम से कम शारीरिक तौर पर एक दूसरे से स्वतंत्र होते जाते हैं लेकिन दुलारी हार नहीं मानती। कहानीकार मजबूर हो जाता है लिखने के लिए कि दुलारी का इतिहास ही ऐसा प्रचंड था। अपने वजूद की पहचान होना और उसे बचाए रखना यही सबसे बड़ी जरूरत आधुनिक काल में चले तथाकथित नारीवादी आंदोलनों की थी जिसे समझने से बहुत सी मध्य और उच्च मध्यवर्गीय स्त्रियों ने इंकार कर दिया है। दुलारी ऐसे किसी शोर शराबे से दूर है मगर अपने वजूद के प्रति बिलकुल संजीदा। दुलारी कोई भाषण नहीं देती, न अपने पति को कटघरे में खड़ी करती है मगर चुपचाप उसकी हर बात भी सिर झुकाकर नहीं मान लेती। बढ़ती समृद्धि के बीच भी उसका प्रतिरोध दृढ़ता से चलता रहता है। थोड़ी ही देर बाद कहानी यथार्थ के एक

और स्तर में घुस जाती है। दंपत्ति की इस प्रतियोगिता में एक तीसरे चरित्र बाजार ने प्रवेश पा लिया।

बाजार के प्रवेश का यह असर रहा कि छक्कन प्रसाद की दुकान फास्ट फूड सेंटर में तब्दील हो गई जिसमें चाऊमीन, पेस्ट्री, सॉफ्ट ड्रिंक्स आदि सजने लगे और आईसक्रीम की लालच भी टांग दी गई थी। पति से अपने वजूद को बचाए हुए दुलारी के लिए दूसरी चिंता थी कि फास्ट फूड के ज़माने में परंपरागत और पिछड़ी करार दी गई कचरी और जलेबी के स्वाद को कैसे बचाए? बाजार की इस ताकत से लड़ने की ताकत बने दुलारी की दुकान पर रखे कनस्तर पर बैठे माइंड बिहाइंड द सीन मिंटू उस्ताद। मिंटू दुलारी के सपूत थे और उस नई पीढ़ी के प्रतीक भी जो बाजार की चाल को पहचानते हैं और उसी से घायल भी हैं। उन्होंने बिल्कुल सटीक शब्द 'मुफ्त' पर अपनी उंगली टिकाई और दुलारी ने बोर्ड टांग दिया, 'प्रति जलेबी मूल्य एक रुपया, पचास पैसे। चार जलेबियों की खरीद पर दो कचरी और एक कप चाय मुफ्त!' मुफ्त का माल दिखने पर भला कौन रुकता? हुआ भी यही। स्वयं छक्कन प्रसाद, फास्ट फूड की दुकान के मालिक, नाश्ता करने दुलारी की दुकान की ओर ही बढ़ आते। एक ही सेट में मीठा (जलेबी), नमकीन (कचरी) और पेय (चाय) जैसा नाश्ता भला कहाँ मिलने वाला था?

साहित्य में ग्रामीण भारत की इस जिजीविषा और संवेदन युक्त जीवन के समांतर शहरी इंडिया की ऊब और संत्रास से युक्त जीवन भी है जो कोलाहलों के बीच भी कुछ सार्थक कर पाने में स्वयं को असमर्थ पाता है। स्त्रियों की स्वतंत्रता, स्वच्छंदता, देह पर उसके अधिकारों को लेकर शोर मचाने वाला यह समूह आखिर में हाथ झाड़कर कहता है कि देखा स्त्री की स्वतंत्रता का क्या परिणाम हुआ? रमेश उपाध्याय की कहानी 'अविज्ञापित' महिलाओं की स्वतंत्रता का पुरजोर समर्थन करते हुए शुरू होती है। कथाकार ने बड़ी ईमानदारी से किरदारों को पिरोया है। नायिका अलका अग्निहोत्री आधुनिका हैं जिसे अल्ट्रा मॉडर्न भी कहा जा सकता है। वह परिवार, शादी और साधारण गृहस्थ जीवन में विश्वास नहीं रखती और कला जगत में बहुत बड़ा नाम बनना चाहती है। क्या यह चाहना गलत है? क्या ऐसी ख्वाहिश अमानवीय है? क्या पुरुष भी ऐसी चाहना के बाद उसी तरह के संत्रास के शिकार होते हैं? यदि इनमें से किसी भी प्रश्न का उत्तर ना में है तो आखिर अलका के साथ ऐसा क्यों हुआ?

कहानी शुरू से ही अलका अग्निहोत्री को कटघरे में खड़ा करती है और शुरूआती पंक्तियां पढ़कर बताया जा सकता है कि उसका अंत क्या होने वाला है। पूरी कहानी अंत का पीछा करती हुई अंततः वहीं जाकर समाप्त होती है कि अलका न तो कला की दुनिया में नाम बन पाती है, न ख्यातिलब्ध मॉडल बन पाती है, न परिवार बना पाती है। अलका के पक्ष में खड़े होने की बजाय कहानी के वाक्य उसे कटघरे में खड़ा करने की कोशिश करते हुए महसूस होते हैं। परिवार में न रहने, शादी न करने, छोटा काम न करने और लिव-इन में रहने को तीखे व्यंग्य की तरह प्रस्तुत किया गया है। वाक्य वास्तविक जीवन में प्रश्नों की तरह चुभते हुए प्रतीत होते हैं। ऐसे प्रश्नाकुल समाज में पूछा जाना चाहिए कि बिना गलतियां किए क्या अलका अपने जीवन को अर्थ दे पाती? अंततः हताश और निराश अलका अपनी नौकरानी स्टेला के पार्टनरशिप में 'अलका एडवर्टाइजिंग' नामक कंपनी चलाती है। कहानी का अंत एक सूक्ति के रूप में शिक्षा देता हुआ लगता है कि 'प्रेम के हल्के से अल्पकालिक संबंध जरूरत से ज्यादा विज्ञापित हो जाते हैं जबकि प्रगाढ़ दीर्घकालिक संबंध अविज्ञापित ही रह आते हैं।' एक वैकल्पिक प्रतिस्थापना यह है कि अविज्ञापित रह जाने वाले संबंध सभी के जीवन में होते हैं लेकिन इससे विज्ञापित होने वाले संबंधों का महत्त्व कम नहीं हो जाता। विज्ञापित संबंध ही अविज्ञापित को वह ताकत प्रदान करते हैं कि अविज्ञापित रहते हुए भी वे दीर्घकालिक हो सकें।

स्त्रियों के प्रति ऐसी भेदीय दृष्टि बड़ी व्यापक है। समाज में दूसरी स्त्रियों की ओर ही नहीं परिवार में भी पुरुष अपनी सुविधानुसार उसके लिए मानक गढ़ता है, उसकी स्थिति पर मनमाना तंज कसता है। जया जादवानी की कहानी 'परिदृश्य' में गोयल परिवार की ऐसी ही स्थिति है। मि. और मिसेज गोयल खुशहाल दंपत्ति हैं। कोई बाहरी दबाव और हस्तक्षेप नहीं है। बावजूद इसके मि. गोयल रह रहकर अपनी गरिष्ठता मिसेज गोयल पर थोपते रहते हैं। नाभिकीय परिवार

में रहते हुए उन्हें कई बार लगता है कि मिसेज गोयल ज्यादा ही सीधी, सरल और पारिवारिक दायित्व का बोझ उठाने वाली साधारण महिला हैं। ऐसा सोचते हुए वे पत्नी से घृणा की हद तक का व्यवहार करने लगते हैं। उस पर मारक शब्दों से हमला करते हुए अपना गंवारपन छोड़ने को कहते रहते हैं। मिसेज गोयल धीरे-धीरे अपने को बदल डालती हैं और समय के साथ चलने लगती हैं तो एक पार्टी से लौटने पर मि. गोयल बड़े आराम से उन पर कुलटा होने और अधिक मॉडर्न होने का आरोप लगा देते हैं। साथ ही यह सीख भी दे डालते है कि स्त्रियों को एक मर्यादा में तो होना ही चाहिए। कौन सी मर्यादा ? कैसी मर्यादा ? क्या आकर्षक कपड़े पहन लेना, मेकअप करके सुंदर बन जाना, गैर पुरुषों से बात कर लेना, उनके साथ हँस लेना मर्यादा से बाहर निकल जाना है ?

स्त्रियों पर इस तरह के दोहरे आक्षेप और लांछन से मन दुखता है, रिसता है। चाहे शादीशुदा स्त्री हो या फिर गैर शादीशुदा उसे लगातार लोगों की नज़रों की कसौटी पर कसा जाता है। उसके साधारण मानवीय व्यवहार भी चरित्र की कसौटी पर कसे जाते रहे हैं। इस संदर्भ में विचलित मन में शिवमूर्ति की कहानी 'तिरियाचरित्तर' की विमली कौंधती रही। नौ दस बरस की उम्र में मजदूरी के लिए धकेल दी गई प्यारी सी लड़की को पूरे समाज की नज़रें आंकती रहती हैं। उसकी स्वच्छंद मुस्कुराहट, बेलौस बातचीत और जीवन की छोटी-छोटी खुशियों के प्रति ललक को गिरावट की नज़र से देखा जाता है। बिल्कुल ग्रामीण परिवेश में ईंट भट्ठे पर कार्यरत मजदूरों, ट्रक ड्राइवरों के बीच रहते हुए विमली महानगरों में रहने वाली स्त्रियों से भी अधिक स्निग्धता से सोचती है। वह अपनी देह के प्रति, अपनी मानसिक दुनिया के प्रति, अपनी जरूरतों के प्रति और सबसे बढ़कर दायित्व के प्रति बोध से भरी हुई है। दुनिया उसे किस नजर से देखती है, उसके पिता उसे किस नजर से देखते हैं, पति और ससुराल वाले क्या समझते हैं उसे इन बातों से कोई सरोकार नहीं। मानो उसने समर्पण कर दिया हो कि पुरुष नज़र का तो काम ही है स्त्रियों में कुलटा, कुलच्छिनी और तिरियाचरित्तर ढूंढ़ना। वह कुछ भी कर ले देखने वाली नज़रें वही ढूंढ़ लेंगी जो वे चाहती हैं। वह कोई भाषण नहीं करती, कोई परिवाद नहीं करती बस जीवन को पूरी शिद्दत से जीती है।

प्रत्येक मनुष्य के लिए दो संसार होता है एक तो भौतिक और दूसरा मानसिक। मानसिक संसार की यात्रा अधिक सूक्ष्म और जटिल होती है लेकिन मनुष्य होने के लिए यह जरूरी है। तिरियाचरित्तर से स्त्री के बालमन, किशोरमन और वयस्कमन की झांकियां मिलती हैं। स्त्री के मानसिक संसार का दर्शन कराती हुई कहानी यह भी प्रतिपादित करती है कि स्त्री केवल उच्छृंखल होकर अपने देह पर अधिकार या उसका मुक्त इस्तेमाल ही नहीं चाहती बल्कि वह अधिकार, दायित्व, अनुमोदन, सखाभाव और प्रेम भी चाहती है। देह का ऐसा इस्तेमाल कि अलग-अलग प्रेमी उसके शरीर का भोग करते रहें और उसे अपने जीवन में या समाज में कोई मान्यता या अधिकार न दें तो इसके लिए वह बिल्कुल तैयार नहीं है। यह प्रस्थापना केवल स्त्री के लिए सही नहीं है। मनुष्य मात्र की यही स्थिति और नियति है लेकिन बिडंबना यह है कि स्त्री को इसके लिए संघर्ष करना पड़ता है। इसी तरह 'बारहवीं ए की लड़कियां' कहानी की नायिका शायना जब कहती है कि 'वे लड़के समझते थे कि जब हम उनके कंधों पर सिर रखकर सोना चाहती हैं तब हम असल में उनके शरीर के किसी हिस्से को छूने के लिए मरी जा रही होती हैं।' तो इसमें समस्त स्त्री जाति की पीड़ा व्यक्त हो उठती है। स्त्री को मात्र देह मान लेना पीड़ादायक है। बल्कि स्त्री का मानसिक संसार अधिक गहन है क्योंकि वह सदियों से अनभिव्यक्त है, अनछुआ है, परित्यक्त है। इस तरह कि मानो स्त्रियों ने स्वयं यह जुमला अंगीकार कर लिया हो कि सोचना उनके हिस्से में नहीं आता।

मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी 'कठपुतलियाँ' की नायिका सुगना भी खांटी गंवार होने के बावजूद अपने मानसिक वजूद और दैहिक रिश्ते को लेकर संजीदा है। दहेज की रकम न जुट पाने के चलते उसका विवाह एक पोलियोग्रस्त व्यक्ति से हो जाता है, जो विधुर भी है। नंदी और बंसी दो संतान भी हैं। पति रामकिसन के साथ वह बच्चों के देखभाल में लग जाती है और स्वयं को खपा देने की पूरी कोशिश करती है। रामकिसन कठपुतलियों का काम करता है। वह अपना साम्य भी कठपुतलियों से करती है। अपनी मनस के प्रति सजग सुगना बहुत महत्वाकांक्षी, लालायित या व्याकुल बिलकुल नहीं है मगर एकाकीपन में कभी-कभी उसे उकताहट होती है। सुदूर रेगिस्तान में एक बावली की ओर

पानी लेने गई सुगना की भेंट जोगेन्दर से हो जाती है जिससे पहले उसका विवाह होने वाला था। जोगेन्दर गाइड का काम करता है और रामकिसन की तरह अशक्त नहीं है। रेगिस्तानी आंधी में खंडहर में छिपने के दौरान वह अपने को संभाल नहीं पाती और जोगेन्दर के आगे समर्पण कर देती है। यह क्षणिक सुख उसके शारीरिक आवेग को जगा देता है और पानी लेने के बहाने वह नियमित रूप से बावली जाने लगती है और गर्भवती हो जाती है।

जोगेन्दर से संबंध बनने के दौरान वह बहुत संजीदा नहीं रहती लेकिन पाप और पुण्य के चौखटे में भी नहीं बंधती। रामकिसन की नसबंदी के चलते उसका गर्भ उसके चरित्र के लिए ग्रहण बन जाता है। सास उसे चरित्रहीन साबित कर उसे वापस मायके भेजने या उसके प्रेमी से पैसा वसूलने के पीछे पड़ जाती है। रामकिसन हालांकि उसकी गतिविधि को समझ चुका था लेकिन उसे छोड़ना नहीं चाहता। सुगना भी परिवार छोड़कर विवाहित जोगेन्दर की उपपत्नी बनकर नहीं रहना चाहती। उसे पत्नी का अधिकार और बंसी व नंदी के मातृत्व की चिंता भी थी। सास जब पंचायत बुलाने और अग्नि परीक्षा की जिद पर अड़ी रहती है तब भी रामकिसन पूरी तरह सुगना के साथ खड़ा रहता है। सुगना भी पूरे मन से परिवार के साथ रहने का निश्चय करती है और जोगेन्दर का ऑफर ठुकरा देती है। पंचायत की अग्नि परीक्षा में रामकिसन द्वारा लाए गए करामाती तेल से उसके हाथ में फफोले नहीं पड़ते और वह रामकिसन की पत्नी मान ली जाती है। दैहिक लालसाओं के बावजूद सुगना का मनस यह समझ चुका था जोगेन्दर के साथ भाग जाने पर उसे कभी पत्नी का दर्जा नहीं मिलता जबकि रामकिसन के साथ वह माँ भी थी और पत्नी भी।

स्त्री मन की इन्हीं भावनाओं को प्रकट करती हुई शहरी माहौल में रचित पंकज सुबीर की कहानी 'कितने घायल हैं, कितने बिस्मिल हैं...' नए स्तर पर प्रभावित करती है। कहानी में प्यार को आधुनिक ज़ेहनी माहौल में पारिभाषित करने की कोशिश की गई है। नायिका आपगा के माध्यम से स्त्रियों के मानसिक संसार की गहन पड़ताल भी की गई है। वह आंजिक्य के साथ लिव-इन में रहती है। आंजिक्य के मुकाबले अधिक विचारशील और तर्कयुक्त है। उसने यह शर्त जोड़ रखी थी कि कभी कोई शादी के लिए नहीं कहेगा। विज्ञान की छात्रा थी और तर्क रूपी हथियार से लैस। विज्ञान की इस प्रस्थापना से बिलकुल सहमत कि मानव हृदय को चीरकर देखा जा चुका है। उसमें प्यार-व्यार, प्रेम-वेम जैसा कुछ नहीं होता। मनुष्य खालिस चमड़े की मशीन है जो हार्मोन्स से निर्देशित होता है। आपगा की ज़ेहनी सोच यही है। कहानी की विशिष्टता यह है कि इसमें स्त्री बिल्कुल स्वतंत्र मानवी नजरिए से सोचती हुई दिखती है। आंजिक्य का साथ बस इसलिए है कि वह हैंडसम है, उसे सुंदरता की सेंस है और वह अच्छे से प्यार करता है। आपगा को इससे अधिक कुछ नहीं चाहिए। समय के साथ हार्मोन्स में हलचल होती है और अपनी काम वाली बाई का संतुष्ट जीवन देखकर उसे न जाने क्यों कुछ-कुछ होने लगता है। वह उसे भी दूसरे पुरुषों को आजमाने के लिए उकसाती है मगर उसकी संतुष्टि व अन्यमनस्कता से घायल हो जाती है। मानसिक प्रतिक्रियास्वरूप आंजिक्य में उसे एक आभिजात्य की महक आने लगती है और वह सोचती है कि बाई इसलिए अधिक संतुष्ट है कि उसका पति मजदूरी करता है। वह पसीने की महक और बलिष्ठ भुजाओं और धूल में सने शरीर का स्वाद लेना चाहने लगती है।

इसमें कुछ भी अप्राकृतिक नहीं है। मानसिक स्थिति की एक सहज अवस्था है। आंजिक्य उसकी सहायता करता है। दरअसल उनका संबंध एक दूसरे को पर्याप्त स्पेस देने के नाम पर ही चल रहा था। अंततः आपगा बाई के पति से संबंध बनाती है। परंतु उस रात के बाद मन में सदियों से बसा डर कहिए, संकोच कहिए या कि मानसिक असहजता कहिए वह आंजिक्य के और करीब झुक जाती है। उसमें कुछ-कुछ उमगने लगता है और वह लैला-मजनूं की इन बातों से मन की गुत्थी खोलने की कोशिश करने लगती है कि क्या सचमुच लैला बदसूरत थी? कालांतर से उसके कहने का अर्थ था क्या सचमुच बदसूरत स्त्री या पुरुष से प्रेम किया जा सकता है? क्या प्रेम टेस्टास्ट्रोन और एस्ट्रोजन से अलग भी कुछ है क्या?

दरअसल यह प्रश्न केवल स्त्री का प्रश्न नहीं है। उतना ही पुरुषों का भी है जो बहुत आसानी से दूसरी स्त्रियों की ओर लालायित रहते हैं और मौके बेमौके उनका भोग

करने हेतु छुछुआते रहते हैं। शरीर से ऊपर उठना और अंतत: मन से भी ऊपर उठना क्या इंसानी फितरत नहीं है ? क्या देह का भौतिक और स्थूल स्तर ही एकमात्र जानी गई सच्चाई है ? कोई भी स्थिति सभी लोगों पर लागू नहीं होती। न तो सभी पुरुष स्त्रियों के प्रति लालायित रहते हैं और न सभी स्त्रियां नितांत संकोची होती हैं। यह बिल्कुल व्यक्तिगत मामला है। इसमें अनैतिक नैतिक से बढ़कर मन की गहन परतों में छिपी लालसा और विश्लेषण मायने रखता है। मनुष्य अपने को उघाड़ते हुए स्वयं को कहाँ खड़ा पाता है ? यही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है। लेकिन क्या मनुष्य परम स्वतंत्र हो सकता है ? विज्ञान के तर्कों का इस्तेमाल करना क्या यह नहीं दर्शाता कि उसे भी अपने विचारों के लिए आधार की जरूरत है ? इसी तरह क्या मूल्यों के लिए भी आधार की जरूरत नहीं होगी ? अब यह कह देने से काम नहीं चलेगा कि चोरी करना पाप है। लोग अपने आसपास चोरी करने वालों को फलते-फूलते और सर्वजनीन परिभाषा में सफल होते देख रहे हैं। समाज को ऐसे मूल्यों की जरूरत है जो व्यक्तिगत आत्मविश्लेषण और आत्मान्वेषण को बढ़ावा देते हों।

पुराने मूल्यों से उखड़कर मनुष्य अभी नए मूल्यों की स्थापना नहीं कर सका है। वह प्रयोगशील अवस्था में है। पुराने सर्वजनीन मूल्य छीजते गए हैं। अब सबके लिए मूल्यों के मायने अलग-अलग हैं। स्त्री संबंधों के मामले में हिन्दी कहानी की स्थिति यह है कि वह न तो पुराने परंपरागत संबंधों के प्रति सहज है और न लिव-इन जैसे नए संबंधों के प्रति। कसौटी पर कसते हुए लेखक अभी एक ओर झुक जाने को अभिशप्त हैं कि भारतीय समाज लिव-इन को स्वीकार नहीं कर रहा। जबकि यथार्थ के धरातल पर ऐसे बहुत से लोग जीवन जी रहे हैं। कविता की कहानी 'भय' भी लिव-इन रिलेशन की विसंगतियों को ही उकेरती है। नायिका शालू आखीर में अन्तर्द्वन्द्व में फंस जाती है। सुधीर के साथ रिलेशनशिप में रहते हुए बरसों बाद उसे लगने लगता है कि विवाह कर लेना उसके लिए अच्छा होता। वह लगातार एक भय में जीने लगती है। वह शंकालु हो उठती है। उसे लगता है कि पहले लोग उसकी स्वतंत्रता से जलते और ईर्ष्या करते थे और लिव-इन में रहने को बहादुरी की तरह देखते थे लेकिन भविष्य के प्रति आशंका से वह कांप जाती है और कहने लगती है कि वह महान नहीं है, मजबूर है। शालू की यह मजबूरी लिव-इन की विसंगतियों को ही नहीं दर्शाती बल्कि एक तरह से यह समर्पण ध्वनि है। समाज का सामना हम स्वस्थ मस्तिष्क से नहीं कर पा रहे हैं। मूल्यों की खिसकी आधारशिला को अस्तित्ववाद से एक सहारे की आस थी परंतु विखंडन और बिखराव के दौर ने उसे पीछे छोड़ दिया। आखिर समाज की सड़ांध और सदियों से चली आ रही परंपराओं को तोड़ने का साहस कहाँ से आएगा ?

इस साहस के लिए साहित्य मुखापेक्षी होने पर कुछ न कुछ जरूर हाथ लगता है। इसकी एक धुंधली झलक अखिलेश की कहानी 'अगली शताब्दी के प्यार का रिहर्सल' में देखी जा सकती है। अखिलेश अपनी कहानियों में केवल किरदार नहीं रचते बल्कि उनकी कहानियां एक विशाल कैनवस की तरह होती हैं जिन्हें पढ़ते हुए आप उसके अंग बनते चले जाते हैं। नायिका दीपा इस मायने में नई सदी की लड़की है कि वह भावुक नहीं है, कमजोर नहीं है, लड़कों से कमतर नहीं है, अपना भला बुरा सोच सकती है, किसी की मोहताज नहीं है। वह प्यार को फैशन की तरह देखती है। दीपा को प्यार करने का मन करता है तो वह इसमें हृदय का पक्ष बिल्कुल आने नहीं देती बल्कि कहें कि इतनी आपाधापी में वह कहीं पीछे छूट गया है। नई सदी में हार्ट बस अटैक शब्द से जुड़ने के लिए बचा रह गया है ! वैज्ञानिकों के चीरफाड़ से भी उसमें मूल्य या संवेदना जैसी कोई चीज नहीं मिली। दीपा ने भी अपने हृदय को टटोल लिया था और पूरी तरह आश्वस्त होकर एम. ए. में पहुंचने के बाद प्यार करने का निर्णय लिया। ऐसा प्यार जिसे शादी में भी बदला जा सके। उसने जितेन्द्र को चुना या कहिए उसे प्यार हो गया। क्योंकि 'प्यार किया नहीं जाता....' वाला जुमला अभी चल रहा था। जितेन्द्र उसकी कास्ट का था, आई ए एस की तैयारी कर रहा था, कदकाठी में सभी लड़कों से बीस था और बैडमिंटन का खिलाड़ी भी था। सबसे बढ़कर वह सीधा सादा पढ़ाकू टाइप का लड़का था जिसे दीपा अपने हिसाब से अपने अधिकार में रख सकती थी।

कहानी में दीपा, जितेन्द्र और दीपा के पिता सब अपने-अपने गणित में उलझे हुए हैं। बिना किसी का पक्ष लिए और बिना जजमेंटल हुए अखिलेश जिस तरह कहानी को पाठकों के सामने रखते हैं ठीक वैसे ही मूल्यबोध की

जरूरत आधुनिक समाज को भी है। किसी कोड या संहिता की बजाय स्वयं के आत्मविश्लेषण से निर्धारित होने वाला मूल्यबोध। प्यार से अलग होकर अचानक टूट जाने की बजाय दीपा ने कुशल विचारक की तरह निर्णय लिया कि वह जितेन्द्र को प्यार के हिंडोले में धीरे-धीरे झुलाती रहेगी और इस बीच दो चार और लोगों से चक्कर चलाकर कोई न कोई कुंवारा आई ए एस अपने लिए ठीक कर लेगी। दूसरी ओर जितेन्द्र यह सोचकर खुश था कि अभी नखरे सह लेगा फिर शादी के बाद बदला लेगा। उसकी नजर दीपा के पिताजी के करोड़ों की संपत्ति पर थी। कहने वाले कह सकते हैं कि संवेदनाओं की जगह भौतिक परिस्थितियां और जीने की सहूलियत ज्यादा मायने रखने लगी है। मगर यही सदा से होता आया है। आजकल इस पर चढ़े आवरण को हटा दिया गया है। स्त्री हो या पुरुष वह संघर्ष, तपस्या, साधना जैसे शब्दों से डरने लगा है और उसे लगता है जो कुछ है वह यही क्षण है। बाजार भी इसमें सहायता कर रहा है। लोग जितना संवेदनाओं से छीजते जा रहे हैं उतना ही वह उनका घर सामानों से भरता जा रहा है। इसे उल्टे तरीके से भी कहा जा सकता है कि जितना लोगों का घर सामानों से भरता जा रहा है उतना ही उनका हृदय संवेदनाओं से खाली होता जा रहा है।

अखिलेश की और भी कहानियों में स्त्री पुरुष संबंधों को बिल्कुल संजीदगी से पेश किया गया है। उसमें कोई शोर नहीं है, कोई बड़ा नाटकीय मोड़ नहीं है। उनकी स्त्रियां जीवन साथी ऐसे बदलती है मानो कपड़े बदल रही हों। आखिर मनुष्य का शरीर कपड़ा ही है। 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय' वाली सोच इस कदर नया मोड़ ले लेगी किसी ने सोचा नहीं होगा। लेकिन जब जीवन में ही हृदय नेपथ्य में जाता रहा और दिमाग ने सब कुछ आच्छादित कर लिया तो यह तो होना ही था। हृदय के साथ चलने में खतरे भी बहुत हैं। सबसे बड़ा खतरा तो स्पीड को लेकर है।

हृदय को नकारने की बजाय हृदय को खोलकर रख देने जैसे विकल्प भी कहानियों में मिलते हैं। ऐसे विकल्पों पर गौर करते हुए आकांक्षा पारे काशिव की कहानी 'तीन सहेलियां तीन प्रेमी...' याद आती है। यह कहानी स्त्रियों के स्वतंत्र नज़रिए के साथ कई और महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर बात करती है। तीन सहेलियां आभा, स्नेहा और मेघना कामकाजी औरतें हैं जो उम्र के ढलते पड़ाव पर पहुँच चुकी हैं। तीनों स्वतंत्र रहना चाहती थीं और तीनों ने विवाह नहीं किए। उत्तरार्द्ध में उन्हें अकेलापन काटने को दौड़ता है और वे समय बिताने के लिए रविवार को अपने प्रेमियों से मिलती हैं। ऐसे ही एक रविवार की चुहलबाजियों के बहाने कहानी यथार्थ के कई परतों को खोलकर ज्यों का त्यों रख देती है।

तीनों सहेलियों के प्रेमी शादीशुदा हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि उम्र के इस पड़ाव पर कुंवारे लड़के नहीं मिलेंगे। वे इतनी संजीदा हैं कि उन्हें यह भी पता है कि उनके प्रेमी खालिस वायदों से उन्हें बहलाते हैं कि वे अपनी-अपनी बीवियों से छुटकारा पाकर उन्हें अपना लेंगे। और निश्चिंत हैं कि ऐसा कुछ नहीं होने वाला। एक सहेली कहती है, 'समझने की कोशिश करो बच्ची, हम जिंदगी मांग रही हैं। उनकी जिंदगी। सामाजिक जिंदगी, आर्थिक जिंदगी, इज्जत की जिंदगी। वह जिंदगी हमें कोई क्यों देगा। इसलिए नहीं कि हम काबिल नहीं हैं, इसलिए कि हमें आसानी से भावनात्मक रूप से बेवकूफ बनाया जा सकता है।....हम उनका न तो हिस्सा बन सकते हैं न ही हिस्सेदार।' स्पष्ट रूप से यह स्वीकृति समाज के प्रचलित रवैये के अनुरूप है। इसमें किसी पर दोषारोपण और खुद को उसका पक्षकार बनने की स्वीकृति नहीं है बल्कि स्थिति को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हुए आत्मावलोकन है। उन्होंने दुनिया देख ली है कि वे सिर्फ भोग्या नहीं हैं। वे भी भोग सकती हैं।

कहानी कहीं भी नाटकीयता में नहीं उलझती और समाज के भय अथवा दायित्व बोध से आक्रांत नहीं होती। तीनों सहेलियां अंत में स्वीकार करती हैं कि 'अपनी शर्तों पर जिओ, अपनी शर्तों पर प्रेम करो। जो करने का मन नहीं उसके लिए इनकार करना सीखो, जो पाना चाहती हो, उसके लिए अधिकार से लड़ो।' मूल्यों के नए धरातल के लिए ऐसी सहज स्वीकृतियों की आवश्यकता है। इतना दमखम कहाँ बचा रह गया है इंसान में? रोज के रोज उसके प्रतिरोध में, उसके बने रहने में कमजोरी आती जा रही है। सभी के लिए एक ही फार्मूला कारगर भी नहीं हो सकता। बल्कि होना यह चाहिए कि जिसको जैसे मन करे, जैसी इच्छा करे वैसे रहे। जो विवाह कर सकते हैं, वे विवाह करें लेकिन किसी समझौते की तरह नहीं। अपना वजूद और अपना अस्तित्व बचाए

हुए। जो स्वतंत्र रहना चाहते हैं उन्हें स्वतंत्र रहने का अधिकार हो।

साहित्य से इतर वास्तविक समाज में जब एम्स जैसे बड़े संस्थान में सीनियर रेजिडेंट पति की क्रूरताओं से उकताकर आत्महत्या करती है तो मन खौल उठता है। आखिर स्त्री अधिकारों के प्रति इतनी बेफिक्र क्यों है ? समाज कुछ बहस कर और सवाल कर मामले की इतिश्री कर लेता है कि क्या वह विरोध नहीं कर सकती थी ? क्या वह अलग होकर नहीं रह सकती थी ? क्या वह तलाक नहीं ले सकती थी ? क्या वह अपने पति को बेनकाब नहीं कर सकती थी ? मगर ये सभी बाहरी लोगों के प्रश्न हैं, जिन्होंने उस जीवन को जीया नहीं है। निश्चित रूप से उसके पास हजारों विकल्प रहे होंगे परंतु उसका एक मूलभूत प्रश्न हो सकता है यह रहा हो कि जैसी मैं हूँ वैसे ही क्यों नहीं जी सकती ? बिल्कुल वैसी क्यों नहीं स्वीकार्य हूँ ? उसकी आत्महत्या किसी टूटी हुई, बिखरी हुई लड़की की आत्महत्या नहीं रही होगी। निश्चित रूप से वह व्यक्तिगत प्रतिरोध रहा होगा, जिसे और कोई अभिव्यक्ति नहीं मिल सकी। बस इसलिए कि उसे अपनी परिस्थितियों, अपनी शर्तों पर जीने नहीं दिया जा रहा, वह जिंदगी को ही अलविदा कह देगी। उस स्त्री से अधिक वह परिवार जिम्मेवार है जो शादी करके अपने दायित्वों की इतिश्री मान लेता है।

परिवार में विरोध के स्वर दबते जा रहे हैं। नई सदी की यह पीढ़ी आत्महत्याओं के भय के साए में जी रही है। वह समझने को तैयार नहीं कि प्रतिरोध की बजाय सीधे 'क्लिक' कर समाधान पाने की राह बहुत दुरूह है। परिवार में आधुनिकता बोध को लेकर गौरव सोलंकी की कहानी 'बारहवीं ए की लड़कियां' इस मायने में भी महत्त्वपूर्ण है कि यह भाई बहन के रिश्ते पर बुनी गई है। हिन्दी कहानियों में बहन की भूमिका और उनका प्रदर्शन बहुत सीमित रहा है। यह आश्चर्यजनक है। प्रतीकों और बिम्बों का प्रयोग बहुत कुशलता से किया गया है। नायिका शायना अपनी और अपने भाई की कहानी कहती है और इस बहाने पूरे समाज की बुनावट को उघाड़ती चलती है। हालांकि आम पाठकों के समझने के हिसाब से थोड़ी दूरूह है।

कहानी में भाई बहन का रिश्ता बिल्कुल समान मानवीय धरातल पर बुना गया है। दोनों में दोस्ती और सखापन है, भाई बहन वाली मजबूत इस्पाती दीवार गिर चुकी है। दोनों को एक दूसरे के साथ रहने का सुखद एहसास है और एक दूसरे के लिए पर्याप्त स्पेस भी है। गैर वाजिब तरीके से दुखी हो गए भाई का दिल रखने के लिए शायना उसके साथ बैठकर ब्लू फिल्म भी देखती है और माँ-बाप के साथ गैर-संजीदा हो चुके रिश्ते को सहने की ताकत देती है। वह किसी भी परिस्थिति में अपने भाई को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है, चाहे वह कुछ भी करे। पूरी कहानी पढ़ते हुए सजगता के साथ-साथ आधुनिकता बोध बना रहता है साथ ही एक उदासी का माहौल भी मन पर छाता जाता है कि सब कुछ इतना घिनौना, इतना बेतरतीब क्यों होता जा रहा है ? समाज की सच्चाइयों को इतने उथले रूप में स्वीकार कर उसे इतना घिनौना और अस्वीकार्य मानने के लिए हम किस कदर अभिशप्त होते जा रहे हैं ? क्या स्त्री पुरुष रिश्ते को कभी संजीदगी से स्वीकार नहीं किया जा सकेगा ?

नए मूल्यों की स्थापना के लिए तमाम विकल्प तैयार हो रहे थे कि अचानक बाजार की आवक ने स्त्री पुरुष रिश्ते को फिर से पिछले मोड़ पर ला खड़ा किया। स्त्री अधिकारों के पैरोकार अपने को ठगा हुआ महसूस करने लगे। उन्हें लगने लगा कि नारीवाद का जो बिगुल पिछली सदी के छठें सातवें दशक में बजा था, वह अपना वर्तुल पूरा कर फिर से उसी बिंदु पर आ खड़ा हुआ है। यह कहना निश्चित ही जल्दबाजी होगी मगर कुछ कहानियों में ऐसे चिन्ह दिखने लगे हैं। प्रकृति करगेती की कहानी 'ठहरे हुए से लोग' बाजार की धमक को सभी रिश्तों पर भारी मानती है। कहानी प्रतीकों और बिम्बों के सहारे आगे बढ़ती है। बाजार के शो रूम में शीशे के पीछे खड़ी डमी वास्तविक मानवी समाज को देखती है और सिहर उठती है कि कैसे दिन चढ़ते ही बाजार बढ़ने लगता है और सबको अपनी चीखों चिल्लाहटों में इस कदर समेट लेता है कि बलात्कार की शिकार हुई लड़की की लाश तक लोगों का ध्यान नहीं जाता। उसके बयान इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि वह पहले से ही बिल्कुल स्पंदनहीन है। वह बाहर निकलकर जिस लड़के से टकराती है वह एक चलता फिरता इश्तहार निकलता है। जो मनुष्य पहले उपभोक्ता बनने से डरता था अब वही इश्तहार तक बना हुआ घूम रहा है। बिडंबना यह कि डमी को बाहर की दुनिया भयावह मालूम पड़ती है जिसमें बलात्कार है, मरना है, मारना है

और शीशे के पार उसे इन चीजों का कोई डर नहीं। वैसे भी मनुष्य अगर इश्तहार में तब्दील होता जाए तो उसे किस बात का डर? किससे डर?

बाजार के धमक की और भी अधिक महत्त्वपूर्ण कहानी वरिष्ठ कथाकार असगर वज़ाहत की 'किरच किरच लड़की' है। कहानी में एक लड़का है, एक लड़की है। लड़की लता है और लड़का राहुल। दोनों छोटे-छोटे शहरों से आकर दिल्ली में नौकरी की खोज में लगे हैं। लड़की ने एमबीए किया है और लड़के ने सिविल इंजीनियरिंग। इस अंतहीन खोज में दोनों में प्रेम पनपता है। मगर दोनों शहर और बाजार की गिरफ्त में हैं। एमबीए वाली लड़की को नौकरी मिल जाती है मगर सिविल इंजीनियर को नहीं। लड़की की नौकरी बहुत अजीब है। उसे बड़े शोरूम में डमी मॉडल बनने की नौकरी मिली होती है जिसे कपड़े टांगकर दिन भर चुपचाप खड़े रहना है। इन प्रतीकों से बाजार की क्रूरता और उसकी आपाधापी से सूखती जा रही संवेदनाओं और सूखती जा रही जिजीविषा को रेखांकित किया गया है। लड़का उसे ढूंढ़ता हुआ शो रूम में रोज आने लगता है। पहले उनमें थोड़ी-थोड़ी बात होती है फिर कुछ दिनों बाद इशारों में बात होती है और अंततः लड़की बोलना बंद कर देती है। उदास लड़का उसे कैद से छुड़ाना चाहता है और सेठ से झगड़कर शीशे के पीछे जाकर उसे छूने की कोशिश ही करता है कि छनककर लड़की टूट जाती है और उसकी किरचें दूर तक बिखर जाती हैं। इस तरह टूटना और टूटकर बिखर जाने का प्रतीक बहुत महत्त्वपूर्ण है। बाजार की ताकत के आगे मनुष्य इसी तरह टूट रहा है कि उसके टुकड़ों का भी पता नहीं चल रहा।

बाजार और सांस्कृतिक हमले की व्यापकता के चलते स्त्री और पुरुष अपनी बची खुची अधिकारिता के साथ बाजार की ताकतों से लड़ने में जुट गए हैं। बाजार की ताकत उन्हें ज्यादा क्रूर और वहशियाना लग रही है। इससे आक्रांत होकर कुछ कथाकार ऐसी कहानियां लिखने लगे हैं जो इस बात से बिलकुल आंख मूंदे हुए हैं कि स्त्रियों के अधिकारों की कोई बात पीछे चल रही थी। उसमें न तो परिवार का संघर्ष है, न स्त्री मुक्ति के नारे हैं और न पुरुष के बरअक्स खड़ी होती स्त्री के चित्र। ऐसी कहानियों की नायिकाएं अपनी दुनिया में खुश हैं, महफूज हैं और सुरक्षा का अनंत आवरण उन्हें घेरे रहता है। वे अपनी छोटी सी दुनिया में पति की तंग जेबों, शहर के एकाकीपन, बाजार की आक्रामकता और घटती मानवीयता के बीच चुपचाप आगे बढ़ रही हैं। न उनके मन में शोर है, न जीवन में। दरअसल यह बाजार से आक्रांत स्त्री है जो अपने पति को भी उससे बचाना चाहती है। शोर या सवाल उठने की गुंजाइश ही नहीं है शायद क्योंकि अपना पति, अपना परिवार, अपनी आय और शहर में एकल रिहाइश इससे ज्यादा किस बात की आकांक्षा?

नई प्रवृत्तियां देखकर एकबारगी लगता है कि स्त्री का अपने वजूद और अस्तित्व के लिए संघर्ष अपना वर्तुल पूरा कर फिर से प्राथमिक बिंदु पर आ ठहरा है। हालांकि इस बिंदु पर स्त्रियां थोड़ी अधिक स्वतंत्र, अपनी बात मनवाने में कुशल, दबाव डालने में सक्षम, परिवार के बाकी शोषक सदस्यों से दूर रहने की सहूलियतें लिए हुए और अपनी कंडीशंड सोच के अंतर्गत आने वाली इच्छाओं को पूरा करने में सक्षम हैं। हालांकि निश्चयात्मक तौर पर किसी निर्णय पर पहुंच जाना अभी जल्दबाजी होगी।

अंत में समकालीन कहानी में स्त्री पक्ष की प्रवृत्तियों की बात करें तो पहली प्रवृत्ति ऐसी स्त्रियों की है, जिनमें अपनी स्थिति को लेकर कोई शोर नहीं है। वे पितृसत्तात्मक संरचना से पूर्णतया रची बसी हैं। उसमें सोमा बुआ जैसी बुजुर्ग भी हैं तो बिलकुल नई नवेली हाउसवाइफ भी। दूसरी प्रवृत्ति में पितृसत्तात्मक संरचना में बिना बदलाव चाहे अपनी स्थिति के प्रति सजग और प्रतिरोध दर्ज करती स्त्रियां हैं जैसे दीपशिखा, गुर्जर की रखैल औरत, फूलमती, सुगना, दुलारी, मिसेज गोयल, विमली और बजरिया। इनके शेड्स अलग-अलग हैं और प्रतिरोध का तरीका भी बिल्कुल अलग। जैसे सोमा बुआ न तो दीपशिखा की सास की तरह शोषक हैं और न ही माधुरी देवी की तरह कोई मूलगामी कदम उठाती हैं। तीसरी प्रवृत्ति की स्त्रियां इन संरचनाओं को धता बताकर खड़ी होने की कोशिश करती हैं और कुछ उसे आगे ले जा पाती हैं और कुछ वापस रूढ़िगत मॉडल में लौट आने को तड़पती हैं। ऐसी स्त्रियों में तीनों सहेलियां आभा-स्नेहा-मेघना, शालू, अलका अग्निहोत्री, माधुरी देवी और आपगा को शामिल किया जा सकता है। चौथी प्रवृत्ति में ऐसी स्त्रियां हैं

जो नए राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक परिदृश्य में अपने लिए अलग स्पेस ढूंढ़ती हैं और नई दुनिया, नया कैनवास रचती हैं। सुवंथी और मीरा इसी तरह की आधुनिकाएं हैं। पांचवी प्रवृत्ति में बिल्कुल नई पीढ़ी की स्त्रियां हैं जो फिर से रूढ़िवादी संरचना के पाश में हैं मगर उसे अपने अनुसार मोड़ लेने में सक्षम हैं। इन पर पिछली प्रवृत्तियों का कोई असर नहीं है। इन्होंने अंगीकार कर लिया है कि स्त्री स्वतंत्र है और वह बिलकुल पुरुषों की तरह सोच सकती है। पुरुष इसमें दूसरा तत्व नहीं है बल्कि उनका सहचर है। शायना और दीपा ऐसी लड़कियां हैं। छठीं प्रवृत्ति की स्त्रियां उपरोक्त मूलगामिता को अंगीकार कर, बाजार की गोद में उतरते ही बिखर जाने वाली हैं। इस बिखरने में न संभलने का मौका है, न ही फिर खड़े हो सकने की ख्वाहिश।

इसके अतिरिक्त भी बहुत सी प्रवृत्तियां अलग-अलग शेड्स के साथ ढेरों कहानियों में मौजूद हैं लेकिन लेख और लेखक की सीमा है कि सभी को समेटा नहीं जा सकता। स्त्रियों की मानसिक स्वतंत्रता की अवहेलना कर देह की स्वतंत्रता की बात करने वाली भी ढेरों कहानियां लिखी जा रही हैं जिनमें कामुकता ही नहीं बल्कि विकृत कामुकता की छौंक है। कुछ सार्थक बदलाव लायक इनकी ताकत महसूस नहीं होती। इसके अतिरिक्त कन्या भ्रूण हत्या, बलात्कार, दहेजप्रथा, घरेलू हिंसा, कामकाजी महिलाओं का यौन उत्पीड़न, समलैंगिकता जैसे विषयों पर भी ढेरों कहानियां हैं। स्त्रियों के मानसिक संसार की यात्रा कराने या सामाजिक-राजनीतिक-पितृसत्तात्मक गठजोड़ को खोलने की बजाय इनका ध्यान घटना और उससे उपजे आक्रोश, जुगुप्सा पर अधिक है। कुछ विषयों पर कहानियां न मिलने की कमी भी खलती रही। हिन्दी पट्टी में अरेंज मैरिज बिलकुल साधारण बात है। इसने संस्था का रूप धारण कर रखा है। इसकी विसंगतियों को लेकर या उसके प्रति सधा हुआ आक्रोश नहीं मिल पाया। हो सकता है खोजी दृष्टि की सीमा रही हो। कहानियां लव मैरिज से बहुत आगे लिव इन की बात करती हैं लेकिन कहीं भी पुरानी संस्था की विसंगतियों को खोलकर नहीं रखतीं। मुझे अफ्रीकी लेखक सी. न्गोजी अदिचि की कहानी 'द अरेंजर्स ऑफ मैरिज' की याद आती रही। इसे पढ़ते हुए लगता ही नहीं किसी दूसरे देश की कहानी पढ़ रहा हूँ। उसकी खासियत है कि पति को 'नए नवेले पति' कहकर बार-बार संबोधित किया गया है बिलकुल उसी तरह जैसे हमारे यहां 'नई नवेली दुल्हन/बहू' कहने की आदत है।

एक प्रवृत्ति सब में साझी है कि जब भी स्त्री अपनी स्वतंत्रता या समकक्षता की बात करती है, बातें पुरुष के विरुद्ध खड़ी हो जाती हैं। दरअसल शुरूआत से जब पुरुषों ने ही समाज की रचना की तो स्त्री का कदम उठाना भी पुरुषों के विरुद्ध जाएगा। जैसे पैंट पहने तो पुरुष की नकल, कामकाजी बने तो पुरुष की नकल, नशा करे तो पुरुष की नकल, सेना में भर्ती हो तो पुरुष की नकल! इन विसंगतियों को समझकर उसकी कसी बुनावट को उधेड़ने की जरूरत है जिससे परिवार जैसी संस्था में अधिक मानसिक स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक बहस का माहौल बन सके। यह कितना बिडंबनापूर्ण है कि आज भी परिवार राजसत्ता के रेसिड्यू को ढो रहे हैं! जिसमें झूठा सम्मान, अविवेकी आज्ञाकारिता, गैर जरूरी निर्भरता और बात रख पाने का साहस न होना बहुत आम है।

स्त्रियों की स्वतंत्रता को लेकर जो शोर मच रहा है और सांस्कृतिक खतरे का भय दिखलाया जा रहा है, सब कुछ कागजी है। बिना किसी तानशाही और शोर शराबे के लोकतंत्र के अंतर्गत भी जिस तरह आधी आबादी पर क्रूर तानाशाही चल रही है वह बीती बात बननी चाहिए। इससे कोई संकट नहीं आ जाएगा। मनुष्य, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, मनसजीवी है। वह पशुओं की तरह बैठकर जुगाली नहीं कर सकता। विचारों से आक्रांत रहता है। विचारों की कैद उसके अस्तित्व के लिए भारी पड़ती है। उसे आजादी मिल जाए तो परिवार, समाज, संस्कृति, राजनीति, अर्थव्यवस्था सबकुछ अधिक स्वस्थ और समृद्ध होगा।

8बी/2, एन पी एल कॉलोनी,
न्यू राजेन्द्र नगर,
नई दिल्ली - 110060
मो. 9311841337

राहुल सिंह

कहानियों के बहाने : कहानियों पर इशारे

किसी अंक की कहानियों पर बात करना कई कारणों से चुनौतिपूर्ण हो जाता है। एक तो उन पर दी जानेवाली राय एक चश्मे का काम करने लगती है, जिसकी निगाह से उस कहानी को देखे जाने का खतरा बना रहता है। दूसरे आपको हर कहानी के साथ अचूक होना पड़ता है, अन्यथा कोई चूक ही आपके संदर्भ में यादगार बन कर न रह जाये। इसके साथ ही सबसे बड़ी मुसीबत यह कि गर कहानियाँ अच्छी हुईं तो उनके सारे पहलुओं को खोला नहीं जा सकता है और औसत या उससे बुरी हुई तो धर्मसंकट पैदा हो जाता है कि क्या उसके प्रकाशन के साथ उसकी मरम्मत की एक नैतिक कार्यवाही अंजाम दी जा सकती है? दुश्वारियाँ यहीं खत्म नहीं होती हैं, और भी गम हैं। मसलन् किसी प्रतिष्ठित कहानीकार की ऐसी कहानी भी सामने आ जाती है, जो उसकी प्रतिष्ठा में कुछ जोड़ने की बजाय घटाने का काम करती है। पर इसका सबसे सुखद पहलू यह होता है कि किसी अज्ञातकुलशील की कोई रचना चमकती हुई-सी नमूदार होती है, और दुनिया के सामने प्रकाशित होने-से पहले, आपको पढ़ने के एक अनिर्वचनीय सुख से भर जाती है। कहानियों पर बात करने की अपनी बंदिशें तो होती ही हैं और उस पर आपके अचूक होने का दबाव बना रहता है। इन्हीं कुछ कहे-अनकहे के साथ इस अंक की कहानियों पर अपनी राय जाहिर कर रहा हूँ, इस गुजारिश के साथ की कहानियों को पढ़ने के बाद ही लेख की इन पंक्तियों से गुजरा जाये तो बेहतर होगा। बाकी आपकी मर्जी।

इस अंक में सात स्त्री कहानीकार हैं। उन्हीं से बात शुरू करने के मूल में 'लेडिज फर्स्ट' जैसा कोई प्रचलित आग्रह नहीं है। बस, बात आरंभ करने की निजी सहूलियत है। किरन सिंह की कहानी 'पता' को छोड़ दें तो बाकी कहानियों में केन्द्रीयता स्त्री की है। बल्कि इन बची आधा दर्जन कहानियों में समरूपता के कई बिन्दु मौजूद हैं। इन बची कहानियों में एक तो 'विवाह संस्था' की अनिवार्य मौजूदगी 'नोटिस' ली जानेवाली चीज है और दूसरा उन स्त्रियों की अलग-अलग सामाजिक-आर्थिक स्तरों की नुमाइंदगी और उनसे निर्मित होता स्त्री का देश-काल। इनमें जयश्री रॉय की 'संधि' को छोड़ दें तो बाकी पाँच कहानियों में विवाह संस्था की आलोचना ही निहित है। उपासना की 'उदास अगहन' का परिवेश सामंती है, ग्रामीण है। जमींदार के द्वारा दूसरी ब्याहता के तौर पर आई वृंदा इसकी केन्द्रीय चरित्र है। पौरुष के मोर्चे पर हांफते जमींदार के भाई से अवैध संबंध के जरिये संतानोत्पत्ति की कामना को पूरी करती वृंदा की इस कहानी में कुछ ऐसा नहीं है, जिसके लिए इसको अलग से रेखांकित किया जाये। गनीमत इतनी है कि कहानी दलित विमर्श में एक समय प्रचलित सवर्ण औरतों और दलित पुरुषों के फार्मूले पर नहीं लिखी गई है। बाकी उपासना की अपनी भाषा और उसमें लोक की छौंक से कहानी पठनीय है। अंजलि देशपांडे की 'घूंघट' सामंती और ग्रामीण परिवेश से इतर किसी निम्नमध्यवर्ग की डेढ़ कमरे में एक संस्कारी बहू के घुटन को दर्शाती है, जिसके नसीब में पंखे की हवा उतनी ही देर लिखी है, जितनी देर उसके ससुर बाथरूम में हैं। एक बेहद संस्कारी औरत, जिसने शायद ही शादी के बाद अपने ससुर से कोई बात की हो। उसका पति दफ्तर में अपने ब्रांच मैनेजर श्याम कुमार के खिलाफ एक झूठी शिकायत दर्ज करा देता है कि उन्होंने उनकी पत्नी के साथ बलात्कार किया है। इस मामले की जाँच के लिए अचानक दिल्ली हेडऑफिस से एक टीम उनके घर आ जाती है। इससे पहले इसकी कोई चर्चा उसके पति ने अपनी पत्नी से नहीं की है। उस दिन पूछे जाने पर वह कहती है कि श्याम कुमार कभी घर पर नहीं आये हैं। सफाई में उसका पति रात में उससे कहता है कि 'ऐसे ही ऑफिस में झगड़े हो जाते हैं। उसको सबक सिखाना था। हो गई गलती। चल, चल बात खत्म कर।' उसे लगता है मानो सबको पता है कि उसके पति ने उसके बारे में क्या लिख कर अपने ऑफिस में दे दिया है। इसलिए वह अब सोते-जागते, उठते-बैठते हर-हमेशा डेढ़ हाथ का घूंघट काढ़े रहती है। महीनों

यह सिलसिला यूं ही बदस्तूर चलता रहता है। उसके इस प्रतिरोध से आजिज आकर उसका पति एक रात उसके साथ जर्बदस्ती करता है और अगली सुबह वह पंखे से लटके मिलती है। उसके पास वही प्रति पड़ी है, जिसमें उसके पति ने बलात्कार के आरोप की लिखित शिकायत की थी। फर्क इतना है कि उसमें बॉल पेन से टेढ़े-मेढ़े, बड़े-बड़े हर्फो में अलग से लिखा है 'मेरा पति यही किया। बलात्कार। इस आदमी के साथ रह नहीं सकती। मेरा पति मेरी मौत का जिम्मेवार है।' प्रज्ञा और जयश्री रॉय की कहानी की नायिकायें एक-सी सामाजिक-आर्थिक स्थिति को साझा करती हैं। प्रज्ञा की कहानी में एक मध्यवर्गीय स्त्री के संघर्ष को उसके रोजमर्रे की जीवन में बड़े यथार्थपरक ढंग से दिखलाया गया है। बस, प्रज्ञा की कहानी की एकमात्र दिक्कत यह है कि वह इस रूप में खुलती है, मानो पाठक भी घटनाक्रम से परिचित है। पात्र अचानक से इतनी बड़ी संख्या में कहानी के धरातल पर उतर आते हैं, कि उनको अलग-अलग पहचानने के लिए काफी मेहनत करनी पड़ती है। वे अपनी विशेषताओं के साथ नहीं बल्कि संबंध सूत्रों के आधार पर प्रकट होते हैं। इससे पात्रों की निजता खतरे में पड़ जाती है, वे नाम भर रह जाते हैं। यदि इसे नजरंदाज कर दें तो फिर कहानी ठीक बन पड़ी है। पर इस अंक में स्त्री कहानीकारों की जो दो कहानियाँ अच्छी बन पड़ी हैं। उनमें एक तो जयश्री रॉय की 'संधि' है और दूसरी किरन सिंह की 'पता'। पहले बात जयश्री रॉय की 'संधि' पर।

एक निर्लिप्त, निरावेग, शांत, कुछ-कुछ थकी और निढाल-सी भाषा में लिखी गई यह कहानी भाषा की अपनी इस अदा से कहानी की अंतर्वस्तु की हमजोली-सी बन जाती है। कई बार जीवन में कुछ बेबसी ऐसी होती है कि तमाम प्रयत्नों के बावजूद उनसे पार पाना मुमकिन नहीं होता है। यह कहानी उसी बेबसी से उबरने के उपक्रमों की कहानी है। कहानी सिर्फ बेसबब नहीं बढ़ती है। बढ़ती कहानी के साथ उसके बंद खुलते चलते हैं। बेबसी की परतें खुलती चलती हैं। कहानी बेहद मामूली प्रसंगों के जरिये आगे बढ़ती है। रोजमर्रे के जीवन-अनुभवों से धीरे-धीरे गुजरती यह कहानी समग्रता में कहानी की एक पूर्णता का अहसास करा जाती है। कहानी को मोटे तौर पर दो कोणों से पढ़ा जा सकता है। एक तो माँ के दृष्टिकोण से और दूसरे उसकी बेटी मानसी के, जिस पर जयश्री रॉय का जोर है। सहानुभूति निश्चित तौर पर मानसी के साथ है। पर माँ की बात करें तो 'संधि' में माँ हमारी चिंता के दायरे में नहीं आ पाती हैं। लेकिन ठीक इसके उलट ममता सिंह की 'राग-मारवा' में माँ चिंता की धुरी हैं। नालायक बेटा और मतलबी बहू के फेर में पड़ कर कुसुम जिज्जी की जिंदगी नारकीय हो रखी है। यद्यपि इस कहानी में संगीत अच्छा स्थान घेरती है, पर यह अपनी सांगीतिक पृष्ठभूमि से ज्यादा बहू की धनलिप्सा और अमानवीय होते वक्त की कहानी लगती है। कहानी में बार-बार कुसुम जिज्जी के बुढ़ापे को एक टेक की तरह इस्तेमाल किया गया है, पर कहीं उनके उम्र का खुलासा नहीं है। उनकी अवस्था से उनकी दयनीयता को और उनके बहू-बेटे के आचरण से उनकी अमानवीयता का 'कंट्रास्ट' रचा गया है। मध्यवर्गीय लालसा, लिप्सा ने किस कदर जीवनमूल्यों को लीलने का काम किया है, कहानी इसे अपनी सीमाओं के बावजूद दिखा जाती है।

इन स्त्री कहानीकारों की कहानियों में आई स्त्रियाँ अलग-अलग आर्थिक और सामाजिक ताने-बाने को सामने रखती हैं। पर जया जादवानी की नायिका उस स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है, जिसे राजेन्द्र यादव आजीवन बेहद जतन से हंस की कहानियों और अपने स्त्री विमर्श के मार्फत् रचने में जी-जीन से जुटे रहे। स्नोवा बार्नो की कहानियों में संचरण करनेवाली स्त्री की छाप जया जादवानी की कहानी 'क्या आपने हमें देखा है' में देखी जा सकती है। कामुकता की एक मद्धिम आंच, उस पर ऐंठती-चटकती देह। अरमानों पर फलसफे का लिहाफ, जिसके विस्तार के लिए अपेक्षित एकांत और इन सबको साहित्य के दायरे में रखने की यथासंभव कलात्मक कोशिश, नहीं तो मामला 'सोफ्ट पोर्न' की हद तक जा पहुँचे। एक आजाद खयाल, आत्मनिर्भर और अपनी शर्तों पर जीनेवाली स्त्री को रचकर भी जया जादवानी की यह कहानी अपने पूर्वाग्रह के कारण आलोचना के घेरे में आ जाती है। विवाहिताओं के लिए उनके द्वारा कहानी में प्रयुक्त विशेषण 'पालतू जिन्दा औरतें' खासा अपमानजनक लगता है। और स्त्री की स्वच्छंदता का, स्वतंत्रता का नहीं, जो आख्यान वे रचती हैं। वैसी स्त्रियों को गौरवान्वित करती हुई 'पालतू जिन्दा औरतों' के बरक्स वे 'जिन्दा औरतों' का उद्‌बोधन सामने रखती हैं। एक सुखद साहचर्यपूर्ण जीवन के अभाव में टूटी हुई, एकाकी औरतें महत्त्वाकांक्षा की जिस निर्जन टापू पर रहती हैं, उसे देखते हुए इस किस्म के विशेषणों की दयनीयता खुद-ब-खुद उजागर होनेवाली वस्तु है। उस पर अलग से कागद कारे करने की आवश्यकता नहीं है।

इन सात कहानियों में से पाँच में विवाह संस्था के अंतर्गत स्त्रियों को घुटते-सिसकते और संघर्ष करते दिखाया

गया है। जो इस बात की तस्दीक करती है कि केवल विचार के धरातल पर नहीं बल्कि अपने अनुभव में वे विवाह संस्था के 'पितृसत्तात्मक संरचना' को महसूस कर रही हैं और अपने तईं उसके अतिक्रमण की कोशिश भी दबे-छिपे-खुले ढंग से कर रही हैं। इन कहानियों में एक बात और है। जीवन परिस्थितियों से घुटी इन स्त्रियों के लिए कोमलता का बाहरी संस्पर्श नये संबंधों को प्रस्तावित कर रहा है। इनकी कहानियों में छुअन के अहसास से नई रिश्तों की कोंपलें फूटती दिख रही हैं। चाहे वह उपासना का 'उदास अगहन' हो जिसमें 'एक भारी हाथ कोमलता से वृंदा का सिर व पीठ सहलाता है' या जयश्री रॉय की 'संधि' हो जिसमें डॉक्टर पार्थसारथि की हार्दिकता का संस्पर्श मानसी के मन को नम कर जाता है या अंजली देशपांडे की 'घूंघट' हो जिसमें कोमलता से इतर पति की कठोरता उसके तन-मन को रौंदती है। पर कोमलता के इन अस्फुट गूंजों से इतर पंकज सुबीर 'कोमल स्पर्श की महिमा' पर ही 'रेपिश्क' जैसी कहानी लिख डालते हैं। गजब यह कि 'रेपिश्क' की अशिमा जिसके साथ रेप हुआ है। वह अपने रेपिस्ट को इसलिए खोजना चाहती है कि 'वह बहुत सॉफ्ट था, पोयटिक, जैसे कोई सॉफ्ट-सी फ्ल्यूट बज रही हो। मद्धम मद्धम मद्धम।' अब 'रेप' को इस कदर कहानी में उतारने का मौलिक प्रयास कहीं और हुआ हो तो नहीं मालूम, पर हिन्दी में इसका सेहरा पंकज सुबीर के सर बांधा जा सकता है। जो रेप करे उससे इश्क हो जाये तो वह रेपिस्ट न होकर 'रेपिश्क' हो जाता है। कहानी की मूल थीम स्त्री की बुनियादी अस्मिता के विरोध में जाती है। बाकी पंकज सुबीर की कहानी फिल्मी है, वह भी सी ग्रेड की।

किरन सिंह की 'पता' एक 'मैच्योर' कहानीकार की कहानी लगती है। बतौर कहानीकार उनके आत्म विश्वास को उनके कहन में दमकता हुआ पा सकते हैं। इस कहानी की ध्वन्यात्मकता में इसकी खूबसूरती समाहित है। नक्सल को पृष्ठभूमि में रखते हुए यह कहानी 'देश' की बहुत-सी बातों पर संकेत करती चलती है। बस्तर के अपने साथियों को अपने अधमरेपन से अवगत कराता हुआ जो संदेश वह भेजता है। उस संदेश की अभिधात्मकता में जो ध्वन्यात्मकता है गर उसे आप पढ़ सकें तो इस कहानी को पसंद करने की मेरी वजहों को आप समझ सकते हैं। वह लिखता है- 'रोहिला! अजित! तुम मुझे ढूंढ रहे होगे- मेरा पता है देश, जहाँ से नदी पाट छोड़ कर मुड़ गई है, जो अब सरकारी कूड़ाघर है।' इस पते के आधार पर उसे ढूंढ पाना मुश्किल है और उसका मरना तयशुदा। पर इसे ही दूसरे स्तर पर जाकर देखें तो आज पूरे देश में नदी अपना पाट छोड़ रही है और पूरा देश सरकारी कूड़ाघर में तब्दील होता-सा दीख रहा है। देश और उसके पते की जो रूपकात्मकता या प्रतीकात्मकता है। इस दृष्टि से उनकी परिपक्वता का अंदाजा लगाया जा सकता है। यह परिपक्वता ही उनको और उनकी कहानी को इस अंक की अन्य स्त्री कहानीकारों से अलग करती हैं और इसे अलग से रेखांकित करने योग्य बनाती हैं।

अब बात गर पुरुष कहानीकारों की करें तो तेजेन्द्र शर्मा की 'बुशी का भूत' किसी संस्मरणात्मक रेखाचित्र-सा लगता है। कहानी का प्लॉट दिलचस्प है। 'निकल एलर्जी' जैसी चीज से परिचित होने का मौका मिलता है। यह अमूमन उस किस्म की कहानियों में से है, जिसे बतौर कहानीकार आप अपने जीवन में गाहे-बगाहे घटते देखते हैं और कहानियों की शक्ल में वक्त-बेवक्त परोसते हैं। कहानी का परिवेश ब्रिटेन का है, पर कहानी में फिल नाम का जो किरदार है, भारतीय परिवेश में उसकी पुनरावृत्ति किसी ईमानदार सरकारी कर्मचारी की कार्यशैली में देखी जा सकती है। कहते हैं न बिन घरनी घर भूत का डेरा। फिल अविवाहित है। जीवन के एकाकीपन को फिल काम के प्रति अपने समर्पण से भरता है। समर्पण भी वह जो जुनून या दीवानगी की हदों को छूती हो। 'बुशी का भूत' में यह जुनून और दीवानगी ही भूत का पर्याय है। 'बुशी का भूत' के समान ही हरि भटनागर की कहानी 'शार्ट स्टोरी' वाली परंपरा में है। कुछ ऐसा जो आपके रोजमर्रे के जीवन में यों ही बात-बेबात में घट जाये, पर आपके मन में गड़ जाये। इसलिए कि आप गलती पर थे, पर उसको स्वीकार करने का सामर्थ्य आप में तत्क्षण न हो। फिर रगों में दौड़ता खून जब थोड़ा थिर हो आये और आपका विवेक आपकी लानत-मलानत करे तो संवेदना के कष्ट से मुक्त होने के लिए आप 'पाप-स्वीकार' की मुद्रा में आ जायें और जब आप फिर से उस बीते लम्हें का रफू करना चाहें तो वह आपसे छिटक कर दूर जा खड़ा हो जाये और आप अपराध बोध की एक ऐसी स्थिति में खड़े हो जायें जहाँ एक साथ आप उसे डराना भी चाहें और उससे डर भी रहे हों। हरि भटनागर की 'आँच' ऐसी ही कहानी है। यह हमारे जीवन में आये दिन घटनेवाली घटना को संबोधित करती कहानी है। घरों में ऐसे अनेक काम रोज निकल आते हैं, जिसके मरम्मत की क्या कीमत हो इसकी कोई जानकारी हमारे पास नहीं होती। मसलन् प्लम्बर या इलेक्ट्रिशयन के द्वारा की जानेवाली मरम्मत की मजदूरी। और अक्सर उस काम की कीमत हम अपने तईं बेहद कम करके आंकते हैं।

यह काइंयापन हम सबों के स्वभाव में कहीं न कहीं समाया हुआ है। पर उसकी लगातार अनदेखी कर, हमने उसे जीवन की स्वभाविक स्थितियों के तौर पर स्वीकार कर लिया है। इस किस्म की बेहद मामूली–सी घटना पर 'आँच' आधारित है। पर इसको पढ़ने के बाद इसकी आँच आपके भीतर भी हल्की तपन पैदा कर जाती है। और कबीर की साखी की इस पंक्ति का अर्थ भी समझा जाती है कि 'मुई खाल की आह से लौह भस्म हो जाये।' चन्द्रकिशोर जायसवाल की 'विक्लव' भी एक उल्लेखनीय कहानी हो सकती थी, गर वह अतिकथन का शिकार नहीं हो जाती। 'विक्लव' का आशय होता है जो हर वक्त डरा–डरा हो, बेचैन हो, घबराया हुआ हो, शंकाओं से घिरा हो। अवध बाबू इस कहानी के वही चरित्र हैं। पर उनके डर और उनके संशय और शंकाओं को बुनने में चन्द्रकिशोर जायसवाल ने थोड़े ज्यादा पन्ने खर्च कर दिये हैं, इसलिए एक सीमा के बाद कोफ्त होने लगती है। गर विस्तार और अतिकथन का लोभ संवरण वे कर गये होते तो कहानी अच्छी संरचना के धरातल पर भी कसी हुई हो गई होती। संजीव की कहानी उनकी 'प्रमेय वाली शैली' के कारण बहुत उल्लेखनीय नहीं रह जाती। जैसे एक सधा हुआ चित्रकार अपने दो–चार स्ट्रोक्स से किसी रेखाचित्र को रच सकता है, पर वह रेखाचित्र जरूरी नहीं कि बहुत उल्लेखनीय है। संजीव के पास लिखने का जो लम्बा तजुर्बा है, उससे वह 'कोकिला व्रत' जैसी चीजें बेहद सहजता से लिख सकते हैं। पर कहानी के धरातल पर ऐसी कोशिशों का अवसान बहुत सुखद नहीं होता है। संजीव की शैली रही है कि कहानी के जरिये किसी बात को रेखांकित करना, साबित करना। इसके लिए कहानी तयशुदा पगडंडियों, मोड़ों, चौक–चौराहों से गुजरती है, और यह परेड अपने गंतव्य पर ही जाकर थमती है। इस क्रम में कहीं न कहीं कहानी का लुत्फ गुम हो जाता है। 'कोकिला व्रत' संजीव की वैसी ही कहानियों में शामिल है। कुछ ऐसे ही हादसों का शिकार शेखर मल्लिक की कहानी 'रे अबुआ बुरु' भी हो गई है।

भाषा के विन्यास से कोई कोई रचना कविता या कहानी होती है। और उसी भाषा को बरतने की अदा से कहानी में 'पन' आता है। कहानी में इस कहानीपन का होना निहायत जरूरी है। इसके बाद ही कहानी अच्छी–बुरी आदि के वर्गों में आती है। शेखर मल्लिक की कहानी इस आरंभिक और बुनियादी मोर्चे पर ही बिखर जाती है। कहानी और सरोकार दो अलहदा चीजें हैं। उनका एकमएक हो जाना उस भाषा और विधा में आपकी पकड़ पर निर्भर करता है। उस नियंत्रण के बगैर इस किस्म की कोशिशें दयनीय जान पड़ती हैं। 'रे अबुआ बुरु' एक साथ प्रेम, स्मृति, प्रकृति, नास्टेल्जिया, पलायन, रोजगार, जल–जंगल–जमीन के सवाल, अपने जड़ों की ओर लौटने की प्रत्याशा आदि को कहानी में उठाने का जतन करती है। पर यह सब उसके अन्तर्वस्तु के साथ एकाकार होने की बजाय चिप्पियों की शक्ल में सामने आता है। कहानी की बहुकेन्द्रीयता को पिरोनेवाले सूत्र के अभाव में कहानी का फोकस लगातार शिफ्ट होता रहता है। कहानी अपना मचान नहीं बांध पाती है, जहाँ से वह पूरे कथानक की निगहबानी कर सके। वह रह जगह मचान बांधने की फिराक में कहीं की नहीं रह जाती है। यहाँ तक कि कहानी के बीच–बीच में आये संताली–पहाड़िया गीतों के टुकड़े भी कहानी के प्रवाह को खंडित करने का ही काम करते हैं। शेखर कहानी के मार्फत् जो कहना चाहते हैं, अपने गन्तव्य तक वह अभिप्रेत तो पहुँच जाता है, पर कहानी की सतरें पर नहीं। कहानी के खत्म होने पर स्वप्न का जो टुकड़ा वह आखिर में टांकते हैं, वह टुकड़ा पूरी कहानी पर भारी है। वह टुकड़ा उनके सामर्थ्य और संभावनाओं का संकेत देता है। शेखर मल्लिक के युवकोचित उत्साह के बरक्स महेश कटारे के अनुभव को रखें तो कहानी के संदर्भ में इस बात को समझा जा सकता है कि कैसे एक–एक कर के अलग–अलग पहलुओं को कहानी में पिरोया जाता है। कृषक चेतना किस कदर कहानीकार की सवारी करती है, इसे महेश कटारे के 'उलझन के दिन' में देखा जा सकता है। आषाढ़ के दिन से कहानी आरंभ होती है, पर संदर्भ खेती–किसानी है। इसलिए आषाढ़ के होने के बावजूद कहानी में कहीं रूमानियत नहीं है। किसानों के आत्महत्या के सवालों को तंज करनेवाले अंदाज में छूती यह कहानी आगे बढ़ती है। वहाँ सुस्ताने नहीं लगती है। गांवों की बदलती मानसिकता पर थोड़ी रोशनी डालते हुए आगे बढ़ जाती है। गांव की राजनीति को अपने घेरे में लेती है। सरपंच की करतूतों और ग्रामीणों के रोजमर्रे की दुश्वारियों को निशाने पर लेती है। इस बीच कहानी में नाटकीयता के क्षण आते हैं, उस क्षण में कहानी थोड़ा सफर और तय करती है। कहानी कहीं टिकती नहीं है बस चलती रहती है और एक गांव का पूरा नाक–नक्श उभर कर सामने आ जाता है। इसमें वह तमाम चिंतायें शामिल हो जाती हैं, जो किसानों को लेकर हम आये दिन सुनते रहते हैं। और यह सब करते हुए कहानी अपने शीर्षक 'उलझन के दिन' को चरितार्थ भी कर रही होती है। रोचकता के मार्फत् कहानी को पठनीय बनाने की

अदा में महेश कटारे और शिवमूर्ति सहोदर जान पड़ते हैं। इन दोनों की कहानियों में बहुत-सी साम्यताओं को सहजता से देखा जा सकता है। जमीन से जुड़े किसी भी कहानीकार के यहाँ उनके जनपद की भाषा की रंगत साफ तौर पर देखी जा सकती है। उनकी भाषा में व्यवहृत होनेवाली बोली, लोकोक्ति, कहावत और मुहावरों से उनकी स्थानिकता का बोध हमें होता है। महेश कटारे के यहाँ भाषा की यह धज पूरे मौज में दिखती है। भूमंडलोत्तर पीढ़ी में जिस एक नाम के साथ भाषा की यह जुगलबंदी जगजाहिर है, वे पंकज मित्र हैं। संयोग से उनकी भी 'कफन रिमिक्स' इस अंक में शामिल है। पंकज मित्र इस पीढ़ी के हस्ताक्षर हैं। कहानी में भाषा के मोर्चे पर जब कोई अपनी पहचान कायम कर ले तो वह शैली बन जाता है। पंकज मित्र की कहानियों इस बात की तस्दीक करती हैं कि उनकी अपनी एक शैली बन चुकी है। चित्रकला की दुनिया में आपकी शैली यानी स्टाईल एक समादृत वस्तु हैं, पर क्या कहानी की दुनिया में भी यह उतने ही आदर की हकदार है ? अब वे एक साथ 'टाइप्ड' और 'प्रेडिक्टबिल' हो रहे हैं। इनसे उनकी कहानी लिखने की क्षमता का कोई अवमूल्यन नहीं हुआ है, पर वह एक 'सैचुरेशन प्वांइट' को छू गया है। और उनकी कहानियों का प्रशंसक रहने के कारण उनसे हमारी मुरादें थोड़ी ज्यादा हैं। इसके लिए अपेक्षित वैयक्तिक्ता का अतिक्रमण कुछ वैसा ही है जैसे किसी उपग्रह को अपने धुरी में स्थापित होने के लिए बारम्बार अपने खोल को त्यागना पड़ता है। पंकज मित्र अपने शिल्पगत आग्रहों से ऊपर नहीं उठ पा रहे हैं। बहरहाल, उनकी 'कफन रिमिक्स' पर फौरी तौर पर दो ढंग से बात की जा सकती है। एक विचार के धरातल पर और दूसरा बर्ताव के धरातल पर। पूरी दुनिया में जो 'क्लैसिक्स' हैं, उसको बदले देश-काल में फिर से लिखने की एक परिपाटी रही है। अकेले शेक्सपियर को संसार की न जाने कितनी भाषाओं में कितनी बार अपने ढंग से उतारने की कोशिश की गई है। हिन्दी सिनेमा में विशाल भारद्वाज इसके सबसे बड़े आशिकों में से है। पंकज मित्र की कहानियों पर मैंने विस्तार से लिखा है और उसमें प्रेमचंद की किस्सागोई से अर्जित कुछेक संस्कारों की ओर संकेत भी किया है। इस लिहाज से देखें तो यह अपने पुरखे को याद करने का भी एक तरीका है। कहना न होगा कि पंकज मित्र ने कफन को बदले देश-काल में उतारने में अपने जानते कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। किस्सागोई, कहानीपन से लबरेज पंकज मित्र की 'कफन रिमिक्स' कहानी की धरातल पर खुद को सफलतापूर्वक स्थापित करती है। पर इस कहानी के बारे में जो एक बात सबसे ज्यादा अखरती है, वह है इसका शीर्षक। 'रिमिक्स' और 'रिमेक' जैसे शब्द पूंजीवादी दौर की उपभोक्तावादी संस्कृति की मुनाफाखोर मानसिकता के सूचक हैं, जो एक ओर मौलिकता के क्षरण को रेखांकित करते हैं तो दूसरी ओर सृजनात्मकता के क्षरण को। प्रेमचंद का पूरा लेखन ही इस मानसिकता के मुखर विरोध में खड़गहस्त था। इसलिए बाजारू मुहावरे में उनको याद करने की यह अदा भली नहीं लगी। यद्यपि पंकज मित्र ने एहतियातन शीर्षक के साथ ही शपथपत्र जैसा ही कुछ लगा दिया है कि (बाबा-ए-अफसाना प्रेमचंद से क्षमायाचना सहित)। पर यह क्षमायाचना इस शीर्षक के कारण नहीं 'कफन' को फिर से लिखने के दावे के कारण है। गर इस एक नुक्ते को छोड़ दिया जाये तो कहानी अपने अंदाजे बयां और विषय को बरतने की अपनी अदा से खासा पठनीय और रोचक बन पड़ा है, जो पंकज मित्र की ख्याति के अनुरूप है और संभव है कि पंकज मित्र के प्रशंसक पाठकों की कतार थोड़ा और लम्बा करे।

पंकज मित्र के अलावे इस अंक में और एक कहानीकार हैं जिनकी अब तक की कहानी-यात्रा पर बेहद नजदीक से निगाह रखी है, वे हैं तरुण भटनागर। तरुण भटनागर की 'प्रथम पुरुष' बस्तर की पृष्ठभूमि पर लिखी जा रही कहानियों में संभवत: दसवीं हैं। इससे पहले भी बस्तर की पृष्ठभूमि पर वे आठ-नौ टुकड़े लिख चुके हैं। किश्तों में लिखी जा रही इन कहानियों की औपन्यासिक सौंदर्य इनके एक साथ आने पर दिखेगा। बहुत हद तक संभव है कि हिन्दी में जिस 'जादुई यथार्थवाद' की चर्चा किताबों के ब्लर्ब में प्राय: रचनाकारों के संदर्भ में की जाती है। इन कहानियों के एक साथ आने पर पाठक उसे बेहतर ढंग से महसूस कर पायेंगे। लिखी गई किश्तों में 'प्रथम पुरुष' का अपना सौंदर्य है। यह सौंदर्य उसकी प्रस्तुतिकरण में है। प्रस्तावना में है। बस्तर की आदिवासी जीवन पर केन्द्रित लोकश्रुति, लोकस्मृति में बची गाथाओं, गल्पों को, जो अब मिथकों में बदल गये हैं, अपने ढंग से प्रस्तुत करने की कोशिश कर रहें हैं। महत्त्वपूर्ण है, इनको कहानी में बरतने का तरीका। इन कहानियों का प्रस्थान बिन्दु तरुण भटनागर की दृष्टि है। कहानी के बीच-बीच में उपस्थित होनेवाली इस दृष्टि के कारण इन कहानियों के आस्वाद में एक सुखद-सा अहसास जुड़ गया है। 'यह कथायें जो प्रक्षिप्तियों से भरी लगती हैं।' उन प्रक्षिप्तियों पर अपनी ओर से यथाप्रसंग की जानेवाली टिप्पणियाँ उसकी एक बेहतर व्याख्या उपलब्ध कराती हैं। कहानी के दौरान कहीं लोककथाओं में व्यवहृत

प्रतीकों की डिकोड न कर पाने की असमर्थता का विनम्र स्वीकार तो कहीं कहानी बयां करने के दौरान खुद को दुरुस्त करने की कवायद बतौर कहानीकार तरुण की विषयगत ईमानदारी को दर्शाता है। यह कहानी उस समय की है जब 'जंगल के भीतर और जंगल के बाहर पूरे दस हजार सालों का अंतर था।' 'तब जंगल के भीतर पता नहीं सौंदर्य की कोई चेतना थी भी या नहीं। ...पता नहीं भाई की पत्नी के लिए तब क्या संबोधन रहा होगा। तब न पत्नियाँ होतीं थी न भाभियाँ। तब वे औरतें थीं, सिर्फ औरतें।' ऐसे में जब कोई जंगल का आदमी बाहर आ गया और बाहर की दुनिया जंगल में दाखिल हो गई तो कैसी स्थितियाँ पैदा हुईं? कहानियों की अब तक की कड़ियों में यह मंजर दरपेश हुए हैं। जो इस बात की तस्दीक करते हैं कि कैसे शताब्दियों का झूठ सच बनता गया और कैसे उनका सच एक आदिम गप्प में बदल गया। आदिम किस्सों को तरतीब देते हुए उसके संदर्भों को व्याख्यायित करने की यह पूरी कोशिश इतनी दिलचस्प और बहसतलब है कि मैं इन सबको एकमुश्त पढ़ने के लिए बेसब्र हूँ।

इन सब कहानियों से इतर मनोज पांडेय की 'पैर' एक बिलकुल अलग 'लेबल' की कहानी है। असामान्य मनोविज्ञान की यह कहानी 'साहस के अभाव' का शिकार हो गई है। साहस के अभाव में यह कहानी संज्ञा के बजाय सर्वनाम और विशेषण के धरातल पर संचरण करती है। सर्वनाम और विशेषणों की अधिकता के कारण इसमें एक किस्म के अमूर्तन की अधिकता व्याप गई है। यह अमूर्तन इस कहानी की संप्रेषणीयता के धरातल पर कठिनाइयाँ खड़ी करता है। चूंकि मनोज पांडेय की कहानियों की जमीन बहुत ठोस रहती आई है तो पहली दफा इस किस्म के दलदली जमीन पर उनके पाँव ठीक से जमे नहीं हैं। एक खास ऐन्द्रियजन्य आवेग के 'ट्रिगर प्वाइंट' के बतौर वे जिस अंग विशेष (पैर) की प्रस्तावना करते हैं, वह सामान्यत: सबके हिस्से का सत्य नहीं है। यह जो अनुभूति की निजता है, वह इतना एकांतिक है कि उसका सामान्यीकरण सहजता से संभव नहीं है। और संभवत: इन्हीं कारणों से कहानी 'कनेक्ट' नहीं कर पाती है। इसकी तुलना में पाकीजा में मीना कुमारी के 'पैरों' पर कहे गये राजकुमार के दो-ढाई वाक्य उस भाव को ज्यादा नफासत से व्यक्त कर सके हैं।

आशुतोष की 'अगिन असनान' अपने शीर्षक से पहले-पहल तो चौंकाती है। पर कहानी से गुजरते हुए उसका अर्थ जल्द ही खुल जाता है। कहानी के तीन हिस्से हैं। आदि, मध्य और अवसान। कहानी की शुरुआत में जहाँ कहानी की भूमिका बांधी जा रही है, वह मामला थोड़ा खींच गया है। बहावलपुर और अगिन असनान की पृष्ठभूमि बुनने में मामला थोड़ा 'पिपली लाइव' सरीखा हो जाता है। देश-काल को प्रामाणिकता से सिरजने के लोभ में कहानी की शुरुआत थोड़ा ज्यादा फुटेज खा जाती है। ब्यौरों से परिवेश को जरूर प्रामाणिक बनाया जा सकता है, पर ब्यौरों की भी एक सीमा होती है। ब्यौरे गर अपने विस्तार में कहानी की संरचना को ही कमजोर करने लगे तो उसे फिर से देखने की जरूरत बनती है। अगर कहानी की इस शुरुआती लड़खड़ाहट को नजरंदाज कर दें तो कहानी का उठान शानदार है। यह उठान ही है जो उसकी पृष्ठभूमि को थोड़ा न्यायसंगत ठहराता दिखता है। क्योंकि इस उठान में ही कहानी 'यू टर्न' लेती है, और कहानी के भीतर एक नई कहानी दिखती है। कहानी की यह पलटी पाठकों को अपने गिरफ्त में लेती है। कहानी में जब कहानी के दो 'वर्जन' उपलब्ध हो जाते हैं, तो सवाल उठता है कि वास्तव में हुआ क्या था? यहाँ आशुतोष कहानी में उस टोटके को लेकर आते हैं, जो इसका उत्तर आधुनिक पहलु है। अर्थात् आधिकारिक सत्य की जगह सापेक्षिक सत्य की प्रस्तावना वे करते हैं। हांलाकि यह स्पष्ट है कि हुआ क्या है। पर कहानी में उसकी आधिकारिक पुष्टि करने की बजाय वह सत्य की संदिग्धता को सामने रखते हैं। इस कहानी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हिस्सा इसका अवसान है। जहाँ आशुतोष अपनी पिछली लेखनी से अर्जित ख्याति के साथ न्याय करते हैं। वे जिस 'नोट' पर कहानी खत्म करते हैं, वह हमारे समय की एक भयावह विडम्बना को उजागर करती है। कायदे से उसका पूरी कहानी से सीधे कोई लेना-देना नहीं है। पर जिस कदर वे 'विक्टिम' बन जाते हैं। वह एक साथ 'अंधेर नगरी' और 'महाभोज' की याद दिलाते हैं। कहानी के मुहाने से उसके उद्गम को अनुमान कर पाना नामुमकिन है। और कहानी में अनुस्यूत यह अप्रत्याशित मोड़ कहानी को विचारणीय बनाते हैं। कहानी के कई पहलू हैं और इसके कई तरह के पाठ किये जा सकते हैं। इलेक्ट्रानिक और प्रिंट मीडिया को लेकर कहानी में बिखरे संकेतों से मीडिया की भूमिका पर बात की जा सकती है। भारतीय न्याय व्यवस्था और उसकी प्रक्रिया पर बात की जा सकती है। लोक-आस्था और अंधविश्वास के बरक्स बात की जा सकती है। और यह सब गांधी के देश में घटित हो रहा है, इस पर भी बात की जा सकती है। कहानी का एक मजबूत स्त्री पक्ष भी है, बात उस दिशा में भी की जा सकती है। पर यहाँ इसके सारे तन्तुओं को

खोलने का अवकाश नहीं है। इसलिए संकेत-सूत्र भर छोड़ रहा हूँ।

और अंत में जिस कहानी की बात करने जा रहा हूँ वह इस अंक की ही नहीं, बल्कि इधर हाल के वर्षों में आई उल्लेखनीय कहानियों में शामिल होने की क्षमता रखती है। कहानी के किसी भी पहलू से विचार करें तो यह एक ऐसी बेदाग कहानी है, जिस पर एकबारगी इसलिए भी यकीन कर पाना मुश्किल हो जाता है कि इससे पहले राकेश दुबे के पहले कहानी संग्रह में संकलित किसी भी कहानी में यह बेदागपना अनुपस्थित है। राकेश दुबे की इस शानदार कहानी का शीर्षक है- 'कौने खोतवा में लुकइलू ए बालम चिरई'। इस कहानी को पढ़ते हुए हिन्दी की जिस एक कहानी की याद आपको बेतरह आ सकती है, वह हिन्दी की अमर कहानियों में से एक, 'उसने कहा था' है। इस संग्रह में 'कफन' को फिर से लिखने की कोशिश पंकज मित्र ने की है। राकेश दुबे की यह कहानी एक अर्थ में बिना किसी ऐसे आग्रह के 'उसने कहा था' के मर्म को कहानी के धरातल पर फिर से उतार लाती है। कहना न होगा कि इस कहानी में इस दौर का 'उसने कहा था' होने की पूरी संभावना है। गजब की प्रेम कहानी रच डाली है, राकेश दुबे ने। एक कहानी जो सम्पूर्ण है। एक कहानी जो कहीं भी एक लम्हें के लिए ढीली नहीं पड़ती है। कहानी जहाँ से आरंभ होती है और जहाँ पर्यवसित होती है, उसके बीच आनेवाली करवटों और अंगड़ाइयों से कहानी न सिर्फ चौंकाती है, बल्कि बांधे रखती है। घटनायें कथानक की दिशा तय करते हैं और चरित्र उन घटनाओं के आलोक में प्रकाशित होते हैं। कहानी अपनी कोख में मार्मिकता के इतने क्षण संजोये है कि एक के बाद एक जब वे नियमित अंतराल पर आना शुरू होते हैं तो उसका संयोजन आपको किस्सागोई के एक नये धरातल पर ले जाता है। बहुत कम कहानियाँ होती हैं, जिनको पढ़ कर भी उतना ही सुखी हुआ जा सकता है, जितना सुन कर। यह उन खुशनसीब कहानियों में से है, जिसे पढ़-सुन कर हम भी खुशकिस्मत हो सकते हैं। वंशी काका को कोई छू ले तो उनकी निरीहता दयनीयता की सीमा को छूने लगती है। उनकी यह निरीहता जो मनोरोग-सा प्रतीत होती है, जब उसकी परतें खुलती हैं, तो मन थोड़ा नम हो जाता है। उनकी गायकी के जलवे को राकेश दुबे केवल एक टूल्स के तौर पर नहीं आजमाते हैं। उनके व्यक्तित्व के उस खासियत को वे अंत तक थामे रहते हैं। इससे एक ओर तो वंशी काका के चरित्र की विश्वसनीयता अखंड बनी रहती है, वहीं कहानी में यह गायकी, कहानी के मर्म को भी संप्रेषित करने में एक केन्द्रीयता अर्जित करता चलता है। वंशी काका और सोना के मध्य भरी सभा में जो 'नयनों का नयनों से गोपन प्रिय संभाषण' है, उसकी खूबसूरती को कहानी पढ़ कर ही महसूसा जा सकता है। स्पर्श की एक संक्षिप्त-सी स्मृति को जीवन की लेई पूंजी मान लेने का जो निष्पापना है और उसकी पवित्रता का निर्वाह जिस कदर कहानी में हैं, वह विलक्षण है।

कहानी जहाँ खुलती है और जहाँ खत्म होती है, उनके बीच वह जिन पड़ावों से होकर गुजरती है, उसमें पूरा जीवन गुजरता है, व्यक्ति की पूरी आयु गुजरती है, कहानी स्मृति, आकांक्षा, स्वप्न, प्रतीक्षा के फेर में पड़ कर नष्ट हो सकती थी। पर कहानी बिलकुल जमीन पर चलती है। और जहाँ खत्म होती है, उस एक क्षण में पूरी कहानी मौजूद होती है। मानो पूरी कहानी उस क्षण में तर्पण के लिए मौजूद हो। आमतौर पर हमारे मानस में सत्यवान को बचाने के लिए सावित्री की कटिबद्धता की कहानी सुरक्षित है। यह उसके उलट सावित्री को बचाने के लिए सत्यवान की प्रतिबद्धता की कहानी है। उस क्षण में वंशी काका की निरीहता देखने लायक है, पर वे दयनीय नहीं रह गये हैं। यह राकेश दुबे की हतप्रभ करनेवाली परिपक्वता है जो आखिरी क्षणों में कहानी को इस कदर निभा ले गई है कि जिसकी जितनी तारीफ की जाये वह कम है। उन्होंने कसक को शब्दों में बिखरने नहीं दिया है। कहानी के अंत में एक वाक्य है 'दो और भी आंखें थीं, जिनमें पानी छलछला रहा था, लेकिन उनमें किसी की नजर नहीं पड़ी थी।' इस वाक्य की संगति उससे दो पन्ने पहले आये एक वाक्य से बैठती है। जहाँ मरीज की नब्ज को छूकर वे मुस्कराये थे और उस पर भी किसी की नजर नहीं पड़ी थी। एक प्रेम जो भरे समाज के बीच अंकुरित हुआ, उसी प्रेम का अवसान उसी भरे समाज के बीच हुआ। इस पूरे क्रिया व्यापार के बीच उस समाज के मध्य प्रेम की निजता बची रह गई। सब इतने कलात्मक रचाव और शालीनता के साथ कहानी में घटित होता है कि बस आँखें बंद कर के इस कहानी को अपने भीतर जिया ही जा सकता है। ऐसी कहानियाँ रोज-रोज नहीं लिखी जाती हैं और उन कहानियों को बाकी दुनिया से पहले पढ़ सकने का जो सुख है। फिलहाल उसी सुख में डूबते-उतरते रहना चाहता हूँ।

ए.एस.महाविद्यालय,
देवघर झारखंड, पिन-814112
मो. - 09308990184